# बाल मुकुन्द गुप्त

## एक मूल्यांकन


सम्पादक

कल्याणमल लोढ़ा विष्णुकान्त शास्त्री



प्रकाशक

बा० बालमुकुन्द गुप्त जन्मशती समारोह समिति

कलकत्ता।

प्रथम संस्करण ११०० प्रतियाँ



मुद्रक :

श्री माणिक बच्छावत

कलकत्ता फाईन आर्ट प्रेस

२० बाल मुकुन्द मक्कर रोड कलकत्ता-७

मूल्य ५ रु ५० पै०



एक मात्र वितरक

अमिताभ प्रकाशन

२० बाल मुकुन्द मक्कर रोड, कलकत्ता-७

फोन ३४ ६६६६

# संयोजकीय

बाबू बालमुकुन्द गुप्त की शतवार्षिकी के पावन पर्व पर उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व का यह आलोचनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए अतीव हर्ष हो रहा है। कारण किसी भी साहित्यकार के लिए यही उचित अर्घ्यदान है। समिति उन सब लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती है जिन्होंने इतने अल्प समय में ही हमें अपने निबन्ध देने का अनुग्रह किया। इसके साथ-साथ श्री अजन्ता फाईन आर्ट प्रेस के संचालक श्री मानिक बच्छावत का भी आभार मानती है जिन्होंने अल्प समय में ही इसका मुद्रण संभव किया।

अन्य समस्त सहयोगियों की शुभाशंसा ही इसकी सफलता का मूल कारण है। अल्प समय में प्रस्तुत करने के कारण इसमें कुछ त्रुटियाँ अवश्यमेव रह गयी हैं जिन्हें पाठक उदार दृष्टि से देखने की कृपा करें।

कलकत्ता गुप्तजी का मानस-क्षेत्र रहा। उनके साहित्यिक अनुपदों द्वारा शत-वार्षिकी के इस पुनीत महोत्सव पर यह पुष्पाञ्जलि सादर सभक्ति उनके श्री चरणों में अर्पित है।

गुप्तजी के कुछ महत्त्वपूर्ण अद्यतन अप्रकाशित लेख भी दिये जा रहे हैं। इनकी प्राप्ति के लिए हम श्री नवलकिशोर गुप्त के विशेष आभारी हैं।

कलकत्ता

विक्रमाब्द २०२२

कल्याणमल लोढ़ा

संयोजक

बाबू बालमुकुन्द गुप्त शतवार्षिकी समारोह समिति

कलकत्ता

# संकलित





## परिशिष्ट

*गुप्तजी के अप्रकाशित निबन्ध*





# बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन

# श्रद्धांजलि

सीताराम सेकसरिया

श्री बालमुकुन्दजी गुप्त का जन्म आज से एक सौ वर्ष पहले हुआ था। इस वर्ष उनका जन्म शताब्दी महोत्सव मनाया जा रहा है। जिस समय गुप्तजी का जन्म हुआ था और उनका लालन-पालन शिक्षण और संस्कार हुए थे वह युग भारत का एक विशेष युग था। उस युग ने हमें हर दिशा में अनेक विशेष पुरुष दिये। इस युग में जो लोग जन्मे जिये और काम कर गये उन महापुरुषों के जन्म-शताब्दी-उत्सव पिछले चार पाँच वर्षों से मनाये जा रहे हैं।

इन बड़े लोगों की अपने-अपने क्षेत्रों में विशेष देन रही है। इन लोगों ने जिस क्षेत्र में भी काम किया उसी क्षेत्र में भारत के गौरव को इतना बढ़ा दिया कि इतना लम्बा समय गुजर जाने पर भी इन महान् पुरुषों की याद बनी हुई है और देश कृतज्ञता के साथ उनका श्राद्ध करता है। उस श्राद्ध के दिन पुण्यवर गुप्तजी के प्रति श्रद्धा प्रकट कर तथा उनके कार्यों को याद कर, समाज नई प्रेरणा प्राप्त कर सके इसके लिए जगह-जगह शताब्दी आयोजन तथा गुप्तजी की साहित्यिक देन पर नाना रूपों पर प्रकाश डाला जा रहा है यह खुशी की बात है।

श्री बालमुकुन्द गुप्त शतवार्षिकी समारोह समिति की ओर से गुप्तजी पर एक आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। गुप्तजी कलकत्ते से भारतमित्र का सम्पादन करते थे। वह समय हिन्दी के लिए प्रयत्न करने का समय था उन दिनों कलकत्ता हिन्दी का विशेष केन्द्र बन गया था। हिन्दी के अनेक साधक *चिन्तक और साहित्यकार उन दिनों कलकत्ते* में थे और बाहर के लोग कलकत्ते की ओर देखा करते थे। आज कलकत्ता उस समय से कम से कम आठ दस गुना बड़ा है और यहाँ हिन्दी भाषी लोगों की संख्या भी हिन्दुस्तान के किसी

एक नगर के हिन्दी भाषियों की संख्या से बहुत अधिक है। इसके अलावा यहां साधन तथा अनेक सुविधाएँ भी दूसरी जगहों से बहुत अधिक हैं। उन दिनों का आज किसी बात से मुकाबला नहीं किया जा सकता जब भारतमित्र को लोगों के घर जाकर एक-एक कर गुनाना पड़ता था बिना पैसे के। पाठकों का ऐसा अभाव साधकों के लिए चुनौती थी और ये हिन्दी के अनन्य सेवक साधक और चिंतक तथा साहित्यकार इस तप में तप रहे थे कि किस प्रकार हिन्दी उन्नत हो फूले-फूले फैले पनपे। गुप्तजी ने उस समय जो तप किया था जिस प्रकार हिन्दी को सँवारा सिंगारा, सजाया और हिन्दी पत्रकारिता की जो सेवा की गहन विषयों को अपनी प्रवाहमय भाषा द्वारा सरल, सहज बनाकर उपस्थित किया वह सदा स्मरणीय है। गुप्तजी की हिन्दी सेवा या हिन्दी पत्रकारिता हिन्दी जगत् में सदा आदरणीय रहेगी। आज एक सौ वर्ष बाद ही नहीं जब कभी हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास पर विचार होगा तब गुप्तजी को आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण करना पड़ेगा। गुप्तजी और उनके साथी उस समय जो कार्य करते थे उससे कलकत्ता हिन्दी जगत् में सम्मान का तथा महत्त्व का स्थान रखता था। आज आदमी तो बहुत हैं साधन भी प्रचुर हैं पर कोई भी तपस्वी नहीं दिखता जो हिन्दी की सेवा करना अपना जीवनोद्देश्य बनाये। मैं मानता हूं कि जिस स्वाधीन देश की अपनी भाषा न हो ऐसी भाषा जिस भाषा को गौरव के साथ अपनी राष्ट्र भाषा कह सके वह देश स्वाधीन देशों की श्रेणी में गिना नहीं जा सकता उसकी स्वाधीनता अधूरी है उसका विकास असम्भव है। पराई भाषा के आश्रय से सोचने और चलने वाला देश स्वाधीन कैसा ? भारत के कोटि-कोटि लोगों का विकास करना है उनको शिक्षित करना है तो वह किसी भी पराई भाषा के द्वारा या उसके आधार पर हो नहीं सकता। करोड़ों लोगों के लिए अपनी भाषा चाहिये। कुछ लोग जिस भाषा को समझ सकें या उससे लाभ उठा सकें ऐसी भाषा ही हमारे लिखे-पढ़े लोगों की भाषा बनी रहे या मानी जाय तो फिर देश ज्ञान के क्षेत्र में कभी विकसित नहीं हो सकता। देश के विकास के लिए तो उसकी अपनी भाषा होगी तभी वह विकासमान होगा। आज गुप्तजी की शतवार्षिकी पर हर आदमी का जो गुप्तजी के प्रति श्रद्धा निवेदन करना चाहता है प्रयत्न होना चाहिये कि जिस भाषा को उन्नत करने के लिए गुप्तजी ने अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ समय, शक्ति और श्रम दिया उसका भार हमारे ऊपर है और उससे तथा ऐसे महापुरुषों की स्वर्गीय आत्मा को श्रद्धा प्रदान करने के लिए

हम प्रण करें कि जिस भाषा की उपासना करने में उन महान्-आत्माओं ने अपने आपको न्यौछावर किया है हम उसको देश की उन्नतिशील और गौरवशील राष्ट्रभाषा बनायेंगे। यही सच्ची श्रद्धा होगी गुप्तजी के प्रति। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह हमें सही मार्ग पर चलने का भारत को विकासशील देश बनाने का बल दे जिससे भारत गौरव के साथ हिन्दी को अपनी राष्ट्रभाषा कहने में समर्थ हो। ऐसी हमारी भाषा हिन्दी है हिन्दी हो सकती है हिन्दी ही होगी। हमारा मानस इसे स्वीकार करे और हिन्दी विकसित हो जिसमें भारत का विकास निहित है। यदि गुप्त जयन्ती से हमें प्रेरणा मिल सके और हम सक्षम होकर हिन्दी को उन्नत रूप दे सकें तो यह हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी गुप्तजी के प्रति।



जन्म १८६५ ई०　　स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त　　मृत्यु १९०७ ई०

हे भारत के भक्त भारती के गायक हे व्रती महान् !
सादर समर्पित श्री चरणों में श्रद्धा-सुमन आज अम्लान ॥

# बाबू बालमुकुन्द गुप्त : जीवन परिचय

डॉ० रामसेवक पाण्डेय

भारतेन्दु युग के अन्यतम लेखक, हिन्दी गद्य के निर्माता तथा उसमें संजीवनी शक्ति का संचार करने वाले बाबू बालमुकुन्द गुप्त अद्भुत प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे। प्रारंभ में उर्दू के लेखक तथा पत्रकार होने के कारण उनकी भाषा में रवानगी मस्ती और तीखी मार करने की अपूर्व क्षमता थी। उनकी भाषा जन जीवन से सम्बद्ध तथा वस्तु-सत्य से सटी हुई होती थी। संस्कृत के अप्रचलित शब्दों से पाठकों को आतंकित करने से उन्होंने सदा अपने को पृथक रखा। उनकी भाषा साफ-सीधी और टकसाली होती थी साथ ही बहुत जोरदार और पैनी-उसमें एक शब्द भी भरती का नहीं होता था।

गुप्त जी राजनीतिक दृष्टि से बहुत प्रबुद्ध तथा जागरूक लेखक थे। उन्नीसवीं सदी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में जब ब्रिटिश साम्राज्य का आतंक सर्वत्र व्याप्त था उस समय भी गुप्तजी ने निर्भीकतापूर्वक अपनी सजीव लेखनी से तत्कालीन भारत की राजनीतिक दासता का यथार्थ की भूमिका पर बड़ी मार्मिकता से चित्रण किया। 'शिव शम्भु के चिट्ठे' गुप्तजी के तीखे व्यंग के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इन चिट्ठों का ऐतिहासिक महत्व है। साथ ही इनका इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि कितने ही लेखक शिवशम्भु बनने के लिये उत्सुक हो उठे।

गुप्तजी सनातन धर्म के अनन्य उपासक होते हुए भी कूपमंडूकता के परम विरोधी थे। प्रगतिशीलता के आवेश में परम्परागत प्रत्येक कार्य मत नियम को चाहे वह कितना ही पुष्ट और युगीन परिस्थितियों के अनुकूल क्यों न हो अस्वीकार करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। अपनी प्रत्येक वस्तु को ठीक

सकने वाली भावना के वे कटु आलोचक थे। भारतीय समाज के अंतर्विरोधों
उद्घाटन करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे।

ुप्तजी अपने समय के उर्दू और हिन्दी के सफल और स्वाभिमानी पत्र
ार थे। पत्रों के व्यवस्थापक उन्हें अपने पत्र में लाने के लिए अवसर की
तीक्षा करते थे। जिस पत्र को गुप्तजी ने हाथ में लिया वह चमक उठा। गुप्त
ी के कारण ही 'भारत मित्र' उस समय का बहुत शक्तिशाली पत्र बन गया
ा। इस पत्र के द्वारा गुप्त जी ने राष्ट्रीय चेतना पैदा की और विदेशी
ावना के उमड़ते प्रभाव को रोका। भारतीय संस्कृति की रक्षा तथा देश और
र्म के प्रति लोगों में अनुराग पैदा करने के लिए अथक प्रयत्न किया। उनके
ंपादन काल में 'भारत मित्र' हिन्दी जगत की एक प्रधान संस्था बन गया
ा। गुप्त जी के कारण कलकत्ता को हिन्दी गद्य के निर्माण में गौरवपूर्ण
्थान प्राप्त हुआ। भाषाविद्, आलोचक, परिहासप्रिय तथा साहित्यिक विचारों
ें रचिसने वाले बाबू बालमुकुन्द गुप्त का संक्षिप्त जीवन परिचय निम्न लिखित
ंक्तियों में प्रस्तुत है।

*जन्म पारिवारिक परिवेश तथा बाल्यकाल*

बालमुकुन्द गुप्त का जन्म हरियाना प्रान्त के अन्तर्गत रोहतक जिले के
गुड़ियानी नामक ग्राम में सन् १८६५ में कार्तिक शुक्ल चतुर्थी को हुआ था।
इस गाँव के निवासी घोड़े के व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे। हरियाना प्रान्त का
गुड़ियाना सम्पन्न ग्राम है जिसे कहा जाता है कि छह सौ वर्ष पूर्व गुड़िया नामक
तोमर राजपूत ने बसाया था। गुप्तजी के जन्म काल में इस गाँव में पठानों
की जिम्मेदारी थी। इस गाँव का सम्बन्ध गजनी से आये हुये तीन भाइयों
मसहूरी, मुश्तेरखाँ और बहादुर खाँ से बताया जाता है। इस समय मुसलमानों
का शासन समाप्त हो गया था पर शिक्षा फारसी उर्दू के माध्यम से दी जाती
थी। यह नवजागरण का युग था। जब अपने प्राचीन आदर्शों को नवीन परिवेश
में प्रतिष्ठित करने की चेतना बलवती हो चुकी थी।

इनका कुटुम्ब गुड़ियानी में जनधीराम वालों के नाम से विख्यात था। इनके
पूर्वज व्यवसायी थे एवं व्यावसायिक सुविधाओं के अनुसार वे स्थान परिवर्तन
किया करते थे। आरंभ में वे रोहतक जिले के 'डीघल' नामक ग्राम में निवास
करते थे एवं ये दीवानिये कहलाते थे। इसके बाद 'झज्जर' में इनके पूर्वजों ने
अपना निवास स्थान बनाया। व्यापारिक सुविधा के लिए इसे भी छोड़कर

कौसली नामक ग्राम में रहने लगे थ। इसी परिवार के लाला बलदीरामने गुड़ियानी में रहना प्रारंभ किया था। इन्हीं के नाम पर 'गुड़ियानी' में गुप्त जी का कुटुम्ब विख्यात है।

गुप्त जी के पिता का नाम लाला पूरनमल और पितामह का नाम लाला मोरधन दास था। गुप्तजी के दो भाई और दो बहनें थी इनमें ये ही ज्येष्ठ थे। गुप्त जी के छोटे भाई लाला मुकराम और रामेश्वर दास 'गुड़ियानी' में निवास करते हुये अपने पैतृक व्यवसाय और साहूकारी लेन देन की व्यवस्था करते थे। गुप्तजी का विवाह संस्कार रेवाड़ी के प्रसिद्ध 'घासूराम वालों' के कुटुम्ब में लाला गंगाप्रसाद जी की पुत्री श्रीमती अनार देवी के साथ सन् १८८० में हुआ था। इस समय इनकी अवस्था पन्द्रह वर्ष की थी। प्रथा के अनुसार किशोरावस्था में विवाह हो जाने पर भी गुप्तजी के बौद्धिक और चारित्रिक विकास में कोई बाधा नहीं पड़ी।

गुप्तजी के तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। पुत्रों में ज्येष्ठ लाला नवलकिशोर गुप्त मँझले लाला मुरारीलाल और कनिष्ठ लाला परमेश्वरी लाल जी हैं। उनके मझले पुत्र लाला मुरारीलाल का स्वर्गवास यौवनावस्था में ही हो गया। स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा के समर्थक और पोषक थे। उन्हींके पुण्य और आशीर्वाद से आज भी यह परिवार सम्मिलित कुटुम्ब में रहकर परस्पर स्नेह और सद्भावना से जीवन-यापन कर रहा है। संप्रति इस परिवार के मुखिया हैं बाबू नवलकिशोर गुप्त। श्री परमेश्वरी लाल तथा बाबू बंसीधर के सहयोगसे कलकत्ता महानगरीमें नं० १८७ महात्मागांधी रोड पर स्थित लाला नवल किशोर एण्ड बंसीधर फर्म पूर्ण सफलता के साथ चल रहा है।

*शिक्षा*

गुप्तजी के लिखे एक निबन्ध से ज्ञात होता है कि इनकी शिक्षा छः वर्ष की अवस्था में प्रारंभ हुई थी। आपने लिखा है "सन् १८७१ के आखिर में प्राइम (मिडल) स्कूल में दाखिल हुआ था। उस वक्त पंजाब में हलकाबन्दी मदरसे नीम मकतबों की शक्ल में थे। उर्दू का कायदा मौजूद न था। कागजों पर अलिफबे लिखकर पढ़ाई जाती थी।'[1] उस समय आज कल के समान वैज्ञानिक

१ गुप्तजी द्वारा लिखित कानपुर के उर्दू मासिक पत्र 'जमाना' जिल्द ८ नं० ६ (जून सन् १९०७) पृ० ३५४।

साधनों से सुसज्जित विश्वविद्यालय नहीं थे। ग्रामीण स्कूल भी सर्वत्र नहीं थे पाठ्य पुस्तकें भी नाम मात्र को ही उपलब्ध थीं। तत्कालीन पठन-पाठन की स्थिति आजकी अपेक्षा कैसी दयनीय थी यह भी इस निबन्ध से स्पष्ट हो जाती है। 'तहसील-उल-तालीम' नामकी एक किताब उर्दू की पहली किताब और उर्दू के कायदे का काम देती थी। उर्दू की पहली दूसरी और तीसरी किताबें छपी जरूर थीं मगर वह सब स्कूलों तक नहीं पहुंच सकी थीं।[1] ऐसी थी उस समय की शैक्षणिक व्यवस्था जिसमें हिन्दी के विशिष्ट लेखक का बौद्धिक विकास हो रहा था। इस उद्धृत अंश से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई थी।

उस समय 'गुड़ियानी' मदरसे के मुंशी बशीर मुहम्मद खाँ साहब प्रधानाध्यापक थे। वे उर्दू फारसी के अच्छे विद्वान थे। प्रारंभसे प्रतिभावान बालक बालमुकुन्द पर उनकी बड़ी कृपा रहती थी। मुंशीजी ने बालक गुप्त के स्वभाव और चारित्रिक विशेषताओं के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं "सगरसिनी (बाल्यावस्था) की हालत में बालमुकुन्द मेरे पास पढ़ने लगा। उसी वक्त से आसारे बुलन्द इकबाली के नुमायां होने लगे। वह तबियत का जकी (चेतनशील) था और उसी वक्त से मोटी लिख, पढ़ाई और सुथराई से काम करता था और तबियत पर रहम और इन्साफ बदर्जे कमाल था। वह तहसील उलूम (विद्योपार्जन) में बहुत बढ़कर था कभी फेल न हुआ पाँच साल में पाँच जमाअत प्रायमरी स्कूल फारसी बतदरीज (उत्तरोत्तर) हासिल की और उम्मीदवार इल्मी ज्यादा पैदा करती। कौमे महाजनान में पहले पहल यही शख्स हुआ जिसने उलूम उर्दू फारसी हासिल करके अपनी कौम में इल्म फैलाया और यहाँ तक कि खिलवाड़के तौर फरीक परली इस फन में सबकत (भवतव्यता) लेगया। मुझे उसकी तहसील उलूमी की हालत पर गौर करने से बड़ा ताज्जुब आता था मुझको कुदरत याद आती थी कि वह खाक परवरदिगार जिसको जो कुछ देना चाहता है जबरदस्ती देता है।

सरकारी तौर से वह लड़का और लड़कों के साथ पढ़ने बैठा। अपनी महाजन कुन्नी और चालाकी से चन्द रोज में इल्मी तरक्की हासिल करने लगा इस वजह से मेरा दिल भी बनिस्बत और लड़कों के उसको तालीम देने पर बहुत मुतवज्जह होता था। यह तरक्की देख कर तीसर फरीक के लोग नाहक उसके साथ हसद (डाह) करते थे और ईसार तानी के साथ मौके ईजा करने व उसके साथ अक्सर लड़के महाजनान दूसरे फरीक की यह चोली

---

1 वही।

बरदाश्त न करके घर बैठ रहा करते थे मैंनिम मह हिम्मतवाला कभी न बैठा। बहुत एहतियात स तहसील उमूम में मसरूफ रहा जिसवक्त आखिर इम्तिहान जमायत पंजुम जो बमुकाम कोसली में हुआ था लाला बलदेव सहाय एसिस्टेंट इन्सपेक्टर मुम्तहिन थे उस खूबी के साथ इम्तिहान में कामयाबी हासिल की, कि मुमको भी शाबाशी दिखाई और खुशनूदिए मिजाज का पर वाना साहिब डिप्टी कमिश्नर बहादुर जिला रोहतक से दिलाया और उसके वालिद को बुलाकर लाला बलदेव सहाय ने समझाया कि उसको तहसील उमूम के लिये आगे भेजो। उसवक्त एसिस्टेंट इन्सपेक्टर साहिब ने फरमाया कि सूबा पंजाब में दस हजार लड़कों का इम्तहान आजतक ले चुका हू कोई लड़का इसकद्र लायक का और जिम्मेदारी का नहीं देखा। मगर आगे तालीम न दिलाओगे तो हम्सफर्की करोगे ?

इस उद्धरण से गुप्तजी के स्वभाव, प्रतिभा तथा अध्यवसाय को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। अपने अन्यमित्रों के समान वे हतोत्साह नहीं हुए बल्कि दूसरों के ईर्ष्या-द्वेष से उन्होंने प्रेरणा प्राप्त की और पूर्ण सहिष्णुता के साथ प्रतिभा का परिचय दिया। इन्हें परीक्षा में उच्चतम स्थान प्राप्त हुआ। उस कस्बे में प्रमुखत दो जातियाँ रहती थी मुसलमान और हिन्दू महाजन। मुसलमान घोड़ों का व्यवसाय तथा नौकरी करते थे और महाजन लोग दुकान दारी करते थे। महाजनों में बालक गुप्त पहला व्यक्ति था जिसने उर्दू फारसी में यह योग्यता प्राप्त की। अपनी कक्षा में ही नहीं बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुप्तजी ने अपने इस गौरवमय स्थान को सुरक्षित रक्खा।

गुप्तजी के पिता पूरनमलजी एसिस्टेन्ट इन्सपेक्टर के मुख से अपने पुत्र की प्रतिभा और कार्यक्षमता की प्रशंसा सुनकर हर्षातिरेक से प्रफुल्लित हो उठे। किसी पिता के लिए इसप्रकार पुत्र की प्रशंसा अभिमान का कारण होती है। व घर आकर बालक गुप्त के भावी-शिक्षण की योजना बनाने लगे। किन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। पूरनमलजी अस्वस्थ हो गए और एक साधारण रोग से ३४ वर्ष की अवस्था में सहसा उनकी मृत्यु हो गई। इस समय बालक बालमुकुन्द की अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी। वे पिता की शीतल-स्निग्ध छाया से वंचित हो गये। गुप्तजी के वृद्ध पितामह लाला गोरधन दास जी अपने पुत्र के अप्रत्याशित निधन से मर्माहत हो उठे। वे वृद्धावस्था में इतने विषम बोझ को नहीं संभाल सके। पुत्र की मृत्यु के बाद एक दिन लाला गोरधन दास जी का जीर्ण शरीर टूट कर गिर पड़ा। बालक गुप्त को चौदह वर्ष की अवस्था में

ही पिता और पितामह के शीतल स्नेह से वंचित होना पड़ा।[1]

पिता और पितामह की मृत्यु से गुप्तजी की उच्चशिक्षा की आशा पर पानी फिर गया। बौद्धिक विकास और साहित्य अध्ययन के स्थान पर पैतृक व्यवसाय को संभालने की चिन्ता करनी पड़ी।

गुप्त जी के पिता अपने भाइयों में सबसे बड़े थे अत: इन्हें भी व्यवसाय सम्बन्धी सभी हिसाब खाते को समझनेकी आवश्यकता पड़ी। लेन-देन तथा बकाया वसूली की व्यवस्था का भार भी बालक गुप्त के ही कन्धे पर आया। इस अपरिचित कार्य-भार से ये तनिक भी विचलित नहीं हुए। बड़े उत्साह तथा तत्परता के साथ इन्होंने पारिवारिक आर्थिक व्यवस्था को अव्यवस्थित होने से बचाया।

परिस्थितियों से विवश होकर इन्हें पिता की मृत्यु के बाद पाँच वर्ष का समय घर पर ही व्यतीत करना पड़ा। इस समय गुप्त जी ने गुड़ियानी के फारसी उर्दू के वातावरण से पूरा पूरा लाभ उठाया। इनके गुरु मुंशी वजीर मुहम्मद खाँ आसिम फाजिल उर्दू फारसी के विख्यात विद्वान थे। इनके सद्भाव और सहयोग से गुप्त जी ने इन भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया। इन पाँच वर्षों में इनके छोटे भाई व्यावसायिक बारीकियों को अच्छी तरह समझने लगे थे। व्यवसाय सम्बन्धी सारा उत्तरदायित्व अपने छोटे भाई को सौंपकर शामा पेन के उद्देश्य से गुप्तजी दिल्ली आये। यहाँ दिल्ली हाई स्कूलके बोर्डिङ्ग हाउस में रहकर अपने अध्यवसाय से थोड़े समय में ही इन्होंने 'मिडिल' की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के प्रमाण स्वरूप एग्जिमिनेशन रजिस्ट्रार पंजाब यूनिवर्सिटी के कार्यालय से इन्हें उर्दू में लिखा हुआ एक कार्ड मिला। इसका रोल नम्बर २८९० था। यह कार्ड २ जुलाई सन् १८८६ को मिला था। इससे यह प्रमाणित होता है कि २१ वर्ष की अवस्था में गुप्त जी ने मिडिल परीक्षा पास की थी। उस समय इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना बड़े सम्मान और गौरव का विषय था। इस समय तक गुप्तजी ने उर्दू में लिखने का अच्छा अभ्यास कर लिया था और इनकी गणना उर्दू के अच्छे लेखकों में होने लगी थी। मुंशी वजीर मुहम्मद खाँ के सम्पर्क से पिता की मृत्युके अनन्तर पाँच वर्ष की अवधिमें इनकी लेखनी पूरी तरह मँज चुकी थी।

इस बीच गुप्तजी की रोहतक जिला के झज्जर निवासी पं० दीनदयालु शर्माजी से मित्रता हो गई थी। शर्माजी उर्दू के लेखकों में प्रसिद्ध हो चुके थे। १८८५

1—बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ पृ० १० ११

में शर्मा जी वृन्दावन धाम पहुँचे और उन्होंने मथुरा से 'मथुरा अखबार' नामक मासिक पत्र निकाला। पं० दीनदयालुजी इस पत्र के सर्वेसर्वा अर्थात् व्यवस्थापक सम्पादक तथा प्रकाशक सब कुछ थे। गुप्त जी अपने ग्राम गुड़ियानी से ही 'मथुरा अखबार' में नियमित रूप से लिखकर पण्डित दीनदयालु शर्मा की सहायता करते थे।

सन् १८८६ई०में गुप्तजी के जीवन में नया मोड़ आया। वे शर्माजी के परामर्श से 'अखबारे चुनार' के सम्पादक बनकर चुनार गये। इस प्रकार उर्दू की दुनिया में पत्रकार के रूप में गुप्तजी ने सक्रिय रूपसे सन् १८८६ ई० में प्रवेश किया। चुनार रहकर गुप्तजी को अपनी प्रतिभा सम्पादनकला तथा भाषा को विकसित और परिष्कृत करने का स्वर्ण-सुयोग प्राप्त हुआ। स्वल्पकाल म ही अखबारे चुनार' संयुक्त प्रान्त का सर्वश्रेष्ठ अखबार घोषित हुआ। गुप्त जी की सम्पादन कला की ख्याति चारों ओर फैल गयी। व्यवस्थापक इनकी सम्पादन कला की निपुणता से इस प्रकार अभिभूत हुए कि 'गुप्तजी को अपने अपने पत्रमें लाने के लिए उनमें होड़-सी मच गयी। उस समय पं०दीनदयालुजी लाहौर के उर्दू पत्र 'कोहेनूर' का सम्पादन भार ग्रहण कर चुके थे।
पं० दीनदयालु शर्मा हिन्दू धर्म के प्रबल समर्थक थे। सनातन धर्म की रक्षा के अभिप्राय से हिन्दुओं को सगठित करने के लिये सन् १८८७ में इन्होंने हरिद्वार में एक बृहत सभा आयोजित की। इस सभा में विभिन्न पत्रों के सम्पादक व्यवस्थापक तथा अन्य विख्यात व्यक्ति एकत्रित हुए थे। अखबारे चुनार के सम्पादक बाल मुकुन्द गुप्त भी इस सभा में सम्मिलित हुए थे। शर्माजी इस सभा के संयोजक थे तथा उनके प्रयत्न से 'भारत धर्म-महामण्डल' की स्थापना हुई।

लाहौर के मुंशी हरसुख राय इस सम्मेलन में गुप्त जी से मिलकर बहुत प्रभा वित हुए। उन्होंने प्रयत्न किया कि गुप्त जी किसी प्रकार 'कोहनूर' साप्ताहिक का सम्पादन कार्य स्वीकार कर लें। मुंशी जी ने गुप्तजी पर दबाव डालने के लिये पं० दीनदयालु शर्मा को विवश किया। शर्मा जी के अनुरोध को टालना गुप्त जी के लिए असंभवप्राय था। परिणामस्वरूप गुप्त जी ने 'कोहेनूर' का सम्पादक पद स्वीकार कर लिया। सन् १८८८ स सन् ८९ तक गुप्त जी ने 'कोहेनूर' का सम्पादन किया। इनके सम्पादन काल में पत्र को आशातीत सफलता मिली। साप्ताहिक से यह पत्र सप्ताह में दो बार निकलने लगा कुछ समय के पश्चात ही सप्ताह में तीन बार निकलना आरम्भ हुआ। गुप्तजी के

सम्पादन काल में ही यह पत्र दैनिक हो गया। इन तीन चार वर्षों के सम्पादन काल में गुप्तजी का व्यक्तित्व एक सुप्रसिद्ध सम्पादक और लेखक के रूप में पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। वे उर्दू में गद्य और पद्य समान कुशलता के साथ लिखते थे। उनकी रचनायें 'गुलदस्ता' नामक पत्रों में प्रकाशित होती थीं। 'गुलदस्ता' नामक पत्रों को लखनऊ के निसार हुसेन और कन्नौज के रहीम खाँ इधर बैठते थे प्रकाशित करते थे। ये मासिक पत्र पद्यात्मक होते थे। उर्दू की पद्य रचना में गुप्त जी उर्दू के हास्यरस के नामी शायर मिर्जा सितमजरीफ को अपना उस्ताद मानते थे। गुप्तजी का उपनाम 'शाद' था जिसका अर्थ आनन्द होता है। गुप्त जी आनन्दवादी थे।

'भारत-प्रताप' नामक उर्दू के मासिक पत्र से गुप्त जी का संबन्ध था। इस पत्र में सनातन धर्म सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते थे। 'अवधपंच' में भी उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। गुप्त जी के निबन्ध बड़ी उत्सुकता से पढ़े जाते थे इनके पाठकों की संख्या बड़ी तीव्र गति से बढ़ रही थी। सन् १८८६ से लेकर ८९ तक तीन वर्षों तक गुप्त जी ने उर्दू पत्रों का सम्पादन किया। जिन पत्रों को इन्होंने स्पर्श किया था वे इनकी सम्पादन कला की निपुणता तथा गहरी और पैनी सूझ से चमक उठे थे।

### *हिन्दी पत्रकारिता की ओर*

गुप्त जी का सम्बन्ध कालाकांकर' के दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' से उसी समय स्थापित हो गया था जब वे 'अखबारे चुनार' का सम्पादन कार्य छोड़ कर अपने गांव 'गुड़ियानी' चले गये थे। इन्होंने १९-८७ को 'हिन्दोस्थान' कार्यालय कालाकांकर के नाम एक पत्र लिखा था जिसमें उक्त पत्र की दैनिक प्रति प्राप्त कर गुप्त जी ने स्थानीय संवाद 'हिन्दोस्थान' में भेजने का वचन दिया था। इस प्रकार संवाददाता के रूप में इन्होंने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया।

हिन्दी के अध्ययन के विषय में ६ ४ १९०१ के 'भारतमित्र' में प्रकाशित 'हिन्दी की उन्नति' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है—"मैंने मिडिल क्लास में हिन्दी पढ़ी थी और हमारी हिन्दी-विद्या मिडिल क्लास तक पढ़ने में पूरी हो जाती थी। आगे और किताब नहीं थी पढ़ कर विद्या पढ़ावें। उस समय तक हिन्दी गद्य की यही स्थिति थी। बाबू हरिश्चन्द्र की मृत्यु के प्राय दो वर्ष बाद गुप्त जी विशेष रूप से हिन्दी की ओर ध्यान देने लगे। तब गुप्त जी का

नागरी हिन्दी से सांस्कृतिक संबन्ध तो 'रामायण' तथा 'सूर सागर' के पाठ से बचपन से ही था।

सन् १८८९ के प्रारम्भ में वृन्दावन में होने वाले भारत धर्म महामंडल के द्वितीय अधिवेशन में गुप्त जी 'कोहेनूर' सम्पादक के रूप में तथा महामना पं० मदनमोहन मालवीय 'हिन्दोस्थान' सम्पादक के रूप में सम्मिलित हुए थे। 'हिन्दोस्थान' हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र था। व्याख्यानवाचस्पति पं० दीन दयालु शर्मा ने गुप्त जी को महामना से मिलाया। मालवीय जी की सूक्ष्म दृष्टि ने गुप्त जी की प्रतिभा तथा कार्य-क्षमता को समझा और वे अपने साथ उन्हें कालाकांकर लेते गये।

सन् १८८९ के अन्तिम दिनों में गुप्त जी 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग में सम्मिलित हुए। यहीं से हिन्दी पत्रकारिता का अध्याय गुप्तजी के जीवन में जुड़ता है।

पूज्य मालवीयजी से सम्बद्ध होने के कारण इस पत्र को उस समय देश के सभी प्रतिष्ठित विद्वानोंका सहयोग प्राप्त था। भारतेन्दु के अनन्य भक्त पं० प्रताप नारायण मिश्र भी सम्पादक मंडल में थे। इसी समय 'ब्रजभाषा' और खड़ी बोली के प्रश्न को लेकर 'हिन्दोस्थान' में खूब वाद-विवाद चला था। गुप्त जी ने भी इस विवाद में भाग लिया था। उन्हें खड़ी बोली नाम पर आपत्ति थी।

सम्पादक की जगह 'हिन्दोस्थान' में मालवीय जी का नाम छपता था और जितने लोग सम्पादकीय विभाग में थे वे सभी सहायक सम्पादक की श्रेणी में थे। मालवीय जी वकालत परीक्षा की तैयारी में लग गये इसलिये पत्र से उन्होंने अवकाश ले लिया। इसके बाद राजा रामपाल सिंह ने सम्पादक का पद अपने लिये सुरक्षित रखा तथा सहायक सम्पादक राजा साहब की सहायक कमिटी के रूप में काम करने लगे। उस समिति के मन्त्रिया थे बाबू बालमुकुन्द गुप्त।

गुप्तजी स्वास्थ्य सुधारने की दृष्टि से सन् १८९१ के आरम्भ में कुछ समय के लिये घर चले गये थे। उन्हें जनवरी की अन्तिम तिथि तक कालाकांकर लौट आना था पर किसी कारणवश वे नहीं आसके। राजा साहब गुप्तजी के स्वतन्त्र राजनैतिक विचारों से परिचित थे ही अतः पहली फरवरी सन् १८९१ ई० को उन्होंने यह आज्ञापत्र प्रचारित कर दिया—"गुप्तजी को आज आना चाहिये था। सो आप नियत समय पर नहीं आये इसलिये हमारे चले जाने पर ( राजा साहब विलायत जा रहे थे ) उनका लेख आप लोग न छापा कारण गवर्नमेंट के विरुद्ध बहुत कड़ा लिखते हैं अतएव इस स्थान

के योग्य नहीं है।[1] इस आदेश के अनुसार गुप्तजी को उक्त पत्र से पृथक होना पड़ा। यह प्रथम अवसर था जब एक स्वतंत्र विचारक तथा देशभक्त सम्पादक को किसी पत्र से हटना पड़ा था।

जब तक मालवीयजी इस पत्र के सम्पादक थे तब तक राजनीतिक विषयों के प्रकाशन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उनके पत्र से पृथक होते ही नीति में आमूल परिवर्तन हुआ। जिस पत्र में मालवीयजी के सम्पादन-काल में पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'बैकला स्वागत' जिसमें देश की तत्कालीन स्थिति का वास्तविक चित्रण है, प्रकाशित हुआ था उस पत्र की नीति सहसा परिवर्तित हो गई और गुप्तजी को उक्त पत्र से पृथक होना पड़ा।

हिन्दोस्थान से पृथक होने पर गुप्तजी का ध्यान अंग्रेजी के अध्ययन की ओर गया। अवतक के अनुभव से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि उच्चकोटि के सम्पादक के लिये अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। उनके गांव गुड़ियानी में अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करने की कोई व्यवस्था संभव नहीं थी अतः उन्होंने बाहरी मित्रों से सहायता ली। पं० श्रीधर पाठक पत्रों द्वारा अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण तथा प्रयोग लिखकर उन्हें भेजते थे। गुप्तजी ने महामना मालवीयजी से भी पत्र द्वारा सहायता के लिये अनुरोध किया था पर मालवीयजी उस समय वकालत की तैयारी में व्यस्त होने के कारण सहायक नहीं हो सके। पत्रों द्वारा अंग्रेजी-ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देने वालों में पं० शीतलाप्रसाद उपाध्याय तथा अमृतबाजार पत्रिका के सम्पादक बाबू मोतीलाल घोष के नाम उल्लेखनीय हैं।[2]

घर पर रहते हुए गुप्तजी ने अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया था तथा उर्दू पत्रों के लिये पर्याप्त मात्रा में निबन्ध और कविताएँ लिखी थीं। 'भारत प्रताप' का सम्पादन भी घर पर रहते हुए उन्होंने किया था। इस समय गुप्तजी के घर पर "बंगवासी" 'हिन्दी बंगवासी' लखनऊ से प्रकाशित उर्दू पत्र 'हिन्दुस्तानी' 'जन्मभूमि' और कलकत्ता से सोम द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी महाभारत' आदि पत्र पहुंचते थे और वे उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ते थे।

सन् १८९२ में हिन्दी बंगवासी में 'मडेलभगिनी अथवा उपन्यास का चिट्ठा वाला'[1] नामक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा था। उक्त पत्र के व्यवस्थापक और संपादक श्री अमृतलाल चक्रवर्ती थे और वे ही अनुवादक भी थे। हिन्दी

१ गुप्तस्मारक ग्रन्थ—पृ० ३३

२ श्रीधर पाठक के तीन पत्र तथा मालवीयजी का पत्र नवलकिशोर गुप्त के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

अनुवादकी भाषा दोषपूर्ण तथा मूल भावों से कटी हुई थी। इस तथ्य के साथ और भी दूसरी कमियों की ओर सम्पादक का ध्यान गुप्तजी ने पत्र लिखकर आकृष्ट किया। उक्त पत्र की दो पंक्तियाँ इस प्रकार थीं— 'साहित्यकी मर्यादा बिगाड़ने वाला यह कौन मनुष्य है जो 'मडेलभगिनी उपन्यास की मिट्टी खराब कर रहा है।'[1] इसी विषय से सम्बद्ध एक दूसरा पत्र उन्होंने अपने मित्र पं० भुवनेश्वर मिश्र को भी लिखा जो हिन्दी बंगवासी में काम करते थे। इन दोनों की प्रतिक्रिया यह हुई कि हिन्दी बंगवासी में गुप्तजी को बुलाने के लिये श्री अमृतलाल चक्रवर्ती तथा पं० भुवनेश्वर मिश्र ने सम्मिलित प्रयास प्रारम्भ किया। कई महीनों के परस्पर पत्र-व्यवहार के फलस्वरूप सन् १८९३ ई० में गुप्तजी ने सहायक सम्पादक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। पाँच वर्षों तक इस कार्य को इन्होंने बड़ी कुशलता से सँभाला। इस समय तक गुप्तजी ने हिन्दी पत्रकारिता में प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी और एक कुशल सम्पादक के रूप में उनकी गणना होने लगी थी।

इसी बीच गुप्तजी के परमप्रिय आदरणीय मित्र पं० दीनदयाल शर्मा के सनातनधर्म पर कलकत्ता में विद्वतापूर्ण भाषण हो रहे थे। शर्माजी सनातनधर्म के प्रबल समर्थक तथा प्रभावशाली व्याख्याता थे। धार्मिक उत्साह में एक दिन पन्द्रह हजार रुपये की अच्छी रकम भी चन्दे में इकट्ठी की गई। इस धन राशि को लेकर 'बंगवासी' ने शर्माजी की कटु आलोचना आरम्भ कर दी क्योंकि इस धन का उपयोग वह अपने अनुकूल करना चाहता था। गुप्तजी के मित्र पं० दीनदयालु शर्मा की निन्दा असह्य थी अतः 'हिन्दी बंगवासी' से समाविष्ट विरोध की आशंका में उन्होंने अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। 'हिन्दोस्थान' में राष्ट्र प्रेम के कारण उन्हें पृथक् होना पड़ा था तथा 'हिन्दी बंगवासी' से मित्र के प्रति कर्तव्य तथा स्वाभिमान की रक्षा के लिए उन्होंने सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया और शर्माजी के साथ ही अपने गाँव गुड़ियानी चले गये।

कलकत्ते के जीवन में यहाँ के वृद्ध तथा ख्यातिलब्ध साहित्यकारों से गुप्तजीका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। इनके व्यक्तित्व की गरिमा तथा पत्रकारिता की निपुणता से सभी प्रभावित थे। 'हिन्दी बंगवासी' से सम्बन्ध विच्छेद होते ही 'भारतमित्र' के तत्कालीन मालिक बाबू जगन्नाथ दासजी न जो बड़े दूरदर्शी थे तथा जिन्होंने यह भी समझ लिया था कि गुप्तजी

1 गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृ० २७५
2 वही ५ ८२

के सम्पादन से उनके पत्र की प्रतिष्ठा बढ़ जायगी इन्हें अपने पत्र में आने के लिये आमंत्रित किया। वे किसी मूल्य पर अपने पत्र में गुप्तजी को लाना चाहते थे। इसलिये उन्होंने गुप्तजी से 'भारतमित्र' के संचालन का भार संभालने का अनुरोध किया। गुड़ियानी जाने के पहले उन्होंने गुप्तजी से एक प्रकार वचन भी ले लिया था। गुप्तजी को घर पर रहते हुए अभी एक महीना भी नहीं बीता था कि कलकत्ते से जगन्नाथ दासजी का तार उन्हें २४ दिसम्बर १८९८ को मिला। तार इस प्रकार था कृपया १०वीं के पहले यहाँ निश्चित रूप से पहुँचिये उत्तर दीजिये'। वचनबद्ध होने के कारण गुप्तजी इस तार की उपेक्षा नहीं कर सके। १० जनवरी सन् १८९९ को उन्होंने कलकत्ते के लिये प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने प्रारम्भिक शिष्टाचार और व्यवस्था के बाद 'भारतमित्र' का सम्पादन अपने हाथ में लिया। १६ जनवरी सन् १८९९ की पहली प्रति गुप्तजी के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुई। लगभग ८ आठ वर्षों तक निरंतर इन्होंने भारतमित्र का सम्पादन किया।

गुप्तजी ने सन् १८८६ में उर्दू के श्रेष्ठ पत्र 'अखबारे' चुनार के सम्पादन से पत्रकारिता-जगत में प्रवेश किया था और इस बनाव सूत्र का अन्त उस समय के हिन्दी के उत्कृष्ट दैनिक 'भारतमित्र' के सम्पादन तक चलता रहा। कलकत्ते के अस्वास्थ्यकर वातावरण तथा अत्यधिक मानसिक श्रम के कारण इनका स्वास्थ्य गिरने लगा था। इन्होंने निरन्तर आठ वर्षों तक पत्र की व्यवस्था तथा सम्पादन का भार सम्भाला तथा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने के लिये अत्यधिक प्रयत्न किया। श्रम की अधिकता के कारण सर्वप्रथम पाचन शक्ति क्षीण हुई उसके बाद कब्ज तथा बवासीर के कारण गुप्तजी का हृष्ट पुष्ट शरीर सदा के लिये निर्बल तथा रोगग्रस्त हो गया।

गुप्तजी के गिरते स्वास्थ्य का पता जब पं. दीनदयालु शर्मा को लगा तो उन्होंने शिमला से एक पत्र लिखा जिसमें शर्माजी ने इन्हें अपने स्वास्थ्य पर ध्यान देने की सलाह दी। इस पत्र के एक एक अक्षर से अपनापन का भाव तथा गहरी समवेदना व्यक्त होती है—"आप अस्वास्थ्यचित्त था इस वास्ते जवाब नहीं लिखा। आज भगवान के जन्मोत्सव की बधाई देता हूँ। मेरे जीवन में यह ४४वीं जन्माष्टमी है। सब गुण हैं केवल आज आपके शरीर का ही दिन है। उसी के लिये इस जन्म के उत्सव में उनसे आपकी तन्दुरुस्ती के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। यह मेरा ही मनीषा भगवान से आपके वास्ते

गिड़गिड़ाते बीत गया तो क्या वह हमारी न सुनेंगे। इलाज में सुस्ती और लापरवाही न कीजिये। कंजूसी छोड़कर इलाज कीजिये ।[1]

शर्माजी का उपर्युक्त पत्र पाकर गुप्तजी जलवायु परिवर्तन के लिये कलकत्ता के पासही वैद्यनाथ जाने को उद्यत हुए। गुप्तजी का स्वास्थ्य दिनोदिन गिरता जा रहा था। इस समय की शारीरिक स्थिति का वर्णन स्वयं उन्होंने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा है। २ अगस्त सन् १९०७ मंगलवार खाट पर पड़े-पड़े दिन जाता है भूख है न प्यास है न दस्त ही होता है। दिन भर पानी पड़ता रहा। तेज हवा चलती रही। किवाड़ बन्द रखने पड़ते हैं। न कुछ रुचता है न कुछ पचता है      आज बहुत दिन पीछे डायरी के हाथ लगाया। सबेरे तबियत खराब थी। दोपहर कुछ अच्छी।

२ सितम्बर सोमवार को जब वैद्यनाथ जाने की तैयारी हो रही थी। उस समय की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—"आज वैद्यनाथ आबहवा बदलने को जाने की तैयारी है। असबाब बाला और छेदी मिश्र बाँध रहे हैं। सब लोगों को उनका कर्तव्य समझा दिया। खाना बहुत ही थोड़ी होने पर भी तबियत पर कुछ फुरती है' ।[2]

४ सितम्बर मंगलवार को वे वैद्यनाथ पहुंचे। वहां स्टेशन पर पहुँचते ही थोड़ी वर्षा होने लगी। बड़े श्रम के साथ वे धर्मशाला तक पहुंच सके। धर्मशाला के जिस कक्ष में उनके रहने की व्यवस्था हुई थी उसमें वैद्यनाथ केडिया आने वाले थे। कठिनाई के साथ वहां रहने की व्यवस्था हुई। उनकी डायरी के पृष्ठों को देखने से यह ज्ञात होता है कि डायरी लिखने का कार्यक्रम ६ सितम्बर तक ही चल सका था।

स्वास्थ्य लाभ के विचार से गुप्तजी एक महीने के लिये वैद्यनाथ गये थे पर स्वास्थ्य सुधार में कोई लाभ होते न देखकर उन्होंने अपने घर गुड़ियानी जाने का विचार किया। उन्होंने वैद्यनाथ से ११ १ ०७ को नवलकिशोर गुप्त के नाम एक कार्ड लिखा जिसमें यह लिखा था—"हम दो बजे रात को तुम पहुँचोगे मैं दफ्तर प्लेटफार्म पर मिलूंगा। जहाँ तक बनेगा यही इन्तजाम रहेगा। कुछ गड़बड़ हुई तो पन्नू लिखना उतर पड़ना। और क्या लिखूँ अशीम बालमुकुन्दगुप्त। ।[3]

१ बाल मुकुन्द स्मारक पृ० १०२
२ वही पृ० १०३
३ „ १०५

निश्चित कार्यक्रम के अनुसार बाबू नवलकिशोरजी रात को दो बजे बैजनाथ स्टेशन पर पहुँचे। दिल्ली जाने के अभिप्राय से गुप्तजी स्टेशन पर गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

'जमाना' के सम्पादक तथा गुप्तजी के स्नेहभाजन मुंशी दयानारायणजी निगम कानपुर स्टेशन पर पूर्व सूचना के अनुसार उनसे मिलने के लिये उपस्थित थे। निगमजी अपने साथ प्रेमचन्दजी को भी साथ लाये थे। गुप्तजी अपने घनिष्ठ मित्र निगम से मिलकर उस रुग्णावस्था में बहुत प्रसन्न हुए। आरम्भ में 'शिवशम्भु के चिट्ठे' को गुप्त रखने की आवश्यकता थी इसलिये सर्वप्रथम निगमजी द्वारा सम्पादित पत्र 'जमाना' में इसका प्रकाशन हुआ था। यह दो साहित्यिक मित्रों की अन्तिम भेंट थी। उस दृश्य की मार्मिकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इस भेंट का विवरण निगमजी ने अपने संस्मरण में इस प्रकार लिखा है— 'मिलते समय जो दशा देखने में आई, उसकी कभी कल्पना भी न की जा सकती थी। लगातार बीमारी ने उन्हें इस अवस्था को पहुँचा दिया था। उस समय किसे ज्ञात था कि यह अन्तिम भेंट है, और क्रूर-मृत्यु लौटते समय कानपुर में अधिक दिनों तक निवास करने का वचन पूरा न होने देगी। वह हार्दिक उत्साह की उमंग और वास्तविक प्रेम कभी विस्मृत नहीं किये जा सकते'[1] निगमजी की मर्माहतता और निराशा देखकर गुप्तजी ने कहा था— 'मेरा ढांचा देख लो शरीर अच्छा हुआ तो फिर मिलेंगे। अब इस समय तो उठा भी नहीं जाता नहीं तो दो तीन दिन तो अवश्य ही ठहरते।'[2]

गुप्तजी दिल्ली पहुँचने के बाद अपने गाँव गुड़ियानी जाना चाहते थे पर ससुरालवालों के आग्रह पर हकीम साहब से इलाज कराने के लिये दिल्ली में ही लाला लक्ष्मीनारायण की धर्मशाला में ठहर गये। औषध और उपचार से कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तिम समय में गुप्तजी के मँझले भाई तथा उनके योग्य पुत्र उनके समीप थे। मृत्यु के दिन पं० दीनदयालु शर्मा भी वहाँ पहुँच गये थे। १८ सितम्बर सन् १९०७ के संध्या समय ५ बजे गुप्तजी का स्वर्गवास हुआ। मृत्यु की सूचना पं० शर्मा ने 'भारतमित्र' के सहायक सम्पादक को पत्र द्वारा इन शब्दों में दी थी —"मेरे पहुँचने पर उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया चरण छूकर हाथ जोड़े। कम जारी बजरङ्ग की और मेरी गुरु की प्रेम से दो बार कहे अपने हाथ मेरे गले

१ २ बाल मुकुन्द स्मारक ग्रंथ पृ० २५५

में डाले। ताकत बुखार न थी एक दो दफे जो कहना था कहा। मगरबस पीने का वक्त था वही पिलाया गया। मैं १२ बजे उनके पास आया और पाँच बजे उन्होंने हमेशा के लिये हमसे रुखसत हासिल की। रंज का अन्त नहीं है। मेरा कूवत बाजू टूट गया। ज्यादा मैं इस वक्त कुछ नहीं लिख सकता।'

गुप्तजी की असामयिक मृत्यु के समाचार से 'भारतमित्र' परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्य शोकविह्वल हो उठे। इस परिवार ने मार्मिक पीड़ा से व्यथित अपने उद्‌गारों को २१ सितम्बर सन् १९०७ को प्रात भारतमित्र का काला बॉर्डर देकर इन शब्दों में अभिव्यक्त किया।

"बृहस्पतिवार ता० १७ सितम्बर को दस बजे एकाएक दिल्ली से गुप्तजी के मित्र पं० नामकचन्दजी वैद्य का भेजा हुआ तार मिला—शोक है कल सन्ध्या के ६ बजे बाबू बालमुकुन्द की मृत्यु हो गई। इस तार को पढ़कर हमलोग अवाक् हो गए। क्या कहें! जिन्होंने हिन्दी 'बंगवासी' छोड़ने के बाद भारत मित्र को चलाकर अपनी ओजस्विनी लेखनीके प्रभाव से हिन्दी समाचार पत्रों में सर्वोच्च आसन का अधिकारी बना दिया जिसकी आडम्बर-रहित सरस और मधुर भाषा पर हिन्दी के पाठक मुग्ध थे जिनके फड़कते हुए लेखों ने देश समाज और भाषा का बहुत कुछ उपकार और सुधार किया असंख्य हिन्दी पाठक पैदा किये जिनकी हँसी से भरी हुई गप्पें और कविताएँ पढ़कर लोग लोट पोट हो जाते थे जिनके उर्दू लेख अपने सामयिक पत्रों में छप कर धन्य होने के लिये उर्दू के बड़े नायक एडिटर तरसते और तकाजे पर तकाजे भेजते थे जो तीव्र और व्यंग्य भरी आलोचना लिखने में सिद्धहस्त थे जिनको खरी कहने में किसी की परवाह न थी जो साहित्य सेवा धर्मसेवा और देश सेवा को ही मुख्य कर्तव्य समझते थे जिन्होंने अपनी अवस्था का अधिकांश इन्हीं कामों में बिताया और भविष्य में जिनसे बड़ी आशा थी आज वही हिन्दी और उर्दू भाषा के सुकवि सुलेखक और समालोचक बाबू बालमुकुन्द गुप्त केवल ४२ साल की अवस्था में इस असार संसार को छोड़ गए। हिन्दी साहित्य रूपी वन में सिंह की तरह विचरण करने वाला पुरुष अपना नश्वर शरीर त्याग कर परमात्मा में लीन होगया। गुप्तजी की जीवनी में बहुत कुछ गुनने समझने और सीखने की बातें हैं। उनकी हास्यमयी मूर्ति आँखों के सामने नाच रही है। उनकी गुणावली

---

१ बाल मुकुन्द स्मारक ग्रंथ पृ० १०६

और उनका स्वभाव याद करके हृदय अधीर हो रहा है और लेखनी को आगे बढ़ने नहीं देता।

गुप्तजी के स्वभाव आत्मसम्मान के भाव तथा उनके सशक्त बहुमुखी व्यक्तित्व का बहुत ही जीवित चित्र उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट उभर आता है। इस सर्व सम्मानित पत्रकार के निधन पर अन्य भाषा के पत्रों ने भी उन्मुक्त होकर उनके गुणों को स्मरण किया तथा उस मृतात्मा के प्रति संवेदनायें प्रकट की थीं।

स्टेट्समैन ने गुप्तजी को इस प्रकार स्मरण किया था—"गुप्तजी बड़े अनुभवी और सुयोग्य लेखक थे। गत बीस वर्ष से पत्र-सम्पादन कार्य करते थे। हिन्दी भाषा की उन्नति के सम्बन्ध में उनकी चेष्टायें बहुत कुछ सफल हुई हैं।

बंगला के पत्र 'हितवादी' ने निम्नलिखित रूपमें अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की थी—'गुप्त महाशय हिन्दी और उर्दू भाषा के सुकवि सुलेखक और सुसमालोचक थे। उनके समान सुदक्ष सम्पादक हिन्दी संसार में नितान्त दुर्लभ है। उनकी चेष्टा से 'भारतमित्र' की अभावनीय उन्नति हुई है। 'भारतमित्र' में उनकी मधुर-हास्य-रसपूर्ण कविता तीव्र व्यंग्यपूर्ण रचना अपक्षपात कठोर समालोचना और गाम्भीर्यपूर्ण ओजस्विनी प्रबन्धावली पढ़कर उनके विरोधी पक्ष को भी मुक्त कंठ से प्रशंसा करनी पड़ती थी। स्वदेश के प्रति उनकी प्रीति असाधारण थी। स्वदेशी आन्दोलन के वे बड़े पक्षपाती थे। स्वदेश और हिन्दी-साहित्य की सेवा में उन्होंने अधिकांश समय व्यतीत किया है। उनकी चेष्टा से हिन्दी परिपुष्ट और परिष्कृत हुई और हिन्दी साहित्य के प्रति बहुत लोगों का अनुराग बढ़ा है। विनय प्रेम सत्यनिष्ठा तेजस्विता प्रभृति गुणों से वे विभूषित थे।

इसी प्रकार अन्य पत्रों तथा पूज्य महामना मालवीयजी जैसे नेताओं ने बड़े सम्मान के साथ गुप्तजी को स्मरण किया था। वे अपने समय में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ पत्रकार और उसे आदर्श स्वरूप प्रदान करने वाले थे। बयालीस वर्ष की अल्पायु में ही उनकी मृत्यु हो गई, फिर भी हिन्दी भाषा को उस संजीवनी शक्ति से विभूषित कर दिया जो सदा केवल हिन्दी भाषियों के लिए ही नहीं बल्कि समस्त भारत के लिए अजस्र प्रेरणा का स्रोत बनी रहेगी। गुप्तजी का कृतित्व उनके यश शरीर को शाश्वत रखने के लिए पर्याप्त है। हिन्दी के जिस सुकोमल बिरवे को उन्होंने श्रम जल से सींचा है वह सदा जग में निरंतर पुष्पित और विकसित होता रहेगा।

# बालमुकुन्द गुप्त की राष्ट्रीय भावना

श्री मुनीश्वर झा

उन्नीसवीं सदी का अन्तिम चरण भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण का महत्त्वपूर्ण काल है। उस युग में देश के कोने कोने से राष्ट्रीय जागरण की लहर उद्वेलित होती थी। राष्ट्रीयता के अमर उपासक और स्वतन्त्रता के सेनानी के रूप में दादाभाई नौरोजी बालगंगाधर तिलक लाला लाजपतराय सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे लोकनायक भारत की स्वतंत्रता का शिलारोपण कर रहे थे। रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द दयानन्द देवेन्द्रनाथ जैसे मनीषी अपनी अमृतवाणियों से जनजागरण का काम कर रहे थे।

राष्ट्रभक्ति की सोई हुई कुण्डलिनी जाग उठी थी। पराधीनता से मुक्ति पाने के लिये समस्त राष्ट्र संकल्पित हो गया था। कलकत्ता बम्बई और लाहौर तीन नगर उस युग में राष्ट्रीय संचेतना के तीर्थ बन गये थे। इनमें कलकत्ते का महत्त्व सर्वाधिक था। यही तत्कालीन राजनीतिक पक्ष का पीठस्थान हो गया था। प्राचीन काल से ही भारत का पूर्वाञ्चल शान्ति के लिए प्रसिद्ध रहा था और उस युग में इसका केन्द्र कलकत्ता था।

साहित्य युग का प्रतिनिधित्व करता है स्थान काल और परिस्थिति के आवेष्टन-सीमाओं में ही साहित्य की उदात्तता झाँकी जाती है।[1] उन्नीसवीं सदी के भारतीय जागरण की प्रतिनिधियों में कलकत्ते का जो महत्त्व था वह वाराणसी और प्रयाग का नहीं। वाराणसी में भारतेन्दु का उदय हुआ था और उसने समय का साथ दिया था। उनके साथ हिन्दी जगत् में नयी चेतना आई थी। प्रयाग में भी द्विवेदीजी ने आगे चलकर भाव और भाषा के संमार्जन किए। किन्तु बालमुकुन्द गुप्त ने अपनी साहित्यिक

1 इपोलीत तैन—डा [illegible] पृ ३४

भावना से हिन्दी जगत् में जिस सक्रिय और सप्राण राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति की वह कलकत्ते में ही संभव थी। इस महानगर के सामयिक महत्व का उचित मूल्यांकन न होने से राष्ट्रीयता के प्रहरी गुप्तजी का गौरव अभी तक उपेक्षित रहा है।

हर्ष का विषय है कि बालमुकुन्द गुप्त स्मारकग्रन्थ को प्रकाशित कर श्री बनारसी चतुर्वेदी और श्री झाबरमल्ल शर्मा दो विद्वान सम्पादकों ने इस दिशा में योगदान किया है। इन दोनों का प्रयास स्तुत्य है किन्तु इस पुण्यानुष्ठान न अभी और निरूपण की आवश्यकता है। इन्हीं के शब्दों में हिन्दी के उस प्रणम्य पुजारी देशभक्त सम्पादक आर्य संस्कृति के समर्थक एवं श्रेष्ठ समालोचक गुप्तजी के प्रति अपनी अपनी श्रद्धा ञ्जलियां अर्पित करने का कर्त्तव्य और अधिकार तो हिन्दीसाहित्य के सभी उपासकों का है'[२]

वस्तुतः बालमुकुन्द गुप्तजी का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य के लिये वरदान स्वरूप है। भारतेन्दु और द्विवेदी युग की सन्धिवेला में अवतीर्ण इस आलोक का मूल्यांकन जितना हुआ है पर्याप्त नहीं है। क्योंकि इसने तो भारत और भारती दोनों को समान रूप से ज्योतित किया है।

यदि भारतेन्दु हिन्दी गगन के पूर्णेन्दु थे तो बालमुकुन्द भारत और भारती के मित्र। दोनों आलोक पुरुष थे। दोनों एक ही परम्परा में आये थे किन्तु दोनों की भूमिका भिन्न थी दोनों के रूप भिन्न थे। दोनों ही अंग्रेजी शासन की दुर्नीति के विरोधी थे। किन्तु एक में क्षोभ था दूसरे में आक्रोश एक में कवि की भावुकता थी दूसरे में सैनिक की कर्मठता। दोनों का अपना-अपना महत्व है। दोनों हमारे राष्ट्रीय नवजागरण के अमर गायक थे और राष्ट्र निर्माण में दोनों ने अपनी रीति से अर्घ्य चढ़ाया था।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध तक आते आते अंग्रेजी सत्ता सुदृढ हो चुकी थी। भारत की सभ्यता और संस्कृति के लिए संकट समय आ गया था। भारतीय जीवन की प्रगति के लिए और उसके सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक विकास के लिए अंग्रेजी शासकों को चिन्ता न थी। उन्होंने तो शोषण के लिए राज्य की स्थापना की थी। जोंक की तरह वे भारतीय रक्त पीकर मोटे हो रहे थ। अपमानित अवहेलित असहाय जनता मूक थी।

---

२. बालमुकुन्द स्मारक ग्रंथ वक्तव्य (८)

जनता की मूकवाणी को भारतेन्दु ने सर्वप्रथम अपनी लेखनी द्वारा लिपिबद्ध करने का यत्न किया था। समकालीन दुर्व्यवस्थाओं को साहित्य में अङ्कित कर वे नया स्वर लाए थे और उन्होंने जनचेतना को जागृत किया था। भारतेन्दु के इस महान् आदर्श को लेकर पं० प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट राधाचरण गोस्वामी जैसे अनेक लेखनी उनके झंडे के नीचे साथ साथ बढ़ते दिखाई दिए थे। भारतीय जागरण का शंखनाद उन्होंने किया था। विदेशी शासन की अंग्रेजों के वैभव विलास की और उनकी दमन नीति की निन्दा उन्होंने की थी। शोषित और पीड़ित जनता को देशप्रेम के सूत्र में उन्होंने पिरोया था।

भारतेन्दु के असमय अस्त हो जाने पर उस ज्योति को अक्षुण्ण बनाए रखने में बालमुकुन्दजी अद्वितीय थे। अपने समय में वे राष्ट्रीय भावना और नव सांस्कृतिक चेतना के कर्णधार बन गए। "बाल मुकुन्दजी का स्मरण करते ही वे सब पूर्वज स्मृति क्षितिज पर आ जाते हैं जिनके कारण हम अपने स्वरूप को पहचान सके हैं। व्याख्यान-वाचस्पति भारतधर्म-केसरी पंडित दीनदयालु शर्मा महाप्राण पंडित मदनमोहन मालवीय पंडित प्रतापनारायण मिश्र पंडित अमृत लाल चक्रवर्ती श्री मोती लाल घोष पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी पंडित श्रीधर पाठक आदि अनेक पूर्वजों का स्मरण बालमुकुन्दजी गुप्तके स्मरण के साथ ही हो जाता है। ये सब महानुभाव उनके सहयोगी सहकर्मी और समानधर्मा थे। बाबू बालमुकुंदजी वास्तव में हमारी भाषाके निर्माता हमारे भावों के सम्मार्जक एवं हमारे मस्य के निर्देशक थे। आज हम जो कुछ हैं वह इन्हीं पूर्वजों के परिश्रम के फलस्वरूप है। जिस समय हमारे देश में स्तब्धता थी जिस समय हमारी वाणी मूक थी जिस समय हमारे हृदय स्पन्दन हीन थे उस समय इन महात्माओं ने एक शंखध्वनि की और उस ध्वनि से हमारा यह भारतीय आकाश प्रकम्पित हुआ। उस वायु तरंग का आन्दोलित करने वालों में बाबू बालमुकुन्दजी गुप्त का विशेष स्थान था।[1]

बालमुकुंदजी बड़े निर्भीक थे। चापलूसी उन्हें पसंद न थी। महत् सत्य ही उनके लिए जीवन था। देश वासियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त करना वे चाहते थे। जन कल्याण उनका आदर्श था। अपने विचारों की स्वाधीनता के लिए उन्हें "कालाकांकर" के पत्र 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग से "च्युत"

---

१ पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन'—जी जिन्होंने भाषण दिया था।
बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ पृ० ४०३।

ना पड़ा क्योंकि वे "गवर्नमेंटके विरुद्ध बहुत कड़ा लेख लिखते थे। किन्तु वे पने आदर्श से विचलित नहीं हुए। उनके लिए साहित्य-साधना अत्याचार ार अन्याय के विरुद्ध मानवता की वाणी थी। 'कौकर' को छोड़कर वे लकत्ता चले आये। कलकत्ता ने उन्हें कञ्चन बना दिया और उनकी कान्ति हिन्दी जनता निहाल हो गई। पूर्वांचल में हिन्दी जगत् का सूर्य उदित हा और अपने प्रथम आलोक से ही उसने नव जागरण ला दिया।

रवपूर्ण राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस की स्थापना के साथ ही गुप्तजी की हित्य साधना शुरू हुई थी और उनकी वाणी युग की वाणी थी। पश्चिमो-र प्रदेश के छोटे लाट कालविन ने उस समय कांग्रेस के प्रति अपना विरोधभाव कट किया था और "जी-हुजूरी" में सर सैयद अहमद खाँ ने उस विरोध में थ दिया था। वही सैयद जिसने कभी लेक्चर देते कहा था 'हिन्दू मुसलमानों ो मैं एक ही आँख से देखता हूँ। क्या अच्छा होता जो मेरे एक ही आँख ती जिससे मैं उन दोनों को सदा एक ही आँख से देखा करता?' पतनका स्ता हो गया था। उसी सैयद ने हिन्दुओं को गालियाँ तक दे दी थी। देश क्त गुप्तजी का हृदय विक्षुब्ध हो उठा और उन्होंने 'सर सैयद का बुढ़ापा' ीर्षक एक लम्बी कविता लिखी। यही नौकरशाही के हिमायती अहमद ाँ को उन्होंने आड़े हाथ लिया और उसकी बड़ी भर्त्सना की। उदाहरणार्थ ुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं —

> बहुत था चुके बूढ़े बाबा अलिग मौत बुलाती है
> छोड़ सोच मौत से मिलो जो सबका सोच मिटाती है।
> कोई भी कहती है पहले हमको किस लिए भुलाते हो
> यों जीने पर मरते हो क्या लोहे का सिर लाये हो?
> बहुत नाम पाया बाबाजी अब तुम इतना काम करो
> जो कुछ नाम कमा डाला है उसको मत बदनाम करो॥

और कुछ आगे —

> बहुत दिन गए बनगुदा देते आँसू टपटप गिरते थे
> मैंन तुम्हारे दीन हीन लोगों से कभी न फिरते थे।
> अहा खादूकारी की लाठी खादूकार तुम बनते हो
> अपने हाथ स्वराज्यमसिद को टरका आप ही बनते हो।

मगर बड़े सीधे हैं पर प्रहार भयंकर है।

४ बालमुकुन्दगुप्त निबन्धावली—पृ० २५३

देश में दुःख दैन्य व्याप्त था। गुप्तजी को चिन्ता यही थी किस प्रकार भारत की गरीबी मिट जाय। आर्थिक दासता और वैषम्य को व्यंग्यपूर्ण भाषा में यहीं उन्होंने यों व्यक्त किया —

हे धनियो! क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार!
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार।
भूखा की सुध उसके जी में कहिए किस पथ से आवे,
जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाकतक भर जावे।

x x x,

काम सर्प की सी फुफकारें लू में भयानक चलती हैं
धरती की सातों परतें जिसमें आवा सी पकती हैं।
तभी खुले मैदानों में वह कठिन किसानी करते हैं
नंगे तन बालक नरनारी पिसा पाना करते हैं।
जिस अवसर पर अमीर सारे तहखाने सजवाते हैं
छोटे बड़े लाट साहब शिमले में चैन उड़ाते हैं।
उस अवसर में मरखप कर दुखिया अनाज उपजाते हैं
हाय विधाता उसका भी सुख नहिं खाने पाते हैं।
जम के दूत उसे घरों से ही उठवा ले जाते हैं
महा बिचारे दुख के मारे निसदिन पचपच मरें किसान
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवा ले जाय लगान।

दरिद्रता अंग्रेजों की समान नीति आदि के प्रति अपने असंतोष का गुप्तजी ने निडरो सचाई से व्यक्त किया है। सच्ची प्रगतिशीलता युगजीवन के साथ सक्रिय सम्पर्क स्थापित करने में और जनता के समग्र पीड़ा और वेदना के प्रति सहानुभूति रखकर प्रगति के लिए आह्वान में होती है। प्रगतिशीलता जनकल्याण लेकर होती है। हमारे गुप्तजी सच्चे अर्थ में प्रगतिशील थे। उनके लिए सबसे ऊपर मानुष सत्य की बात थी। इसीलिए उनकी वाणी राष्ट्रीय उत्थान की स्थायी सम्पत्ति है। 'यह कविता गुप्तजी के राष्ट्रीय विचारों का दर्पण कही जा सकती है। यह एक कविता ही देश और देशवासियों के प्रति गुप्तजी के हृदय की अनुभूति की साक्षी के लिए पर्याप्त है। उसमें चाटुकार देशद्रोहियों को धिक्कार और हृदयहीन धनिकों को अपने गरीब देश भाइयों के प्रति उपेक्षाभाव के लिए खूनी फटकार बताई गई है[1]

१ बालमुकुन्द स्मारकग्रन्थ—पृ० १३७

उनकी यह अनभागी कहीं दबती नहीं दिखाई पड़ती। समस्त रचनाओं में अप्रतिम वेग से प्रवाहित होती है। यहां तक कि देव-देवियों के स्तुतिस्तोत्रादि में भी दीन दुःखियों के प्रति उनकी समवेदना का भाव विद्यमान है। कुछ पंक्तियां लीजिए —

का दे जननी पूजा करैं तुम्हार।
पेटहुके निसदिन है हा हा कार।
उदर भरन हित जम रहयो परमाद जो।
दानव दल मा जाय काह मुकती भयो॥
भेंट धरैं को माय कहा हम पास है।
केवल आंसिन जल अरु लम्बी सांस है॥[१]

इस हा हा कार में नैराश्य भाव नहीं है। आक्रोश है। विद्रोह की भावना है। रगों में प्राण फूंकदेने की क्षमता है। भावुक हृदय को झकझोर कर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

१८८९ से १८९९ तक 'हिन्दोस्तान' और 'हिन्दी बंगवासी' के अपने सम्पादन काल में गुप्तजी ने जो कुछ लिखा उसमें रवि का तेज अवश्य था, किन्तु उसमें केवल उषःकालीन उष्णता थी। १८९९ में जब उन्होंने "भारतमित्र" का सम्पादकीय पद ग्रहण किया तब भारतीय नवजागरण के गगन में बालारुण मध्याह्न का मार्तण्ड बन गया। भारतमित्र के सम्पादक गुप्तजी ने स्वतंत्रता संग्राम में युगान्तर ला दिया। वे तत्कालीन उग्र राजनीति के पोषक बन गए थे। वे निर्भीक थे ही अब और निर्भीक हो गए। उनकी लेखनी निर्भीक होकर चलने लगी।

काशी चन्द्र नगरी की शोभा तब लुट गई थी। कलकत्ते में भारतीय राजनीति के क्षितिज पर सूर्य की तरह अवतीर्ण होकर गुप्तजी ने भारतेन्दु के आलोक को अपने प्रखर प्रकाश पुञ्ज के रूप में विकीर्ण किया जिससे वे "भारत" और "भारती" दोनों के मित्र बन गए। कलकत्ते का भारतमित्र सम्पूर्ण हिन्दी संसार के आलोक का उत्स बन गया। उस पत्र द्वारा गुप्तजी ने राष्ट्रीय उत्थान में सर्वतोभावेन योग दिया। अहंकार ढोंग और गुलामी के मर्मों पर उनके पैने सीधे प्रहार करते। जिस विधा में उन्होंने लिखा उसमें एक नवीन जीवन और नई स्फूर्ति लक्षित होती थी। उनके लेखों से राष्ट्रीयता की

---

१ भगवती कीर्तन कविता हिन्दी बंगवासी, २३ सि० १८९५
२ पत्रकार पुंगव गुप्तजी—पंडित सीताराम शर्मा बालमुकुन्द स्मा० ग्र० पृ० १९०

प्रचण्ड लहर फैल गई जिससे साम्राज्यवाद का हृदय काँप उठा। स्वतंत्रता संग्राम के तूफानी क्षणों में आगे बढ़ने की प्रेरणा हिन्दी-जनता को उनसे मिलने लगी और वे हिन्दी जगत के लोकनायक बन गए।

उस समय बंगभंग का विरोध चल रहा था। जनता में घोर असन्तोष हो चला था। स्वतंत्रता के सेनानियों पर पुलिसकी लाठियां चल रही थी। किन्तु सेनानी अपने अधिकारों के लिए सीना ताने खड़े थे। 'वन्दे मातरम्' का राष्ट्रीय गीत गूंज रहा था। देशप्रेमी नेता एक एक कर जेल जा रहे थे। गुप्तजी के शब्दों में सुरेन्द्रनाथ ने बङ्गाल की जेल का और तिलक ने बम्बई की जेल का मान बढ़ाया था। यशवन्तराय और अथावले ने लाहौर की जेल को वही पद प्रदान किया। लाहौरी जेल की भूमि पवित्र हुई। उसकी धूल देश क शुभचिन्तकों की आंखों का अञ्जन हुई। जिन्हें इस देश पर प्रेम है, वह इन दो युवकों की स्वाधीनता और साधुता पर अभिमान कर सकते हैं।[८]

गुप्तजी के देश प्रेम की पवित्र मन्दाकिनी यहां देखने को मिलती है। भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के लिए उन्होंने जेल को तीर्थ माना, "जेल में कृष्ण ने जन्म लिया था भारतीयों को जेल यात्रा के लिए आमन्त्रित करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा वह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के महानुष्ठान की ऋचा है।

"जो जेल चोर-डकैतों दुष्ट हत्यारों के लिये है जब उसमें सज्जन-साधु शिक्षित स्वदेश और स्वजाति के शुभचिन्तकों के चरण-स्पर्श हों तो समझना चाहिए कि उस स्थान के दिन फिरे। ईश्वर की उस पर दया दृष्टि हुई। साधुओं पर सङ्कट पड़ने से शुभदिन आते हैं। समस्त भारतवासी शोक सन्ताप भूलकर प्रार्थना के लिये हाथ उठावें कि शीघ्र वह दिन आवे कि जब एक भी भारतवासी चोरी डकैती दुष्टता, व्यभिचार, हत्या लूट-खसोट, जाल आदि दोषों के लिए जेल में न जाय। जाय तो देश और जाति की प्रीति और शुभचिन्ता के लिये। दीनों और पद-दलित निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचाने के लिए हाकिमों को उनकी भूलों और हार्दिक दुर्बलता से सावधान करने क लिये और सरकार को शुभमन्त्रणा देनेके लिये। यदि हमारे राजा और शासक हमारे सत्य और स्पष्ट भाषण और हृदय की स्वच्छता को भी दोष समझें और हमें उसके लिये जेल भेजें तो वैसी जेल हमें ईश्वरकी कृपा समझकर स्वीकार करना चाहिये और जिन हथकड़ियों से

८. आशीर्वाद शीर्षक लेख भारतमित्र १९०७

हमारे निर्दोष देश-बान्धवों के हाथ बांधें उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि ईश्वर में इतना शक्ति न हो कि वह हमारे राजा और शासकों को हमारे अनुकूल कर सके और उन्हें उदारचित्त और न्यायप्रिय बना सके तो इतना अवश्य करे कि हमें सब प्रकार के दोषों से बचाकर न्याय के लिये जेल काटने की शक्ति दे जिससे हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारतके। इस देश के सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहें इसी देश में चाहे जेल में चाहे घर में। जब तक जियें जियें और प्राण निकल जावें तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जावें।'[9]

लार्ड कर्जन की काली करतूतों को जनता के सामने रखने के लिए गुप्तजी ने बहुत से लेख लिखे और अनेक कविताएं लिखीं। लार्ड कर्जन के नाम शिव शम्भु के चिट्ठे तो राजनीतिक व्यंग्य साहित्य के अनमोल रत्न हैं और गुप्तजी के निर्भीक व्यक्तित्व के मूर्तिमान प्रतीक हैं। चिट्ठों की भाषा सीधी पर चुभती सी है। व्यंग्य बाणों से उन्होंने विदेशी शासन की दुर्नीति क्रूरता और कूटनीति को अनावृत किया। शिवशम्भु के आठ चिट्ठों का महत्त्व स्वतंत्रता प्राप्ति आन्दोलन में विशिष्ट है। उनमें गुप्तजी ने लार्ड कर्जनके भारत विरोधी कार्यों को एक एक करके गिनाया और देशवासियों में देश भक्ति और राष्ट्र प्रेम की भावना भरकर उन्हें आत्म बलिदान के लिए प्रस्तुत किया।

शिव शम्भु भंगेड़ी है किन्तु शत प्रतिशत भारतीय है। भारत का कल्याण ही उसे काम्य है। वह कर्जन से कहता है —

'माई लार्ड! आपने कच्छप के भाग वाले साहबों की बाबत लाचार कहा था कि वह लोग यहाँ नित्य हैं और हम लोग कुछ दिनों के लिये आपके वह "कुछ दिन" बीत गये। अवधि पूरी हो गई। अब यदि कुछ दिन और मिले तो वह किसी पुराने पुण्य के बल से समझिये। उन्हीं की आशा पर शिव शम्भु शर्मा यह चिट्ठा आपके नाम भेज रहा है जिससे इन मांगे दिनों में तो एक बार आपको अपने कर्तव्य का खयाल हो।

जिस पद पर आप आरूढ़ हुए, वह आपका मौरूसी नहीं—नदी नाव संयोग की भाँति है। आगे भी कुछ आशा नहीं कि इस बार छोड़ने के बाद आपका इससे कुछ सम्बन्ध रहे। किन्तु जितने दिन आपके हाथ में शक्ति है उतने दिन कुछ करने की शक्ति है।"[10]

---

९ बालमुकुन्दगुप्त निबन्धावली—आशीर्वाद शीर्षक लेख पृ०२३०-२३८

१० भारतमित्र ११ अप्रेल १९०३, बनाम लार्डकर्जन

लार्ड कर्जन के कर्तव्यों के लेखा जोखा के लिए और सामयिक उपदेश के लिए शिवशम्भु का दूसरा चिट्ठा उदाहिए —

"जो अटल है, वह टल नहीं सकता। जो होनहार है वह होकर रहती है। इसीसे फिर दो वर्षों के लिये भारत के वायसराय और गवर्नर जनरल होकर लार्ड कर्जन आते हैं।

इस समय भारतवासी यह सोच रहे हैं कि आप क्यों आते हैं। और आप यह जानते भी हैं कि आप क्यों आते हैं। यदि भारत-वासियों का बस चलता तो आपको न आने देते और आपका बस चलता तो और भी कई सप्ताह पहले आ विराजते। पर दोनों ओर की बात किसी और ही के हाथ में है। निरे बेबस भारतवासियों का कुछ बस नहीं है और बहुत बातों पर बस रखने वाले लार्ड कर्जन को भी बहुत बातों में बेबस होना पड़ता है।"[११]

अंग्रेजी राज्य की कठोर आज्ञाओं के विरुद्ध निर्भीक भाव से प्रतिवाद करना गुप्तजी जैसे देशभक्त साहित्यकार का ही काम था। इस दिशा में उनका साहस देखते बनता है। दासता और दमन की भीषण परिस्थितियों में विदेशी शासकों की कटु आलोचना करना औघट का काम था। यह उनके नैतिक बल और आत्मतेज का निदर्शन है। शिव शम्भु शर्मा के माध्यम से उनकी आत्मा बोलती है।

"पर सुना है कि अबके शिक्षा का उद्धार श्रीमान् जरूर करेंगे। उपकार का बदला देना महान पुरुषों का काम है। शिक्षा ने आपको धनी किया है इससे आप शिक्षा को धनी किया चाहते हैं। इसमें कंगालों से छीनकर आप धनियोंको शिक्षा देना चाहते हैं। इससे शिक्षाका वह कष्ट मिट जावेगा जो उस कंगालों को धनी बनाने में होता है। नींव पड़ चुकी है नमूना कायम होने में देर नहीं। अब तक गरीब पढ़ते थे इससे धनियों की निन्दा होती थी कि वह पढ़ते नहीं। अब गरीब न पढ़ सकेंगे इससे धनी पढ़ें न पढ़ें उनकी निन्दा न होगी। इस तरह लार्ड कर्जन की कृपा उन्हें बेपढ़े भी निन्दित कर देगी।"[१२]

बालमुकुन्द जी सत्यनिष्ठा और स्पष्टवादिता के प्रतीक थे। सीधी बात कहने और लिखने के अभ्यस्त थे जो कुछ कहना होता साफ कहते और बीच में ऐसे व्यंग्य कर देते थे जिसमें वज्राघात सी चोट होती थी। इस प्रकार के

११ यही दूसरा चिट्ठा श्रीमान का स्वागत बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली पृ०१८२
१२ बालमुकुन्द निबन्धावली पृ० १८५

पाठकों को यथावसर उकसाते रहते थे। उनके संवेदनशील व्यक्तित्व के परिपार्श्व में व्यंग्य विधान होने के कारण व्यंग्यों में भावोद्बोधन की अमूत पूर्व क्षमता होती थी। शब्द सीधे होते किन्तु अब अग्निस्फुलिंग की तरह लक्ष्य सिद्ध करते थे। एक और बहुत बुरा काम करने की लार्ड कर्जन चेष्टा कर रहे थे। वह चुपके चुपके बंगाल के दो टुकड़े कर डालने की बात सोच रहे थे। इस बात को वह बड़े अन्याय से छिपाते रहे प्रजा के पूछने पर कुछ उत्तर नहीं देते थे। काटन साहेब ने बम्बई से कलकत्ते आकर टौनहाल में लार्ड कर्जन के एसे खराब इरादे के विरुद्ध एक व्याख्यान दिया जो बड़ी धूम का व्याख्यान था। पर फल कुछ न हुआ अन्त में स्पष्ट हो गया कि लार्ड कर्जन बंगाल के दो टुकड़े करना चाहते हैं।

इतने अन्याय के काम करके भी लार्ड कर्जन का मन नहीं भरा था। उन्होंने इससे भी बढ़ कर अन्याय करना चाहा। अपने हाथों से वह भारतवासियों की बहुत कुछ हानि कर चुके थे। इस बार मुह से भी काम लिया। इस देश की शिक्षा पद्धति को वह इसमे पहले बिगाड़ चुके थे। अब उन्होंने यह और किया कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेटहाल में कनवोकेशन का उत्सव करते हुए भारतवासियों को झूठा और बेईमान कहा और उनके साहित्य पर बड़ी चोटें की। उसका फल यह हुआ कि उस समय तक जो भारतवासी अंगरेजी सरकार और अंगरेजी अफसरों का बड़ा अदब करते चले आते थे वह सब उठ गया। समाचार पत्रों में लार्ड कर्जन के इन अविचारों की बड़ी कड़ी आलोचना हुई और बंगाल के शिक्षित लोगों ने कलकत्ते के टौन हाल में एकत्र होकर लार्ड कर्जन के कामों की खूब कड़ी आलोचना की। भारतवर्ष में यह पहला दिन था कि इस देश के एक गवर्नर जनरल को प्रजा की ओर से झाड़ सुननी पड़ी। इससे पहले एसा नहीं हुआ था। कलकत्ते की भाँति बम्बई आदि दूसरे प्रान्तों में भी लार्ड कर्जन को झाड़ बताई गई थी।[१३]

कर्जन के जाते जाते १६ अक्तूबर १९०५ को बंग भंग हो गया था। इससे गुप्तजी का हृदय आहत हो उठा था। शिवशम्भु शर्मा के चिट्ठे में संवेदन शील हृदय की अन्तर्वेदना का तलस्पर्शी स्पन्दन देखिए —

'माई लार्ड को इस देश में जो कुछ करना था वह पूरा कर चुके थे। यहाँ तक कि अपने सब इरादों को पूरा करते करते अपने शासन काल की इतिश्री भी अपने ही कर कमलों से कर चुके थे। जो कुछ करना रह भी गया हो तो

१३ भारतमित्र सन् १९०७

उसके पूरा करने की शक्ति माई लार्ड में नहीं है। आपके हाथों से इस देश का जो बुरा भला होना था वह हो चुका। एक ही तीर आपके तर्कश में और बाकी था उससे आप बङ्ग भूमि का वक्षस्थल छेद चले। बस यहीं आकर आपकी शक्ति समाप्त हो गई।

सब ज्यों का त्यों है। बङ्ग देश की भूमि जहाँ थी वहीं है और उसका हरएक नगर और गाँव जहाँ था वहीं है। कलकत्ता उठाकर चीरापूंजी के पहाड़ पर नहीं रख दिया गया और शिलांग उड़कर हुगली के पुल पर नहीं आ बैठा। पूर्व और पश्चिम बंगाल के बीच में कोई नहर नहीं खुद गई और दोनों को अलग अलग करने के लिये बीच में कोई चीन की सी दीवार नहीं बन गई है।[२४]

कितने चुभते शब्द हैं? लगता है, बंगछेद होने पर भारत माता के मुख से निकली दर्द की पुकार है। दुख है, हमारी नींद नहीं टूटी हम एक के बाद एक गलतियाँ करते गये। गुप्तजी के भावलोक के आलोक की रक्षा हमसे न हो सकी। कान मूँद लिये आँखें फेर लीं। काश कि हम सँभल जाते तो हमारी मातृभूमि की आकृति कुछ और होती।

साहित्य जन-हृदय तक पहुँचने का साधन है। उसमें युग से पलायन का कोई स्थान नहीं होता। साहित्यकार तो कान्तदर्शी होता है, वह वर्तमान की तह में पैठकर ही भविष्य के लिए मार्गदर्शन का निर्देश करता है। गुप्तजी उसी कोटि के साहित्यकार थे। उन्होंने अनेक व्यंग्यप्रधान निबन्ध लिखे जिनमें लार्ड कर्जन लार्ड मिन्टो भारतसचिव लार्ड मार्ली पूर्व बंगाल के छोटे लाट फुलर आदि उनके व्यंग्य के शिकार बने थे। इनके कुशासन में देश की जो दुर्गति हो रही थी उसका जीता जागता चित्र उन्होंने खींचा इनके कुकृत्यों पर निर्मम प्रहार किया। इनकी विषमताओं का रहस्योद्घाटन कर जनता में नव जागरण लाना गुप्तजी का लक्ष्य था। सभी निबन्धों में देश भक्ति की अन्तःसलिला प्रवाहित होती थी क्योंकि अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह का स्वर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सर्वत्र था। प्रयाग स्टेशन पर छात्रों के साथ एक अंग्रेज गोरे के दुर्व्यवहार को देखकर उनकी अन्तरात्मा बोल उठी थी—"रेल में सुख पाना हो तो विलायत में पैदा होने की प्रार्थना करो। सन् १९०६ में कांग्रेस महाधिवेशन में अध्यक्षपद से दादाभाई नौरोजी ने देश प्रेम का पाठ दिया था जिसमें भारत विरोधी टाइम्स आफ इंग्लैंड को

२४. बालमुकुन्दगुप्त निबन्धावली—बंग विच्छेद पृ० २१७, २१८, २१९

भारतीयता के विरुद्ध आग उगलने का अवसर मिला था। उसको लेकर गुप्तजी ने लिखा—इसबार विलायत के प्रधान पत्र टाइम्स को बड़ी मिरचें लगी हैं। उसने बड़ी गीदड़भभकी दिखाई है। उसकी समझमें में हिन्दुस्थानियों को स्वाधीनता या स्वराज्य का नाम ही मुँह से न निकालना चाहिए।[१४]

बंगाल में विदेशी शासन की दुराचारिता का चित्र उन्होंने इन शब्दों में अंकित किया— 'पूर्व बंगाल में फुलरशाही आरंभ हुई और पश्चिम बंगाल में फ्रेज़र साहब की अमलदारी में कुछ-कुछ उसकी नकल होने लगी। मैदानों में सभा का होना बन्द किया गया लड़कों का मुँह निकलना और उनका (वन्दे मातरम्) कहना रोका गया। स्कूलों के लड़कों पर अत्याचार होने लगे। यहाँतक कि बरीसालकी कान्फरेन्स पुलिस ने लाठी के जोर से बन्द की लोगों को मारा-पीटा और सुरेन्द्रबाबू को पकड़कर उनपर जुरमाना ठोंका'[१५]

अंग्रेजो की नीति आरम्भ से भेद भाव पैदा करने की थी। मुसलमानों को हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक अधिकार देकर हिन्दुओं से अलग रखना अंग्रेज चाहते थे जिससे भारतीय राष्ट्रीयता में अवरोध आ जाय। भारतीयों में मतभेद की मुश्किल अंग्रेज शासन बनाए रखना चाहते थे फलतः भारतीय कौंसिलों में मुसलमान सदस्यों के निर्वाचन की एक विशेष व्यवस्था उन्होंने की थी। इसको गुप्तजी ने हिन्दुओं तथा अन्य जातियों के साथ अन्याय माना। इसका विरोध करते हुए उन्होंने कहा— 'आज नहीं कोई एक वर्ष से मार्ली साहब भारत के शासन सुधार का राग अलाप रहे थे पर क्या किया? पहाड़ खोदकर चरासी चुहिया निकाली है। आपकी कुल पेंचदार बातों का तत्त्व इतना ही है कि बड़े लाट की तथा प्रान्तीय कौंसिलों में जमींदार और मुसलमान कुछ और बढ़ाये जाँय।

जमींदार और मुसलमान तो अब भी कौंसिलों में बैठे हैं और पहले भी बैठ चुके हैं पर यह कभी न देखा कि उनमें भी किसी उचित या अनुचित सरकारी काम पर चूँ भी की हो आलोचना की कौन कहे! केवल काठ पुतलों की भाँति यह साथ बैठे रहते हैं और अफसरों की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हैं।[१७]

दूसरी बार अंग्रेजी सरकार दमन पर उतारू हो गई थी। सिडीशन राजद्रोह

१४ भारतमित्र—गीदड़ भभकी शीर्षक लेख १९०६।
१५ भारतमित्र, १९०६।
१७ „ शासनसुधार „ १९०६।

के अपराध मे बस नायकों को वह जेल के मेहमान बना रही थी। लार्ड लाइल से पंजाब के एक सम्पादक को सिडीशन में पकड़ने की आज्ञा दी गयी थी। पर एक की जगह दो की सफाई हुई। 'इण्डिया' का एडीटर पिण्डीदास सिडीशन के लिये पांच साल को जेल भेजा गया और कहा गया कि तुम पर दया की जाती है। और 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक यह कर छोड़ दिया गया कि उसीके प्रेस में 'इंडिया' का सिडीशन वाला नम्बर छपा था। जब इस तरह से एक कमरेमें दो शिकार हो तो अखबार लिखने वाले ईश्वर के सिवा और किसकी शरण में जाय।

इधर बंगाल में देखिये तो यहां भी सिडीशन बेतरह चक्कर लगा रहा है। जाने कुछ न था पर अब कलकत्ते में घर घर गली-गली मे मौजूद है। 'युगान्तर' सम्पादक भूपेन्द्रनाथ दत्त इस समय कड़ी जेल भोग रहे हैं। "साधना प्रेस' जिसमें छपता था कुर्क कर लिया गया।[18]

उसी युग में पंजाब के सपूत लाला जसवंतराय लाला लाजपतराय सरदार अजीत सिंह जैसे महान् क्रान्तिकारी नेता मातृभूमि के लिए सर्वस्व बलिदान कर रहे थे। दूसरी ओर वहीं चाटुकारी और लायल्टी के कायल देशद्रोही भी कम न थे। इन चमचमों की फटकार में गुप्तजी ने लिखा था—[19]

सबके सब पंजाबी अब हैं लायल्टी में चकनाचूर
सारा ही पंजाब देश बन जाने को है लायलपूर।
लायल हैं सब सिक्ख मरीडे अभी भी अब लायल हैं
मेढ़ पठानी बनिये कुनिये लायल्टी के कायल हैं।
धर्मसमाजी सबके लायल लायल हैं अखबारे आम
इस्लामियों का तो है लायल्टी से ही काम तमाम।

x x x x

एक पैसा अल्लू पैसा सब पर इसकी मस्ती है
लायल्टी लाहौर में अब भूसे से भी कुछ सस्ती है।
बेबस जो दिखलायत हैं वो एक लाजपत एक अजीत
दोनों गये निकाले उनसे नहीं किसीको है कुछ प्रीत।

x x x x

इन सबसे लाला लालों का कुछ भी नहीं इलाका है
लायल लोगों के घर में रिश्मलायल्टी का फाका है।

---

१८ भारतमित्र सिडीशन का युग शीर्षक लेख १९०७

१९ पंजाब में लायल्टी शीर्षक कविता बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली पृ०६४२-४३।

पेट भर सके हैं इन सबके कामस्टी के मुख्तारे,
पता नहीं जाता है थक कर हाँफ रहे हैं बचारे।

कितना तीखा व्यंग्य है ? चरम परिचय है तद्रूप असंतोष है। लाजपत और अजीत जैसे देश प्रेमियों से तत्कालीन राजनीतिक विभ्रम में आक्रोश का सृजन कवि का आदर्श है।

गुप्तजी ने इसी प्रकार की बहुत सी कविताएँ लिखी थी। जिनमें उनकी राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति हमें मिलती है। सन् १९०५ तक अपने रचित पद्यों का संग्रह 'स्फुटकविता' के नाम से छपाकर उन्होंने भारतमित्र के पाठकों को उपहार में दिया था। भूमिका में उन्होंने लिखा था– 'भारतमें अब कवि भी नहीं है कविता भी नहीं है कारण यह कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब देश देश था और यहाँ के लोग स्वाधीन थे तब यहाँ कविता भी होती थी। उस समय की जो कुछ बची खुची कविता अब तक मिलती है वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिये अपने देशके भाव और अपने मनकी मौज दरकार है। हम पराधीनो में यह सब बातें कहाँ ? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरत्व क्या इससे उसे तुकबन्दी ही कहना ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में तो कुछ अपने दुख का रोना होता है और कुछ अपनी गिरीदशा पर पराई हँसी होती है—यही दोनों बातें इसतुकबन्दी में है।

गुप्तजी अपनी कविता को भले ही तुकबन्दी कह लें। पर उनकी कविता-कविता का शृंगार है। यहाँ अपशिष्टता नहीं है पच्चीकारी भी नहीं है किसी प्रकार का कृत्रिम परिष्कार नहीं है किन्तु यहाँ कविता के प्राण अपने आप बसे हैं। जन जीवन का साहचर्य है लोक जीवन की भावना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है गुप्तजी सच्चे अर्थ में प्रगतिशील हैं। उनकी कविता समाज की भावना है जन जीवन का गीत है। मातृभूमि के निर्माण का आह्वान है। नव-निर्माण का संदेश है। उनका प्रयोजन न 'यशसे' है और न अर्थकृते। प्रयोजन केवल शिवेतरक्षतये है देश समाज और राष्ट्र के उत्थान का उद्घोष है। उदाहरणार्थ उनकी कविता पोलिटिकल होली का एक पद्य—

टोरी जावें लिबरल आवें। होली है भई होली है।
भारतवासी खैर मनावें। होली है भई होली है।
लिबरल जीते टोरी जीते। हुए मानी सचिव हमारे।
भारत में तब जय मनावें। होली है भई होली है।

नहिं कोई लिबरल नहीं कोई टोरी। जो परनाला सोही मोरी।
दोनों का है पन्थ अघोरी। होली है, भई होली है।
अब भी समझो भारत भाई। तुम्हें तुम्हारी दशा जताई।
आप सहो जो सिर पर आई। होली है भई होली है।
करते कुक्कर विदेशी वर्जन। सब गोरे करते हैं गर्जन।
जैसे मिन्टो वैसे वर्जन। होली है, भई होली है।[20]

टोरी या लिबरल सब अंग्रेज एक ही हैं। उनसे भारतवासी का कल्याण नहीं है। ये सबके सब अघोरी हैं। उनसे उदारता की आशा नहीं की जा सकती है। भारत का भाग्य-विधान भारतवासियों के हाथ है। स्वतन्त्रता ली जाती है दी नहीं जाती। 'युध्यस्व विगतज्वर'—यही देशवासियों के लिए गुप्तजी का सन्देश है। गुप्तजी की राष्ट्रीयता यही है उनकी कविता की भावभूमि यही है।

इसी प्रकार 'कर्जन-कुक्कर' शीर्षक कविता में इन दोनों की खूब 'फुलौरी' बनाई गयी है। यह भी साम्राज्यवाद पर सीधी चोट है तिलमिला देने वाला प्रहार है। विद्रोह का मन्त्र है।

नामी बाली टेसू लाल। कहती हूँ तुम्हें सब हाल।
मास नवम्बर कर्जन लाट। उलट चले शासन का ठाट।
कुक्कर बंग को यही देकर। चल दिये अपना सा मुँह लेकर।
कुक्कर बंग न की वह जंग। सब बदनाम हो गया ढंग।
लड़कों से भी खूब लड़ाई। गुरखा की पलटन बुलवाई।
किया मातरम् बन्दे बन्द। और सभाएँ रोकी चन्द।
घोर स्वदेशी का धबकाया। जगह जगह पर लट्ठ चलवाया।
बरीसाल में भी वह करनी। जिसकी महिमा जाय न बरनी।
अन्ततक लड़कों से लड़े। आखिर को उल्टे मुँह पड़े।
पक्का पूरा एक न साल। आप गये रह गया भकास।
खूब बचन कुक्कर का पाला। पर आखिर को हुआ दिवाला।[21]

आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता के अभाव में राष्ट्रीयता की आधारशिला पुष्ट नहीं होती। देश या जाति के विचारों तथा भावनाओं के प्रतिबिम्ब के रूप में प्रत्येक समाज की भाषा का विशिष्ट महत्त्व है। राजनीतिक अथवा अन्य

---

२० भारतमित्र १९०६।
२१ भारतमित्र १९०६। गुप्तनिबन्धावली पृ० ७१९

कारण से अपनी भाषा का अनादर अपने आपकी अवज्ञा है। गुप्तजी इस ओर भी सजग थे। वे समग्र भारत की एक भाषा और एक लिपि के समर्थक थे। भविष्यद्रष्टा की भाँति उन्होंने कहा था—"यद्यपि बँगला मराठी आदि भारतवर्ष की अन्य कई भाषाओं से हिन्दी अभी पीछे है तथापि समस्त भारतवर्ष में यह विचार फैलता जाता है कि इस देश की प्रधान भाषा हिन्दी ही है और वही यहाँ की राष्ट्र भाषा होने के योग्य है। साथ साथ यह भी माना जाते हैं कि सारे भारतवर्ष में देवनागरी अक्षरों का प्रचार होना उचित है।"[22]

"अंग्रेज इस समय अंग्रेजी को संसारव्यापी भाषा बना रहे हैं और सचमुच वह सारी पृथ्वी की भाषा बनती जाती है। वह बनै उसकी बराबरी करने का हमारा मकदूर नहीं है पर तो भी यदि हिन्दी को भारतवासी सारे भारत की भाषा बना सकें तो अंग्रेजी के बाद दूसरा दर्जा पृथ्वी पर इसी भाषा का होगा।"[23] इस कथन में कितनी व्यावहारिकता थी और साथ ही कितनी बड़ी ऐतिहासिक उपलब्धि ?

जिस प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में वे हिन्दी की प्रतिष्ठा चाहते थे उसी प्रकार राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी की। हम एक होकर भी एक दूसरे को समझ नहीं सकते थे। 'एक ही कोठी में दस गुमाश्ते दस प्रकार के हरफ लिखते हैं। एक के हरफ दूसरा सहसा नहीं समझ सकता। अपने इन हरफों के पीछे यह लोग विद्या ही खो बैठे। यदि यह सब अक्षर एक होकर देवनागरी बन जावें तो कितना अच्छा हो ?'[24]

प्रचलित सभी भारतीय लिपियों में उन्होंने देवनागरी को सर्वाधिक वैज्ञानिक और उपादेय माना। उनकी देशानुरागिता एक लिपि चाहती थी। इस लिए उन्होंने उर्दू वालों से कहा— 'हम उमीद करते हैं कि जो लोग हिन्दी उर्दू के लिये झगड़ा करते हैं वह समझ लेंगे कि हिन्दीवाले क्या चाहते हैं और उनकी क्या गर्ज है। उर्दू वालों से किसी किस्म का झगड़ा करना वह नहीं चाहते हैं और न उर्दू को नुकसान पहुँचाना चाहते हैं मगर नागरी हरफ का सारे हिन्दुस्तान में जरूर फैलाना चाहते हैं। जिसमें संस्कृत से निकली हुई जबानें करीब-करीब आ जायें। सब हिन्दुओं और हिन्दुस्तान की सब जुबानों

---

२२ राष्ट्रभाषा और लिपि „ „ ११०
२३ भारतमित्र १९०४ -भारतकी भाषा शीर्षक निबन्ध „ „ पृ १५९
२४. भारतमित्र १९०२ ई., बालमुकुन्द निबन्धावली पृ १६५

को एक करने के लिये यह कोशिश होती है। हिन्दी और उर्दू को हिन्दू एक ही जबान समझते हैं और मुसलमान भी पहले उर्दू को हिन्दी ही समझते थे। खासकर देहलीवाले। मगर मजनव्मासों ने इसमें अरबी के अलफाज लाकर ठूंस-ठूंसकर इसे दूसरी जुबान बना डाला है। २५

गुप्तजी की साहित्यिक साधना उर्दू में ही आरंभ हुई थी। इसलिए उन्होंने जो कुछ हिन्दी उर्दू के विषय में कहा उनके चिन्तन और मनन का प्रतिफलन था। किसी प्रकार का पूर्वग्रह नहीं था—यदि था तो एकमात्र देश प्रेम का। देश का मंगलभाव ही उनके लिए लक्ष्य था।

बालमुकुन्द गुप्तजी अपने युग के पत्रकारपुङ्गव थे। पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने साहित्य में राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व किया था। नवजागरण की पृष्ठभूमि में जिस राष्ट्रीय भावना का विकास भारतेन्दु से आरम्भ हुआ था उसके नायक गुप्तजी थे। कलकत्ते में रह कर उन्होंने अपने समय में हिन्दी जगत् का नेतृत्व किया था। सक्रिय राष्ट्रीयता का उद्घोष उनकी समग्र साहित्यिक साधना में हुआ। नवयुवकों को स्वतन्त्रता के निमित्त उत्तेजित किया और उन्हें राष्ट्रीय नवजागरण की नई चेतना का महापाठ पढ़ाया—२६

आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीयें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ उनसे अपना अंग सजाओ॥

'एक साथ सब जीयें मरें'—यही सामूहिक जीवन के स्पन्दन में गुप्तजी की राष्ट्रीय भावना का चरम प्रतिफलन है। इसे जनवाद कह लें या प्रगतिवाद। कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उनके लिए "नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' राष्ट्रीय जीवन का वरदान था।

ऐसे महान् युगपुरुष को साम्प्रदायवादी कहना उनकी राष्ट्रीयता का अपमान है। वे 'हिन्दूपन' पर जोर देते थे किन्तु सम्प्रदायवादी नहीं थे। उनका 'भारतमित्र' हिन्दुओं की तरफदारी करता है और वह तरफदारी किसी मजहब वाले से लड़ाई करके नहीं दूसरे मजहब को अपने मजहब में मिलाने के लिये नहीं केवल हिन्दुओं की मुल्की माली और राजनीतिक तरफदारी है। १

---

२५ जमाना (१९०६) में प्रकाशित बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली १०६
२६ स्फुटकविता—स्वदेशी आन्दोलन
२० भारतमित्र—१९००
१

कारण से अपनी भाषा का अनादर अपने आपकी अवज्ञा है
और भी सजग थे। वे समग्र भारत की एक भाषा और एक लि
थ। भविष्यद्रष्टा की भाँति उन्होंने कहा था—"यद्यपि बँगला
भारतवर्ष की अन्य कई भाषाओं से हिन्दी अभी पीछे
भारतवर्ष में यह विचार फैलता जाता है कि इस देश की प्र
ही है और वही यहाँ की राष्ट्र भाषा होने के योग्य है।
मानने वाले हैं कि सारे भारतवर्ष में देवनागरी प्रचार
उचित है। [२२]

अंग्रेजी इस समय अंग्रेजों की या संसारव्यापी भाषा बना
सारी पृथ्वी की भाषा बनती जाती है। वह बने उ
हमारा मकदूर नहीं है पर तो भी यदि हिन्दी का
की भाषा बना सकें तो अंग्रेजी के बाद दूसरा दर्जा
होगा। [२३] इस कथन में कितनी व्यावहारिकता
बड़ी ऐतिहासिक उपलब्धि ?

जिस प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में वे हिन्दी की प्रति
राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी की। हम
समझ नहीं सकते थे। 'एक ही कोठी में दस मुसाफ
निकलते हैं। एक के हरफ दूसरा सहसा नहीं समझ
के पीछे वह लोग बिना ही सो बैठे। यदि यह सब भ
बन जायें तो कितना अच्छा हो ? [२४]

प्रचलित सभी भारतीय लिपियों में उन्होंने देवनागरी
और उपादेय माना। उनकी देशानुरागिता एक लिपि
उन्होंने उर्दू वालों से कहा—"हम उमीद करते हैं कि
लिये झगड़ा करते हैं वह समझ लेंगे कि हिन्दी
उनकी क्या गर्ज है। उर्दू वालों से किसी किस्म का
चाहते हैं और न उर्दू को नुकसान पहुँचाना चाहते
वह सारे हिन्दुस्तान में जल्द फैलाना चाहते हैं। जिस
उतनी करीब-करीब आ जायें। सब हिन्दुओं और हि

---

२२. राष्ट्रभाषा और लिपि .. .. ११०
२३. भारतमित्र १९०४ –भारत की भाषा शीर्षक निबन्ध
२४. भारतमित्र १९०२ ई., बालमुकुन्द निबन्धावली।

# भारतमित्र के तेजस्वी सम्पादक

श्री कृष्ण बिहारी मिश्र

कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के तीसरे दौर का नेतृत्व बालमुकुन्द गुप्त के हाथ में था जिन्हें अपनी जातीय निष्ठा और उग्र राष्ट्रीयता के कारण कालाकांकर के राजा रामपाल सिंहके 'हिन्दोस्थान' पत्रकी नौकरीसे हाथ धोना पड़ा था। राजा साहब ने स्वीकारा था कि गुप्तजी गवर्नमेंट' के विरुद्ध बहुत कड़ा लिखते हैं अतएव इस स्थान के योग्य नहीं हैं, च्युत कर दिये जांय। इस पर टिप्पणी करते हुए पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'हिन्दी पत्रकार कला के इतिहास में यह शायद पहला ही मौका था जब कि 'गवर्नमेंट के विरुद्ध बहुत कड़ा लेख' लिखने के कारण किसी पत्रकार को च्युत किया गया हो। अपनी कड़ी नीति और जातीय निष्ठा के आग्रह से गुप्तजी सदैव अन्याय और अनौचित्य से लड़ते रहे। वे एक सचेत पत्रकार थे। जिन्हें युगीन चेतना की नब्ज की हर धड़कन की सही पहचान थी। 'हिन्दी अखबार' का इतिहास लिखते हुए 'भारतमित्र' के वैशिष्ट्य के प्रसंग में उन्होंने एक विशेष स्थिति का संकेत दिया है "जिसकी जो चाल है उसी पर चलने से उसकी उन्नति होती है। उसके बिगड़ने से बहुत भारी हानि होती है। यह एक अटल सिद्धान्त है। पर दुःख है कि हिन्दुओं में कुछ लोग इस सिद्धान्त से विचलित होकर अपने को कमजोर बना रहे हैं। क्या मुसलमान क्या इस्लाम सब अपनी अपनी चाल पर चलते हैं अपने अपने धर्म का आदर करते हैं अपनी अपनी धर्म की बातों पर दृढ़ हैं केवल हिन्दू ही भटकते हैं। यह बड़े दुःख की बात है। गुप्तजी के पूरे कार्य-काल में यह जातीय पीड़ा उनके मन में जमी रही। कदाचित् यही कारण है कि वे सदैव सचेत रहे। उनकी जागृति का ही परिणाम था कि औचित्य के पक्ष

सम्पादन में उनसे कभी चूक नहीं हुई। इस प्रकार 'स्व० गुप्तजी ने जीवन भर सचाई, ईमानदारी और सादगी की पूँजी रखकर स्वार्थ, भ्रष्टाचार और अनैतिकता के विरुद्ध अनवरत संघर्ष किया। अपने स्वाभिमान तथा अपने आदर्शों की खातिर उन्होंने यह कभी नहीं किया कि 'हिन्दी-बङ्गवासी' अथवा 'भारतमित्र' के कार्यालय में पहुँचने से पहले अपने विचार स्वाभिमान तथा आदर्श को खूँटी पर टांग दो और संचालकों की खातिर जैसी आज्ञा हुई वैसा लिखा हो। 'बंगवासी' में जब एक बार ऐसी नौबत आई तब वे उसके कान में कलम खोंस इस्तीफा देकर चले आये।

हिन्दी बंगवासी में मित्रों के विशेष आग्रह-अनुरोध पर वे पचास रुपये वेतन पर आये थे। पं० अमृत लाल चक्रवर्ती ने लिखा है कि जिस समय गुप्तजी ने हिन्दी बङ्गवासी में आकर हिन्दी लिखने में परिश्रम करना आरम्भ किया था उस समय की हिन्दी से वर्तमान हिन्दी की तुलना करने वाले निःसंकोच कह देंगे कि हिन्दी भाषा के लिये मानो युगान्तर उपस्थित हुआ है।" छह वर्षों तक गुप्तजी ने हिन्दी बंगवासी के माध्यम से हिन्दी की जो सेवा की उसका मूल्यांकन स्वतन्त्र अनुशीलन की अपेक्षा रखता है।

भारतमित्र के सम्पादक के रूप में गुप्तजी का दूसरी बार कलकत्ता आगमन जनवरी १८९९ के दूसरे सप्ताह में हुआ और १६ जनवरी १८९९ तक का "भारत मित्र' उनके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ।

यह राष्ट्रीय जागृति का काल था। स्वदेशी के प्रति आग्रह बढ़ रहा था। स्वराज्य का अर्थ अर्धशिक्षित राष्ट्रीय नेताओं के सामने स्पष्टतर होता जा रहा था, और धार्मिक उन्नयन के बहुविध प्रयत्न आरम्भ हो गये थे। बङ्गाल नेतृत्व कर रहा था और विदेशी शासन के प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा था।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्ष लार्ड कर्ज़न के कुकर्मों लिये काफी चर्चित रहे। भारतीय राष्ट्रीय शक्ति को विघटित करने के लिए कर्जन ने नाना प्रकार के हथकंडों का आश्रय लिया था। कर्जन के अनुदार्पूर्ण शासन की चर्चा करते

लार्ड कर्जन के ऐसे कार्य थे, जिनसे राजभक्त भारत की कमर टूट गयी और सारे देश में एक नई स्पिरिट पैदा हो गई। निःसन्देह बंग-विच्छेद बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की सबसे बड़ी दुर्घटना थी जिस पर टिप्पणी करते हुये लोकमान्य तिलक ने लिखा था कि लार्ड कर्जन बंगालियों की संघशक्ति को कुचलना चाहता है क्योंकि इसे डर है कि कहीं वे अंग्रेजी सरकार पर हावी न हो जाँय। स्मरणीय है कि बंगीय जातीय चेतना इतनी बलवती और उग्र थी कि स्वयं कर्जन आतंकित हो गया था किन्तु इस आतंक से त्राण पाने के लिये उसने जिस मार्ग का अवलम्बन किया वह उसके उद्देश्य के सर्वथा प्रतिकूल पड़ा। इस प्रकार 'सरकार की उत्तरोत्तर उग्र रूप धारण करने वाली दमन नीति के कारण नव जाग्रत चेतना भी सचमुच व्यापक विस्तृत और गहरी होती गयी। देश के एक कोने में जो घटना होती थी वह सारे देश में फैल जाती थी। सरकार का प्रत्येक दमन-कार्य देश में उसका असर करता था। सम्पूर्ण भारत ने बंगाल के प्रश्न के साथ अपनी समस्याओं को और जोड़ कर आन्दोलन को ज्यादा गहरा रंग दे दिया।

बंगाल के नेतृत्व का दायित्व उस नयी पीढ़ी के हाथों में आ गया जिसकी शिक्षा और राजनीतिक संस्कार पं० शिवनाथ शास्त्री और राजनारायण बोस के निर्देशन में हुआ था और जिसकी आस्था भाषण में कम और कार्य में अधिक थी। स्वावलंबन इसका मंत्र था और पूर्ण स्वराज्य इसका एक-मात्र लक्ष्य था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में इस नयी राष्ट्रीय भूमिका को अभिव्यक्ति मिली जिसका निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था।

स्वदेशी आन्दोलन की गति निरन्तर तेज होती गयी। उक्त आन्दोलन को वैचारिक अवलम्ब देने वालों में विपिन चन्द्र पाल अरविन्द घोष और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नेतृत्व कायम ही था। विपिनचन्द्र पाल अरविन्द घोष और रवीन्द्र की वृहत्त्रयी मात्र राजनीतिक स्वातंत्र्य आन्दोलन के पक्ष में नहीं थी बल्कि इसका महान् उद्देश्य था—राष्ट्र का आध्यात्मिक-पुनर्जागरण। इसके सक्रिय सहयोगियों में बंगाल में ब्रह्मबान्धव उपाध्याय अश्विनीकुमार दत्त, मनोरंजन गुहा ठाकुर्ता और भगिनी निवेदिता थीं। अन्य बंगाली समर्थकों में आशुतोष चौधुरी, अब्दुल रसूल, हीरेन्द्रनाथ दत्त और चित्तरञ्जन दास थे।

स्वदेशी आन्दोलन के आदर्श की चर्चा करते हुए 'न्यू इंडिया' में विपिनचन्द्र पाल ने २५ फरवरी १९०५ ई० को लिखा था हमारा आदर्श जिसे हम स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं क्रान्तिकारी हो सकता है और है भी। हमारी देशभक्ति केवल इसी अर्थ में राजभक्ति के निकट है कि हम विधि-पालक हैं हमारे साथ राजभक्ति का दूसरा कोई आधार नहीं। इसी प्रकार वन्दे मातरम् के माध्यम से १९०६ में विपिन चन्द्र पाल ने घोषणा की थी कि अब समय आ गया है जब नागरिकता सम्बन्धी उन्नति तथा सत्य और व्यक्ति स्वातंत्र्य की दृष्टि से हम अपने अंग्रेज मित्रों को बता दें कि उनके उपकार के प्रति हम आभारी हैं किन्तु अब हम अपनी राजनीतिक प्रगति और मुक्ति के प्रयत्न में उनके निर्देशन से और अधिक पीड़ित होना नहीं चाहते। उनके और हमारे दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है। वे ब्रिटिश सरकार को कायम रखकर यश प्राप्त करना चाहते हैं। हम भारत को ब्रिटिश पराधीनता से पूर्ण स्वतन्त्र करना चाहते हैं।

देश भक्ति की एक नयी धारणा मूर्त हुई कि 'स्वदेश माता है स्वदेश भगवान है यही वेदान्त सिद्धान्तर्गत महती शिक्षा जातीय अभ्युत्थान का बीज है। जैसे जीव भगवान का अंश है उसकी शक्ति भगवान की शक्ति का अंश है वैसे ही यह सात कोटि बंग-वासियों का तीस कोटि भारत-वासियों का समुदाय सर्वव्यापी वासुदेव का अंश है इन तीस कोटि मनुष्यों की आश्रय दायिनी शक्ति-स्वरूपिणी बहुभुजान्विता बहुबलधारिणी भारत जननी भगवान की एक शक्ति है, माता जगज्जननी काली की देह विशेष है। उक्त धारणा को और स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने अपनी पत्नी के नाम लिखे पत्र में कहा था कि अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ कुछ मैदान खेत वन पर्वत नदी भर समझते हैं, मैं स्वदेश को माँ मानता हूं। उसकी छाती पर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिये उद्यत हो तो बालक क्या करता है? निश्चिन्त होकर भोजन करने स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिए बैठ जाता है या माँ का उद्धार करने के लिए दौड़ पड़ता है? मैं जानता हूं कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है शारीरिक बल नहीं तलवार या बन्दूक लेकर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूं ज्ञान का बल है। क्षात्र तेज एकमात्र तेज नहीं है ब्रह्मतेज भी है वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है। स्मरणीय है कि श्री अरविन्द का झुकाव ज्ञान-कर्म की ओर ही कम न था और शक्ति की उपासना में उनकी पूरी

आस्था थी। प्रथम राजनीतिक गतिविधिया के साथ ही प्रच्छन्न हिंसापरक संगठनों में भी उनकी रुचि थी। अस्तु।

रवीन्द्र विश्वविख्यात साहित्यिक थे। राजनीति उनका विषय नहीं था तथापि स्वदेशी आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया। उन्होंने अपने भतीजे बालेन्द्रनाथ टैगोर के सहयोग से कलकत्ता में एक स्वदेशी वस्त्र भंडार खोला था। राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति को प्रायोगिक रूप देने के लिए सतत प्रयत्न किया था। अनावश्यक राजनीतिक भार से जब स्वदेशी आन्दोलन की रचनात्मक शक्ति क्षीणने लगी तो रवीन्द्रनाथ ने उससे अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। रवीन्द्रनाथ के जातीय अवदान को ऐतिहासिक महत्व देते हुए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है वह राजनीतिज्ञ नहीं थे लेकिन वह हिन्दुस्तानी जनता की आजादी के प्रति इतने सचेत और इतने आसक्त थे कि वह हमेशा ही अपने काव्य और संगीत के ऐन्द्रजालिक सौन्दर्य में नहीं रह सकते थे। राजनीतिक घटनाचक्रों से उन्मथित होकर उन्होंने प्राय: भारतीयों और ब्रिटिश सरकार को देवदूत जैसी भाषा में चेतावनी दी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों म बंगाल में जो स्वदेशी आन्दोलन चला उसमें उन्होंने भाग लिया।

इस युग के बंगीय पत्रों में 'युगान्तर' 'संध्या' और 'वन्देमातरम्' तेजस्वी पत्र थे जो युग चेतना के अधिक समीप थे। 'वन्देमातरम्' अरविन्द घोष और विपिन चन्द्र पाल के सम्पादकत्व में प्रकाशित होता था। इसका आदर्श था कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वेच्छया विकास करने और कायम रहने का अधिकार है और यह कि जन राज्य अथवा—राजशक्ति का अभिग्रहण भारतीय पुनर्जागरण के लिए पहली शर्त है और इसलिये समग्र जातीय चेतना को इस आदर्श की ओर केन्द्रित करने का वन्देमातरम् आग्रह करता था।

यही बंगीय और भारतीय जातीय परिवेश था बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों का जिसने हिन्दी पत्रकारिता को बहुत प्रभावित किया था। यों कहना चाहिये कि हिन्दी पत्रकारिता इस जातीय आन्दोलन के प्रति पूरी तरह सचेत रही और उसने अपने दायित्व का पालन किया।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में पहले पहल स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया था। कलकत्ता कांग्रेस (१९०६) के समाप्ति

दा भाई नौरोजी ने 'औपनिवेशिक शासन' के स्थान पर स्वराज्य शब्द की स्थापना की थी। बंगभंग के समय राजनीतिक परिवेशकों में प्रवेश किया था। जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है और जिससे हिन्दी पत्रकारिता का नयी गति और नया स्वर दिया था।

र्ड कर्जन के दिल्ली दरबार में अंग्रेजी समाचार पत्र-सम्पादकों के साथ भारतमित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी सम्मिलित हुए थे। ११ अप्रैल १९०३ ई० के भारतमित्र में शिवशम्भु के चिट्ठे और खत की पहली किस्त (बनाम लार्ड कर्जन) प्रकाशित हुई। सम्पादक गुप्तजी ने मानो लार्ड कर्जन को ललकारते हुए बड़ी साफ भाषा में उनके कुकृत्यों का उद्घाटन किया 'आपने माई लार्ड! जब से भारतवर्ष में पधारे हैं बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने योग्य काम भी किया है? खाली अपना खयाल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिये भी कुछ कर्तव्य पालन किया। एक बार यह बातें बड़ी धीरता से मन में विचारिये। आपकी भारत में स्थिति की अवधि के पाँच वर्ष पूरे हो गये अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूद में मूलधन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिये नुमायशी कामों के सिवा काम की बात आप कौन सी कर चले हैं और भड़कबाजी के सिवा ड्यूटी और कर्तव्य की ओर आपका इस देश में आकर कब ध्यान रहा है इस बार के बजट की वक्तृता ही आपके कर्तव्य काल की अन्तिम वक्तृता थी जरा उसे पढ़ तो जाइये फिर उसमें आपकी पाँच साल की किस अच्छी करतूत का वर्णन है? आप बारम्बार अपने दो अति तुमतराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मेमोरियल हॉल और दूसरा दिल्ली दरबार। पर जरा विचारिये तो यह दोनों काम 'शो' हुए या 'ड्यूटी'? विक्टोरिया मेमोरियल हाल चन्द पेट भरे अमीरों के एक दो बार देख आने की चीज होगा। उससे दरिद्रों का कुछ दुःख घट जायेगा या भारतीय प्रजा की कुछ दशा उन्नत हो जावे ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।

कर्जन के दायित्व की ओर संकेत करते हुए गुप्तजी ने बड़ी कड़ी भाषा में कहा था 'जिस पद पर आप आरूढ़ हुए, वह आपकी मौरूसी नहीं—नदी नाव संयोग की बात है। आगे भी कुछ आशा नहीं कि इस बार छोड़ने के बाद आपको इसका कुछ मौका रहे। किन्तु जितने दिन आपके हाथ में शक्ति है उतने दिन कुछ करने की भी शक्ति है। जो कुछ आपने दिल्ली आदि में

कर दिखाया कर उसमें आपका कुछ मा न था पर वह सब कर दिखाने की
शक्ति आपमें थी। इसी प्रकार आने से पहले इस दश के लिए कोई असली
काम कर जाने की शक्ति आप में है इस देश की प्रजा के हृदय में कोई
स्मृतिमन्दिर बना जाने की शक्ति आप में है। पर यह सब तब हो सकता
है कि वैसी स्मृति की कुछ कदर आपके हृदय में भी हो। स्मरण रहे
धातु की मूर्तियों के स्मृतिचिह्न से एक दिन किस का मैदान भर जाएगा।
महारानी का स्मृतिमन्दिर मैदान की हवा रोकता था या न रोकता था
पर दूसरों की मूर्तियां इतनी हो जावेंगी कि पचास पचास हाथ पर हवा को
टकरा कर चलना पड़ेगा। जिस देश में लार्ड लैंसडोन की मूर्ति बन सकती
है उसमें और किस किसकी मूर्ति नहीं बन सकती। माई लार्ड क्या आप
भी चाहते हैं कि उसके आस पास आपकी एक वैसी ही मूर्ति खड़ी हो?
'यह मूर्तियां किस प्रकार की स्मृति चिन्ह हैं? इस दरिद्र देश के बहुत से धन
की एक ढेरी है जो किसी काम नहीं आ सकती 'खुलासा बात यह है
कि एकबार 'यो और 'इयूटी' का मुकाबिला कीजिये। 'यो' को 'यो' मन
लिये। 'यो' 'इयूटी' नहीं है। माई लार्ड आपकी दिल्ली दरबार की याद कुछ
दिनों बाद उतनी ही रह जावेगी जितनी शिवशम्भु शर्मा के सिर में बालकपन
के उस सुख स्वप्न की है। इसी क्रम में भारतमित्र के ११ सितम्बर १९ ४
के अंक में वायसराय के कर्तव्य शीर्षक से 'शिव शम्भु के चिट्ठे' और गत की
तीसरी किस्त प्रकाशित हुई जब कर्जन दूसरी बार भारत के गवर्नरजनरल
होकर आये। उनके कार्यों का समुचित मूल्यांकन करते हुए गुप्तजी ने
लिखा था कि आपने गरीब प्रजा की ओर न कभी दृष्टि खोलकर देखा न
गरीबों ने आपको जाना। अब भी आपकी बातों से आपकी वह चेष्टा
नहीं पाई जाती। इससे स्मरण रहे कि जब आने पद को त्याग कर आप
फिर स्वदेश में जावेंगे तो चाहे आपको अपने दिल ही पुनर्जीवन करने
का अवसर मिले यह तो कभी न कह सकेंगे कि कभी भारत की प्रजा का
मन भी अपने हाथ में किया था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो
शासक प्रजा के धरातल पर पूरी सहानुभूति के साथ उतर कर उसके दुःख
दर्द के समीप नहीं पहुँचता उसकी समझ में आत्मीयता सहज और विश्वस
नीय भाषा में उसे आश्वास बोध नहीं देता और उस सक्रिय सहानुभूति
नहीं देता तो चाहे वह कितना भी पराक्रमी क्यों न हो शासित वर्ग के चित्त
पर विजय नहीं प्राप्त कर पाता। लार्ड कर्जन इस दृष्टि से बहुत ही असफल
१

शासक था। उसे शासित वर्ग की चिन्ता नहीं थी उस वर्ग के लोगों के मनोभाव का जरा भी ध्यान नहीं था और अक्सर उनके मर्मबिन्दुओं पर प्रहार किया करता था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अपने भाषण में कर्जन ने पूर्व के लोगों को मिथ्यावादी तथा सत्य का अनादर करने वाला कहा था। यह भारत की प्रतिष्ठा पर सीधा प्रहार था जिसका उत्तर 'भारतमित्र' के माध्यम से गुप्तजी ने दिया था 'जिस देश को श्रीमान ने आदर्श सत्य का देश कहा और वहां के लोगों को सत्यवादी कहा है उसका खासा नमूना क्या श्रीमान् ही हैं ?

अपनी सत्यवादिता प्रकाश करने के लिए दूसरे को मिथ्याभाषी कहना ही क्या सत्यवादिता का सबूत है।

बड़ी पीड़ा के साथ गुप्तजी ने अपनी बात पूरी की है कि 'यह देश भी यदि विलायत की भांति स्वाधीन होता और यहां के लोग ही यहां के राजा होते तब यदि अपने देश के लोगों को यहां के लोगों से अधिक सच्चा साबित कर सकते तो आपकी अवश्य कुछ बहादुरी होती।

भारत आप के लिए भोग्य भूमि है। किन्तु इस देश के लाखों आदमी इसी देश में पैदा होकर आवारा कुत्तों की भांति भटक-भटक कर मरते हैं। उनको दो हाथ भूमि बैठने को नहीं पेट भर कर खाने को नहीं मैले चिथड़े पहन कर उमरें बिता देते हैं और एक दिन यहीं पड़कर चुपचाप प्राण दे देते हैं।

कभी इस देश में आकर आपने गरीबों की ओर ध्यान नहीं दिया। कभी यहां की दीन भूखी प्रजा की दशा पर विचार न किया। कभी दस मीठे शब्द सुनाकर यहां के लोगों को उत्साहित नहीं किया—फिर विचारिए तो गालियां यहां के लोगों को आपने किस कृपा के बदले में दीं ? पराधीनता की सबक की में बड़ी भारी चोट होती है। माई लार्ड ! इस देश की प्रजा को आप नहीं चाहते और यह प्रजा आपको नहीं चाहती फिर भी आप इस देश के शासक हैं और एक बार नहीं दूसरी बार शासक हुए हैं यही विचार कर इस मजबूर अंगद ब्राह्मण का नया फिर-फिर हो-हो जाता है।

कहना न होगा कि साम्राज्यवादी के विरुद्ध इतनी कड़ी बात केवल वही कह सकता है जो देश के लिए, देशोत्थान के लिए प्राणोत्सर्ग करने को हर समय उद्यत रहता हो। उस युग के हिन्दी पत्रकार भी कुछ लिखने से बहुत सुविचारित होता था और देश के लिए भारी से भारी यन्त्रणा भेलने-सहने भी

सदैव उनकी मानसिक तैयारी रहती थी । पं० माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों
में कहें कि 'परतंत्र देशों का सच्चा पत्र-सम्पादन विदेशी राजकर्ताओं से सीधा
लोहा लेना उनके स्वार्थों पर बिना झिझके पैर रखना होता है । बाबू
बालमुकुन्द गुप्त का पत्र-सम्पादन इसी कोटि का था । उनकी कथनी और
करनी में कहीं खाई नहीं थी । जिस दरिद्र भारतीय जनता का गुप्तजी ने
उल्लेख किया है उसके दुख दर्द में गुप्तजी सक्रिय रुचि लेते थे । द्विवेदी युग के
प्रमुख साहित्यकार स्व० पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय ने एक ऐसे प्रसंग की चर्चा
की है उनके सम्पादन काल में 'भारतमित्र' का प्रचार मध्यप्रदेश जैसे सुदूर
प्रान्त के ग्रामों में भी था । इसका कारण था ग्रामीण जनता के दुख-दर्द
अभाव अभियोग के समाचार गुप्तजी बड़ी सहानुभूतिपूर्वक प्रकाशित
करते थे ।

देहात के गांवों में इधर उस समय कुएँ कहीं नहीं थे । लोग तालाब पोखर
तथा नदी या नाले के पानी से लोगों का निर्वाह हुआ करता था । जलकष्ट
का समाचार पं० दक्षिणाधर ने भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ भेजा था । वे
'भारतमित्र' के ग्राहक थे । देहात से आए हुए समाचारों पर गुप्तजी विशेष
ध्यान रखा करते थे । समाचार छपकर आया तो उसके साथ-साथ सम्पादक
द्वारा लिखित एक टिप्पणी भी छपी हुई देखने में आयी । टिप्पणी में सम्पादक
ने लिखा था कि रियासत सरकार ऐसे गांवों में कुआँ खुदवा कर जल-कष्ट
निवारण क्यों नहीं करती ? कहने का अभिप्राय यह कि वे भारत के नगरों
और ग्रामों के सुधार एवं उत्थान के हेतु एक सच्चे मित्र की भाँति अपने
कर्तव्य-पालन में निरन्तर तत्पर रहा करते थे । इस प्रकार स्पष्ट है कि
गुप्तजी की दृष्टि एकांगी नहीं थी वे देश के एक छोटे वर्ग को दृष्टि में
रखकर जातीय व्यवस्था देनेवाले पत्रकार नहीं थे और न तो उनके मन में
कभी सुविधावाद से समझौता करने की दुर्बल प्रवृत्ति ही जगी । इन्हीं
चारित्रिक विशेषताओं का परिणाम था उनकी निर्भीक वाणी । २ सितम्बर
१९०५ के भारतमित्र में जो विदाई सम्भाषण लिखा था उसमें कई महत्वपूर्ण
प्रश्न उठाए थे जिनकी उपयुक्तता आज स्वाधीन भारत में भी ज्यों की त्यों
बनी हुई है "क्या आँख बन्द करके मनमाने हुक्म चलाना और किसी की
कुछ न सुनने का नाम ही शासन है ? क्या प्रजा की बात पर कभी कान न
देना और उसको दबाकर उसकी मर्जी के विरुद्ध जिद से सब काम किए चले
जाना ही शासन कहलाता है ? एक काम तो ऐसा बताइए जिसमें आपने जिद

झाड़कर प्रजा की बात पर ध्यान दिया हो। कैसर और ज़ार भी बेलने-बोलने से प्रजा की बात सुन लेते हैं पर आप एक मौका तो ऐसा बताइए जिसमें किसी अनुरोध या प्रार्थना सुनने के लिए प्रजा के लोगों को आपने अपने निकट फटकने दिया हो और उसकी बात सुनी हो। नादिरशाह ने जब दिल्ली में कत्ले आम किया तो आसिफजाह के तलवार गले में डालकर प्रार्थना करने पर उसने कत्ले आम उसी दम रोक दिया। पर आठ करोड़ प्रजा के गिड़गिड़ाकर बंग विच्छेद न करने की प्रार्थना पर आपने जरा भी ध्यान नहीं दिया।
आखिर में भी बढ़कर आपकी ज़िद है। कर्ज़न की इस ज़िद के चलते १६ अक्टूबर १९०५ ई० को बंग-विच्छेद होकर रहा जिसकी देशव्यापी गहरी प्रतिक्रिया हुई और जिसपर 'भारतमित्र' के माध्यम से २१ अक्टूबर १९०५ ई० को बालमुकुन्द गुप्त ने टिप्पणी की थी कि "भारतवासियों के जी में यह बात जम गई कि अंग्रेजों से भक्तिभाव करना वृथा है प्रार्थना करना वृथा है और उनके आगे रोना गाना वृथा है। दुर्बल की वह नहीं सुनते। वाणी की यह निर्भीकता आज के पत्रकारों में दुर्लभ है।

दौर्बल्य-निवारण के लिए भारतवासियों ने शक्ति की उपासना शुरू की थी जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। सरकार की दमन-नीति की प्रतिक्रिया कितनी गहरी होती थी और जातीय-जागृति को उससे कैसे नया संचार मिलता था इसका उल्लेख किया गया है। पूर्वी बंगाल के गवर्नर सर फुलर ने विशिष्ट नागरिकों को धमकी दी थी कि 'सम्भव है खून-खराबी करनी पड़े। फुलर साहब की धमकी का जवाब देने के लिए बालमुकुन्द गुप्त ने शाइस्ता खाँ का खत—फुलर साहब के नाम लिखा था जिसके द्वारा फुलर की आत्यंतिक अगतिज्ञता और अत्याचार पर करारा व्यंग्य प्रहार किया गया था। और आखिर में फुलर को एक दोस्ताना सलाह देते हुए सम्पादक ने लिखा था
रैयत के दिल में खुदा का सिक्का बैठता है जुल्म का नहीं।
अपने आका से साबित कर दो कि तुम इन्सान हो मुसलमान हो यहाँ की रैयत को पालने आये हो लाखों को गिरी हालत से उठाने आये हो। लोग यह न समझें कि मनमर्जी हो या जुल्मत ही अपने मतलब के लिए इस मुल्क के लड़कों को 'वन्देमातरम्' कहने से भी बन्द करते हो। खत की दूसरी किस्त १८ अगस्त १९०६ को 'भारतमित्र' में छपी थी जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं 'तुम चन्द मत कहने से ही क्या है ? पर जो तुम्हारे जानशीन होंगे वह तुम ज्यों कि जमाने के बदले रिआया को साथी

मार के कोई नहीं रोक सकता। दूसरों को तंग करके कोई सुख नहीं पा सकता। अपने मुल्क को जाओ और सुना टी०बी० ने तो हिन्दुस्तान के लोगों को कभी-कभी दुमायेकर से मार करना। जमाने को देखते हुए यह एक बहुत कड़ी बात थी। सत्य का समर्थन करते समय कड़ी बात का निकलना नितान्त स्वाभाविक है। सत्य का समर्थन पत्रकार के लिये एक अनिवार्य गुण माना जाता है।

गुप्तजी की मार्मिक शक्ति इतनी पुष्ट थी कि अनेक विधाओं में वे अपनी अभिव्यक्ति आसानी से दे पाते थे। भारतमित्र म प्रकाशित शिवशम्भु के चिट्ठे और शाइस्ता खाँ के खत जैसी ही चर्चा गुप्तजी द्वारा लिखित और भारतमित्र में प्रकाशित 'टेसू' की भी होती थी।

निःसन्देह 'भारतमित्र' राजनीतिक पत्र था किन्तु गुप्तजी ने उसे एकांगिता से बचाया और स्वयं भाषा साहित्य व्याकरण साहित्यिक संस्मरण धर्म इत्यादि विषयों पर लेख लिखकर 'भारतमित्र' में प्रकाशित किये और उसे अपेक्षित पूर्णता दी। एक बार 'आर्यावर्त' ने 'भारतमित्र' के नाम और उद्देश्य में असंगति दिखलाते हुए गलत आरोप लगाया था जिसके उत्तर में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने एक लम्बी टिप्पणी दी थी भारतमित्र भारतवर्ष का कायल है। भारतवर्ष हिन्दुओं का देश है—हिन्दुओं की इसमें प्रधानता है। हिन्दुओं ने ही भारतमित्र को जन्म दिया है जिन लोगों ने इसे चलाया है वह हिन्दू हैं और जो इसको लिखते हैं वह भी हिन्दू हैं इसीसे भारतमित्र हिन्दुओं का तरफदार है और वह तरफदारी किसी मजहब वाले से लड़ाई करके नहीं दूसरे मजहब को अपने मजहब में मिलाने के लिये नहीं बल्कि हिन्दुओं की सुख्याति और राजनीतिक तरफदारी है। हिन्दुस्तान में ही 'पायनियर' और 'इंग्लिश मैन' आदि पत्रों को देखिए वह अंग्रेज जाति के किस प्रकार तरफदार हैं। पोलिटिकल रीति से जो कुछ तरफदारी स्वजाति की करनी चाहिए सो वह करते हैं। स्वजाति प्रेम स्वदेशानुराग मनुष्य का धर्म है। हम एक बात अपने सहयोगी 'आर्यावर्त' से कहते हैं। वह यह है कि यदि आपके भी कोई देश हो आपके भी कोई जाति हो आपके भी कोई धर्म हो और उस धर्म में कुछ भी श्रद्धा भक्ति की बात हो तो उसका पालन कीजिए, उसकी तरफदारी कीजिए हम उसकी प्रशंसा करेंगे और हमारे लिए भी आशीर्वाद कीजिए कि हम अपने धर्म में सदा पक्के रहें। इस तरह की निष्पक्षी और सहायता भाव प्रायः भारतमित्र के माध्यम से होती रही।

'भारतमित्र' के माध्यम से भाषा और व्याकरण सम्बन्धी जो विवाद शुरू हुआ था उसका भी ऐतिहासिक महत्व है। यद्यपि इस विवाद में व्यक्तिगत आक्रोश भी दिखाई पड़ता है और एक ने दूसरे के व्यक्तित्व पर भी आक्रमण किया था किन्तु आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू बालमुकुन्द गुप्त के इस संघर्ष की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि व्याकरण-व्यवस्था को एक नया आयाम मिला। इस संघर्ष का ऐतिहासिक महत्व इससे भी घोषित होता है कि इस में उस युग के सभी मूर्धन्य हिन्दी वैयाकरण आचार्य और पण्डितों ने सक्रिय भाग लिया था—स्मरणीय है कि इसका प्रवर्तन गुप्तजी ने ही 'भारतमित्र' के माध्यम से किया था। 'भारतमित्र' ने लिपि के प्रश्न को भी बड़े वैचारिक ढंग से उठाया था और भारतवर्ष की सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी लिपि की प्रतिष्ठा के आकांक्षी और सतत प्रयोगी स्व० जस्टिस शारदाचरण मित्र के महत् उपक्रम का बालमुकुन्द गुप्त ने अपने लेखों द्वारा प्रशंसा और पूर्ण सम्पुष्टि की थी। इस सम्बन्ध में गुप्तजी ने बतन से भी 'जमाना' के अप्रैल-मई १९०७ ई० के अंक में एक बड़ा लेख लिखा था। दिवंगत साहित्यकारों का श्राद्ध-अनुष्ठान भी गुप्तजी द्वारा 'भारतमित्र' के माध्यम से सम्पन्न हुआ था। अपने समकालीन अनेक देशी विदेशी हिन्दी के उन्नायकों और हिन्दी-हित-चिन्तकों के बारे में 'भारतमित्र' सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लेख लिखे थे। ये निबन्ध इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्दी का उन्नायक पत्रकार अपने दायित्व के प्रति कितना सजग था।

'भारतमित्र' में सन् १९०५ में उर्दू अखबारों का इतिहास और १९०६ ई० में हिन्दी संवाद पत्रों का इतिहास प्रकाशित हुआ था। लेखक 'भारतमित्र' सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ही थे जो हिन्दी के साथ ही उर्दू के भी पत्रकार रह चुके थे और जिनका उर्दू और हिन्दी भाषा पर समान अधिकार था। हिन्दी संवाद पत्रों का इतिहास प्रकाशन वस्तुतः 'भारतमित्र' का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक अवदान है जिसका सम्पूर्ण श्रेय गुप्तजी को है।

गुप्तजी को जब हम श्रेष्ठ पत्रकार कहते हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उन्हें राजनीति की नब्ज की सही पहिचान थी। भाषा पर असाधारण अधिकार था। वे हिन्दी के अन्यतम शैलीकार और विशिष्ट साहित्यकार थे। इन्हीं विशेषताओं को लेकर वे यशस्वी पत्रकार बन सके थे। इस प्रकार (पं० सीताराम शर्मा के शब्दों में) वे अपने युग के सक्षम और युग निर्माता पत्रकार थे। उनकी पत्रकारिता में चार चाँद इसलिये और लग गये थे कि वे उस समय

की उग्र राजनीति के पोषक थे। वे कोरे कलमतोड़ पत्रकार न थे जो टकों की खातिर अपने विचारों को बेचते हैं। जीवन का मूल्यांकन गुप्तजी रुपये पैसे से न करते थे वरन् करते थे परिश्रमशीलता, कर्तव्यपरायणता सच्चाई और सच्ची ईमानदारी से, उनकी लेखनी द्वारा देश की आत्मा की मर्मध्वनि—जनता की पुकार—लिपिबद्ध होती थी। अहंकार, दंभ और मुफ्तखोरी के गढ़ों पर उनके लेख गोले बरसा करते थे। जिस विषय में उन्होंने लिखा उसमें एक नवीन जीवन और नई स्फूर्ति स्पन्दित होती थी।

* * *

# गुप्त जी के व्यंग्य-विनोद

श्री रघुनन्दन मिश्र

बालमुकुन्द गुप्त का नाम सामने आते ही जैसे एक युग सामने चला आता है। मातृ भूमि तथा मातृ भाषा की सेवा करने वाले अनेक साधकों की साकार प्रतिमाएँ मानस में उभर आती हैं। युग का आरम्भ हुआ था साहित्याकाश के कलाधर भारतेन्दु से। इनका शंखनाद सुनाई दिया नवजागरण का मगन प्रभात हुआ। नवीन प्रेरणा के साथ साहित्य सेवियों का दल खड़ा हो गया। भारतेन्दु मंडल ने साहित्य-साधना आरम्भ की और साहित्य के अनेक क्षेत्र अभिसिंचित होने लगे। कहानी नाटक उपन्यास निबन्ध काव्य एवं श्लोक आदि सभी प्रकार के साहित्य का सृजन आरम्भ हो गया। भारतेन्दु के पहले जहाँ केवल काव्य का सृजन होता था वहाँ उनके बाद पद्य के साथ साथ गद्य-साहित्य की रचना भी प्रचुर मात्रा में होने लगी। खड़ीबोली का रूप अभी सुव्यवस्थित नहीं हो पाया था। अनेक प्रकार की समस्याएँ थी। उसी समय नेतृत्व मिला साहित्य के द्रोणाचार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का। भाषा का रूप सुस्थिर हुआ और सरस्वती के साधकों का एक दूसरा दल अपनी मौलिक रचनाएँ भारती के पुनीत चरणों में अर्पित कर श्रम को धन्य समझने लगा। लक्ष्मण नारायण गर्दे तथा बालमुकुन्द गुप्त आदि इसी युग के अनमोल रत्न थे। उस युग की वह निष्ठा तेजस्विता मौलिकता ओज तथा निर्भीकता आज कहीं देखने को मिलती है। उनकी निष्ठा एवं साधना से आज भी साहित्य नयी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। परवर्ती युग में साहित्य का प्रचार [illegible] व्यापक किन्तु वह मर्यादा और वह विश्वास सबको उत्तराधिकार में नहीं

मिले। गुप्तजी अपनी निर्भीकता के लिए प्रसिद्ध थे। वैसे उनकी प्रतिभा तो बहुमुखी थी और साहित्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र होगा जिस ओर इनकी लेखनी परिचालित नहीं हुई किन्तु इनके व्यंग्य और विनोद साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। इनके पहले इस प्रकार के व्यंग्य की कोई सुनिश्चित परम्परा भी नहीं बन पाई थी अतएव काव्य के साथ साथ इन्होंने एक परम्परा की स्थापना भी की।

इनके व्यंग्यात्मक निबन्ध साप्ताहिक 'भारतमित्र' में प्रकाशित होते थे और बाद में 'शिवशम्भु के चिट्ठे' के रूप में प्रकाशित किए गए। हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के पाठक इन निबन्धों को बड़े चाव से पढ़ते थे। हास्यरस से ओत प्रोत भाषा में ऐसे व्यंग्य की रचना करना गुप्तजी का ही काम था। उन निबन्धों में स्वदेश भक्ति की अपूर्व अभिव्यंजना रहती थी। उन गौरांग महाप्रभुओं का जिनके शासन में रोना भी गुनाह था। जमाना था कूकना अपराध था और बुलबुल के गाने पर कठिन प्रतिबन्ध था "हम कफ़स में बुलबुलों का चहचहाना है मना" किन्तु उसी जमाने में गुप्त जी व्यंग्यात्मक बाण छोड़ते थे। भय का लेश मात्र भी उन्हें अनुभव नहीं होता था। उन्होंने लार्ड कर्जन के नाम शिवशम्भु के चिट्ठे लिखे जो व्यंग्य-साहित्य के अद्भुत उदाहरण हैं। इन चिट्ठों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गुप्त जी को तत्कालीन राजनीतिक विषयों तथा समस्याओं का विशद ज्ञान रहता था और उनके विश्लेषण करने की शैली दृष्टि एवं क्षमता रहती थी। व्यंग्य इतने तीक्ष्ण होते थे कि सीधे मर्मस्थल पर चोट पहुँचाते थे शिवशम्भु भांग के नशे में चूर तो रहते थे पर सोते जागते भारत के हित की चिन्ता उनको सताती रहती थी। कूटनीति के घने आवरण में आवेष्टित भारत-विरोधी कार्य उनकी समझ में आते थे। व्यंग्य की ज्वाला में उस आवरण को भस्म कर उसका नग्न रूप प्रस्तुत करना शिवशम्भु का काम था बंग-विच्छेद के प्रसंग में शिवशम्भु कहते हैं —

"सब ज्यों का त्यों है। बंग देश की भूमि जहाँ थी वहीं है और उसका हरएक नगर जहाँ था वहीं है। कलकत्ता उठाकर चीरापूंजी के पहाड़ पर नहीं रख दिया गया और शिलांग उड़कर हुगली के पुल पर नहीं आ बैठा। पूर्व और पश्चिम बंगाल के बीच में कोई नहर नहीं खुद गई और दोनों को अलग करने के लिए बीच में कोई चीन की सी दीवार नहीं बन गई पूर्व बंगाल पश्चिम बंगाल से अलग हो जाने पर भी अंगरेजी शासन में ही बना हुआ है

और पश्चिम बंगाल भी पहले की भाँति उसी शासन में है। किसी बात कुछ फर्क नहीं पड़ा। खाली ख्याली लड़ाई है। बंग-विच्छेद करके लार्ड क ने अपना एक ख्याल पूरा किया है। इस्तीफा देकर भी एक ख्याल ही पूर किया और इस्तीफा मंजूर हो जाने पर इस देश में पड़े रहकर भी श्रीमान् प्र प्रिंस आफ वेल्स के स्वागत तक ठहरना एक ख्याल मात्र है।

इतनी चुभती हुई बात इस प्रकार से निर्भीकता से लिख कर गुप्तजी प्रकाशि कराते थे। मनोरंजन के रूप में भी इतने तीखे व्यंग्य लिखना उस सम आसान काम नहीं था किन्तु भारत के अहित की जितनी बातें वायसराय त अंगरेजी शासन द्वारा प्रस्तुत की जाती थी गुप्तजी उन सब की आलोचना कर थे और 'भारतमित्र' में प्रकाशित कराते थे। एक बार लार्ड कर्जन हिन्दुस्तानियों को झूठा कह दिया था। गुप्तजी को यह घोर अपमा मालूम हुआ। गुप्तजी को सहन नहीं हुआ। उन्होंने एक व्यंग्यात्मक कविता लिखी।

"हम जो कहें वही कानून तुम तो हो गोरे पतलून।
इसमें सच की सुनो कहानी जिससे मरे झूठ की नानी।
सच है सात दंश की चीज तुमको उसकी कहाँ तमीज।
औरों को झूठा बतलाना अपने सच की डींग उड़ाना।
ये ही पक्का सच्चापन है सच कहना तो कच्चापन है।
बोलें और करें कुछ और यही सभ्य सच्चे के तौर।
मन में कुछ मुँह में कुछ और यही सत्य है करलो गौर।
झूठ को जो सचकर दिखलावे सो ही सच्चा साधु कहावे।

इस प्रकार भारत तथा भारतवासियों का अहित एवं अपमान इनको कभी सा नहीं था। इनकी दृष्टि राजनीतिक बुराइयों तक ही सीमित नहीं थी समा ज कुरीतियाँ भी इनको पसन्द नहीं थी। उनको दूर करने के लिए मार्मिक व्यंग्य लिखा करते थे। पश्चिमी सभ्यता के वे विरोधी थे भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनन्य उपासक थे। अंग्रेजी सभ्यता लहर भारत में आई। देश के नवयुवक 'ईश गिरजा को छोड़ जीसु गिरजा में जाने में ही गर्व का अनुभव करने लगे। नवयुवतियाँ भी रंग बदल लगीं। गीता और रामायण उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं होते थे। बाइबिल और शेक्सपियर उन्हें प्रिय मालूम होने लगे। इस प्रकार का अवांछनीय अनुकरण देखकर गुप्तजी की आत्मा तिलमिला उठी। उन्होंने "सभ्य महिला की वि

मिली। पश्चिमी विचारों के रंग में डूबी रहनेवाली नवयुवतियों के लिए ये व्यंग्य पैने बाण थे। एक समय महिमा का विवाह देशी व्यक्ति से हो गया था। पश्चिम और पूर्व का मेल बैठता नहीं था। महिमा कहती है—

बताओ आके मेरे पास किस तरह होगी पूरी आस ?
हँसी आती है मुसकुराकर बताता नहीं कहाँ है घर।
चमन घूमा है किस जा पर कहाँ है कमों का 'बावर'।
कहाँ है टेनिस का दिलसाब कहाँ मक्खी का क्या तलाब।
बात वह अपनी सब खटकी वह अब भी मैं घूँघट की।
गया अब छुट पाया है स्वार शिक्षा का आया है।

इस प्रकार के थे इनके व्यंग्य। इनमें देश एवं राष्ट्र का कल्याण निहित रहता था। व्यंग्य के साथ ही साथ इनके हास्य भी कम आकर्षक एवं मनोरंजक नहीं थे। इनमें भी देश कल्याण की भावना भरी रहती थी। गुप्तजी कला की साधना केवल कला के लिए नहीं करते थे। बल्कि इनकी कला की साधना जीवन के लिए थी। प्रेमचन्दजी की तरह ये भी कला एवं साहित्य के माध्यम से देश सेवा के पक्षपाती थे। 'भय का स्वर्ग' लिख कर उन्होंने भारत के आलसी जनों के स्वप्न की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार 'मुन्नी का हास' ओकलास ओमीत्रा आदि अन्य रचनाओं से भी किसी न किसी कुरीति की ओर संकेत किया है। अहर्निश आह भरने वाले और प्रेम को बदनाम करने वाले आशिकों की वियोगजन्य पीड़ा का चित्र उनके गोगमेगन और ओछेपन की ओर इंगित करता है—

माठी सम ताप रह्यो हियरो
है राम जर्यो सब गात जर्यो।
एक बार छुवावत ही तन मों
थरमामीटर भूँइ फाट पर्यो ॥
जब डाक्टर हैं हिय हार गयो
मरिबो तासों निश्चै ठहर्यो।
विरहानल ताप बढ़्यो जगना
दावानल मों जब आनि परयो ॥

इसी प्रकार '[illegible]' के भाव भी कम मनोरंजक नहीं है —

अपना कोई नहीं रे।
बिन जोरू सिरताज जगत में कोई नाहीं रे।
मात पिता निज सुख लगि जामो अपने सुख के भाई।
एक जोरू ही सब अलेपी ऐसी शिक्षा पाई।

X X X X

घर में पैर पीठ पै देके मुख से होली गावें।
उसी ताल पै नाचें जो गुरु डारी सेंध मचावें॥

आज भी उनकी इस प्रकार की कविताओं को पढ़ कर हम शुद्ध सात्विक आनन्द का अनुभव करते हैं। अत्यन्त सहृदय रसिक विनोदप्रिय प्रकृति के होने पर भी गुप्तजी अपने सिद्धान्तों पर अटल रहने वाले तेजस्वी पुरुष थे। व्यंग्य और विनोद तीखे होने पर भी इतने सरस एवं सरल होते थे उस व्यक्ति को पढ़कर अपार आनन्द होता था जिस पर प्रहार होते थे। सर्वदा पेट की ही चिन्ता में निमग्न रहने वाले तत्कालीन अथवा सर्वकालीन पेटूओं पर किया गया व्यंग्य किसके आनन्द का कारण नहीं बनेगा ?

साधो पेट बड़ा हम जाना
यह तो पागल फिरै जमाना।

इस प्रकार इनके व्यंग्य और विनोद से हिन्दी साहित्य के अभाव की पूर्ति हुई। स्वस्थ परम्परा की नींव पड़ी स्वदेश प्रेम की भावना जगी तथा समाजगत एवं व्यक्तिगत बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। साहित्य निर्माण के साथ साथ स्वस्थ समाज के निर्माण का भी कार्य सम्पन्न हुआ।

• • •

# श्री बालमुकुन्द गुप्त की निबन्ध-शैली

श्री प्रियसेन सिंह

मानव जो कुछ सोचता है, अनुभव करता है उसे अभिव्यक्ति देना चाहता है। विचारों या भावों की अभिव्यक्ति-पद्धति का नाम शैली है। संस्कृत 'रीति' और अंग्रेजी style शब्द इसके पर्याय हैं। रीति 'विशिष्ट-पद रचना' को कहते हैं। अंग्रेजी style शब्द लैटिन stilus से निष्पन्न है। सत्रहवीं शताब्दी में stilus शब्द के विभिन्न अर्थ होते थे। धातु या हड्डी से बने हुए नुकीले औजार, रक्षा के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले हथियार आदि इसके उस समय के अर्थ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में यह शब्द नुकीली कलम आदि अर्थों का वाहक हुआ। साहित्यिक दृष्टि से शैली के प्रमुख तीन अर्थ होते हैं जिन्हें प्रो॰ मिड्ल्टन मरे ने अपनी पुस्तक Problems of Style में स्पष्ट किया है। उनके अनुसार उसके अर्थ हैं— (१) वैयक्तिक रुचि-वैलक्षण्य ( Personal idiosyncrasy ) (२) अभिव्यक्ति कौशल ( Technique of exposition ) (३) साहित्य की महत्तम उपलब्धि ( Highest achievement of literature )।

प्रत्येक कलाके निर्माण के विविध-रूप में कलाकार की संवेदनायें अनुभूतियाँ विचार आदि रहा करते हैं। उन्हें मूर्त रूप देने के लिये वह कुछ कौशलको अपनाता है। उसमे रचना में सौन्दर्य का आगम होता है। कलाकार का व्यक्तित्व रचना-प्रक्रिया-काल में सजग रहता है। उसकी रचना शैलीके महत्तम रूप-निर्माणमें उसके उच्चतम सौन्दर्यबोधका प्रभाव निहित रहता है। साहित्य रचनामें भाषा-रूप और तत्व-उसमे जुड़ जाती हैं। यह एक स्वीकृत तथ्य हो चुका है कि किसी साहित्यिक रचना-शैली पर रचनाकार के मानसिक संगठन और भावादि के प्रभाव अमिट रूप से पड़ते हैं।

लेमहावर ने शैली को आत्मा का स्पष्ट परिचायक माना है— Style is a physiognomy of the soul वेस्टरफील्ड के अनुसार यह 'विचारों का परिधान' है। शैली की उत्कृष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि उससे कलाकृति में संवेदनाओं भावनाओं विचारों कल्पना और अन्तर्ज्ञान ( Intuitions ) आदि को प्रभावपूर्ण या विश्वासात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है या नहीं। हर उत्कृष्ट रचना-शैली में हमारी इन्द्रियों पर चमत्कार की मानसिक शक्ति का प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। युगनिरपेक्ष तत्वों से भाविष्ट रचना के स्थायी महत्व का यही कारण है। अभिप्राय यह कि रचना में सत्यं शिवं और सुन्दरं की प्रतिष्ठा हेतु विशिष्ट और प्रभावपूर्ण शैली का होना प्रयोजनीय ही नहीं अनिवार्य भी है।

स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्तजी निबन्ध-शैली को जीवन्त रूप प्रदान करने में देश की तत्कालीन सांस्कृतिक राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान है। निबन्ध-लेखन-कला को भारतेन्दुयुगीन लेखकों द्वारा एक पुष्ट और व्यापक धरातल मिल चुका था। बालमुकुन्दजी गुप्त ने अपनी रचना-शैली से उसे अधिक समतल बनाया सजाया और अधिक व्यापकता दी थी। उनकी रचनाओं से उनके समस्त ईमानदार और दूरदर्शी पत्रकार के अतिरिक्त उनका एक गंभीरतशील विचारवान राष्ट्रप्रेमी साहित्यकार का व्यक्तित्व भी प्रकाशित होता है।

गुप्तजी की रचनाओं का आगमन भारतेन्दुयुगीन है और शरीर द्विवेदी कालीन। हिन्दी में उनका आविर्भाव उर्दू साहित्य से होता है। युवाकाल में ही उन्होंने विशिष्ट उर्दू पत्रों का सम्पादन कर उर्दू के लब्धप्रतिष्ठ सम्पादकों व साहित्यकारों में एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। भारतेन्दु-मंडल के लेखकों पं० श्रीधर पाठक पं० मदनमोहन मालवीय पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी प्रभृति के प्रभाव में आकर उन्होंने हिन्दी लेखन-कार्य आरम्भ किया और अपनी अटूट भावना के बल पर इस क्षेत्र में भी सम्माननीय पद प्राप्त कर लिया। 'हिन्दोस्थान' 'हिन्दी बंगवासी' 'भारतमित्र' आदि पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादकीय रूप में तथा उपनामों ( शिवशम्भु आत्माराम आदि) से उनकी रचनाओं का प्रकाशन हुआ है। उनके निबन्धों को पढ़ने ही लग जाता है कि लिखने के लिए उन्हें विषय-निर्वाचन-हेतु अधिक श्रम नहीं करना पड़ा होगा। यदि मिस्टर एमीनोर का यह कथन कि निबन्ध रचना "एक अमरता

है या दार्शनिक वैज्ञानिक आलोचक विश्वसनीय मित्र पथी और विदूषक आदि की भूमिकायें ग्रहण करती रहती हैं' सत्य है तो यह मानना पड़ेगा कि श्री बालमुकुन्दजी के निबन्ध—शैलीगत विशेषताओं के कारण—उक्त भूमिकाओं का निर्वाह सफलतापूर्वक करते हैं। उनकी रचनाओं की विषय-वस्तु का सम्बन्ध जीवन के अनेक क्षेत्रों से है।

रचना-शिल्प की दृष्टि से विचार करने पर उनके अधिकांश निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ या निर्बन्ध निबन्धों के अन्तर्गत आते हैं पर ऐसी कृतियों की भी कमी नहीं है जिन्हें हम वस्तुपरक या विचारप्रधान कहते हैं। इस द्वितीय कोटि के अन्तर्गत आनेवाली रचनाओं में वैयक्तिकता का सर्वथा अभाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका कारण मूलतः विचार प्रधान और आलोचनात्मक है। इन्हें कई शीर्षकों के अन्तर्गत—सुभीते के लिए—हम रख सकते हैं। उन शीर्षकों में से प्रमुख हैं — आलोचनात्मक ऐतिहासिक चरित-चर्चा आदि उक्त प्रकार के भाव सभी तो नहीं किन्तु अधिकांश निबन्धों में वैचारिक गंभीरता का अभाव है। उनमें सन्निहित सरस भावुकता का सरस प्रवाह पाठकों के अन्तर्मन पर मधुर प्रभाव छोड़ता चलता है।

वस्तुनिष्ठ निबन्धों में गुप्तजी की विषय-स्थापना और उसके प्रसार आदि की रीति अत्यन्त ही सहज और सरस है। उनकी पत्रकारिता शैली से युक्त उनके उक्त निबन्धों में शैलीगत विभिन्नता के दर्शन होते हैं। हिन्दी भाषा उसकी लिपि पुस्तकों की आलोचना साहित्यिक या इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों आदि से सम्बन्धित विषय इस ढंग के रचना-प्रकारों में विचारार्थ रखे गए हैं। उनमें कुछ निबन्ध जैसे 'हिन्दी भाषा' व्याकरण विचार' 'हिन्दी में बिन्दी' 'भाषा की अनस्थिरता' आलोचनापरक है। बंगला उर्दू और हिन्दी पुस्तकों पर उनकी आलोचनायें हैं। उनका स्वरूप 'रिव्यू' जैसा है। तथ्यों की सुनियमन और तर्कपुष्ट योजना उनके विवेचन विस्तरण की चरम का अभाव वस्तु या भाषा सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख—ये कुछ सामान्य लक्षण इस निबन्ध में मिलते हैं। ऐसे निबन्धों में अगर दूसरा कोई भाषा-सम्बन्धी व्याकरण से असिद्ध अव्यावहारिक प्रयोगों का उल्लेख करता है और सुझाव स्वरूप उनके परिमार्जित रूप भी देता है। वहीं वह एक मीमांसक की तरह आम प्रतिपक्ष पहलेवाले तथ्यों का उल्लेख करता है और फिर उनका प्रत्याख्यान। अपने पक्ष के समर्थन में न तो किसी सिद्धान्त

तिपादन का उसका प्रयास परिलक्षित होता है, और न ही उस हेतु प्रमुख सिद्धान्तों का कोई संकेत। बड़ी आत्मसजगता के स्वर में तथा अत्यन्त व्यावहारिक एवं बोधगम्य ढंग से गुप्तजी का विचारक तथ्यों का खंडन कर गया और वही अपनी व्यंग्य तथा चुहल भरी उक्तियों के प्रयोग से भी नहीं चूकेगा। ऐसे स्थलों पर उसका निर्वैयक्तिक रूप तिरोहित हो जाता है। फिर कहावतों मुहावरों व्यंग्योक्तियों जैसे प्रयोगों से रचना नूतन साज सज्जा से अलंकृत हो उठती है। भाषा की अनस्थिरता निबन्ध में अनस्थिरता शब्द व्याकरण सम्मत नहीं है लेखक यह स्वीकार करता है। पर उसकी उक्त धारणा के पीछे क्या सिद्धान्त है इसका उल्लेख वहां नहीं के बराबर है। उक्त निबन्ध का प्रारम्भ व्यंग्यमूलक है और उसमें लेखक बहुत दूर तक व्यंग्य और चुहल भरी उक्तियों का उपयोग करता दिखाई पड़ता है। स्व० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की रचनाओं से उदाहरण प्रस्तुत कर उनकी भाषा सम्बन्धी भूलों का उल्लेख और मार्जन करता है। भाषा की सहायता में "उग्र चुस्त-चुस्त होती है 'भाषा का विभाव' फिरती भी' "भाषा की स्थिरता आ जाती है' 'भाषा लिखी जाती है' जैसे असंगत प्रयोगों से युक्त पदों का उल्लेख करने के बाद वह अपना संशोधन प्रस्तुत करता है और तत्काल फक्कड़बाजी की अपनी कला का आश्रय लेता है। दो एक उदाहरण में इसे स्पष्ट करने की अनुमति चाहूँगा।

'मन में जो भाव उदित होते हैं वे भाषाकी सहायता से दूसरों पर प्रकट किए जाते हैं।

उपर्युक्त वाक्य पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी का है। उसमें निहित अभाव का संकेत एवं उसके लिए अपना संशोधन को प्रस्तुत करने की व्यंग्य-विनोद से भरी गुप्तजी की शैली का एक नमूना देखें —

"क्यों जनाब भाषा की सहायता से मन के भाव दूसरों पर प्रकट किए जाते हैं या भाषा से? आप दोनों की सहायता से चलते हैं या दोनों से? जो अपनी बोली जानते हैं वे इस वाक्य को इस तरह लिखते— 'मन में जो भाव उठते हैं वे भाषा से दूसरों को सुना दिए जाते हैं। द्विवेदीजी तरजमे से भाषा तैयार करते हैं उसमें असलियत कहां? भाषापन कहां? लिखार भी सबको सिखाने के लिए कमर कसकर खड़े हो गये हैं। —

द्विवेदीजी के उपर्युक्त उदाहरण में शब्दों का असमन्वय संकेतित है। एक अन्य

उदाहरण लें। द्विवेदीजी ने लिख दिया "इसमें कोई सन्देह नहीं कि पं० बलदेव प्रसादजी के शरीर के साथ हिन्दी का एक बहुत अच्छा लेखक हमेशा के लिए तिरोहित हो गया। इस वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए बालमुकुन्द गुप्तजी ने पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी पर जिस उक्तिया का प्रहार किया है वे कितनी प्रभाव प्रखर है इसका परिचय निम्न पंक्तियों से मिलता है।

लेखक ( पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ) ने एक अंग्रेजी बोतल का टुकड़ा पीसकर हिन्दी की खिचड़ी में मिलाना चाहा है। यह वाक्य उसी तरह दुलत्तियां झाड़ रहा है और रस्सियां तुड़ा रहा है जिस तरह वो सऊदबार बाप-बेटों की सवारी का जानवर एक बाँस में बँधा हुआ उनके कन्ध पर लटकता हुआ एक पुल पर से जाते समय झाड़ और तुड़ा रहा था।"

उपर्युक्त अनुच्छेद का अंतिम अंश सन्दर्भयुक्त है। प्रचलित लोककथाओं और मुहावरों को मोड़कर रचना तथा इस प्रकार की लेखन शैली म चमत्कारिक प्रभाव उत्पन्न करने की कला में गुप्तजी निस्सन्देह अद्वितीय हैं। गुप्तजी की उक्त प्रकार की शैली का रूप पुस्तकों आदि पर लिखी गई उनकी आलोचनाओं में भी मिलता है। 'तारा' शीर्षक निबन्ध में उसने स्वीकार किया है कि उक्त पुस्तक के लेखक को वे 'ऊँची हवा' में नहीं रहने देना चाहते बल्कि उन्हें कुछ नीचे उतार लाना चाहते हैं। आदि से लेकर अन्ततक लेखक उक्त पुस्तक की संवाद योजना से व्यक्त असंदर्भोपयोगी प्रभावों को आधार बनाकर अपनी उक्तियों को प्रकट करता है और अन्त में उसे 'धर्मक भरी पोथी' तक कह डालता है 'अपमिला फ्रम' 'अधुमनी' जैसी रचनाओं पर प्रस्तुत गुप्तजी की आलोचनाओं का यही स्तर है।

ऐसे आलोचना-प्रकारों का साहित्यिक दृष्टि से क्या महत्व है ? इसका मूल्यांकन करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उसके उल्लेख से गुप्तजी की उस प्रकार की रचना-शैलीगत विशेषताओं की ओर संकेत करना ही प्रमुख उद्देश्य है। गुप्तजी गम्भीर-से-गम्भीर विषय का प्रतिपादन करते हैं किन्तु कहीं भी उनमें नीरसता या बरोचकता नहीं आने पाती। इसका एकमात्र कारण है उनकी विनोदपूर्ण शैली।

हिन्दी भाषाकी भूमिका 'हिन्दी भाषा' 'देवनागरी लिपि' बनमान मासिक

पत्र' आदि कुछ ऐसे निबन्ध हैं जिनमें विषय के प्रति आग्रह आदि से अन्त तक बना रहता है। उनमें विचारों की स्थापना-रीति से लेखक के पांडित्य का स्वरूप झलकता है। वहां शैली गवेषणात्मक एवं तथ्य-निरूपिणी है। अपने मन्तव्यों या सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये उद्धरणों का उपयोग किया गया है। 'हिन्दी भाषा' निबन्ध इसका प्रमाण है। उसमें हिन्दी भाषा के विकासक्रम को प्रस्तुत करने का ढंग अत्यन्त पांडित्यपूर्ण है। उस निबन्धों की विचार धाराओं में क्रमबद्धता है स्वस्थ दृष्टि है। स्थल-स्थल पर व्याख्यात्मक शैली का उपयोग हुआ है। ऐसी जगहों पर लेखक का प्रयास उद्धरणों में निहित अर्थगत सौन्दर्य-को स्पष्ट करना होता है। ऊपर लिखित 'हिन्दी भाषा' निबंध में गुप्तजी ने हिन्दी विकास की रूपरेखा को प्रस्तुत करने के साथ अमीर खुसरो का हिन्दी भाषा को अवदान एवं उसकी शैलीगत विशेषताओं का जहां विस्मयन करना शुरू किया है वहां हमें उनके उक्त शैली भेद के उदाहरण मिलते हैं। अमीर खुसरो की एक पहेली "बीसों का सिर काट लिया ना मारा ना खून किया के अर्थ-विश्लेषण में प्रयुक्त शैलीगत सरलता और सहजता का स्पष्ट आभास इस उद्धरण से हो जाता है —

"खुसरू की यह बहादुरी है कि पहेली में वह किसी तरह उस चीज का नाम भी ले लेता है जिसकी पहेली होती है। यह नाखून की पहेली है। बीसों के नाखून काटे जाते हैं। इसमें खुसरू बड़े चावसे से कहता है कि बीसों का सिर काट लिया न किसीको मारा न खून किया। साथ ही नाखून में मर्म भी निकल आया कि नाखून भी ठीक किए।

चरित-चर्चा के अन्तर्गत आनेवाले निबन्धों में लेखक का भावात्मक स्वर भारी उन्नत है। यहां लेखक के पात्रों से सम्बद्ध की विचारों में सहानुभूति का स्वर विद्यमान है। उक्त निबन्धोंमें रचनाकार की पात्रोंके जीवन एवं चरित को प्रामाणिक रूप से उपस्थित करने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। कुछ निबन्धों का प्रारम्भ तो अत्यन्त भावमय और काव्यात्मक ढंग से किया गया है। ऐसे स्थलों की भाषा लेखक के भावों की अनुगामिनी है। लगता है जैसे शैली को सौन्दर्य प्रदान करनेवाले अपने समस्त उपादानों से युक्त भाषा लेखक के भावों के पीछे हाथ जोड़े खड़ी हो। 'अभिवादन' नामक निबन्ध से उक्त कथन की पुष्टि के लिए, नीचे एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है जिसमें काव्यात्मक रंग भी प्राप्त होगी।

भाषा का अद्वितीय सुवक्ता अब नहीं है। वह वसुधा के मित्र मोहनी मंत्र फूँकनेवाला अब नहीं है जो दस साल की उमर से साहित्य संसार में उदित होकर अपनी अपार ज्योति फैला रहा था वह प्रतिभाशाली साहित्याचार्य अब इस संसार में नहीं है। आज भारत रत्नविहीन है साहित्य आचार्य विहीन है शास्त्र व्यास विहीन है सनातन हिन्दू धर्म अभिभावक विहीन है। आज भारत की वह चीज लुट गई है जिसका फिर प्राप्त होना कठिन है। चारों ओर लम्बी सांस के साथ यही सुनाई पड़ता ।

इतिहास प्रसिद्ध पात्रों जैसे 'अकबर बादशाह' 'टोडरमल' आदि प्रभृति व्यक्तियों पर भी गुप्तजी ने लिखा है। उपर्युक्त निबन्धों का रूप पठन काफी पुष्ट है। उनमें तथ्यों की सुसम्बद्ध योजना पर ही लेखक की दृष्टि अधिक रही है। भाषागत सरलता उनकी अपनी विशेषता है।

व्यक्तिनिष्ठ शैली के अन्तर्गत प्राप्त बाबू बालमुकुन्द गुप्त के वे निबन्ध हैं जिनका प्रकाशन समय-समय पर उनकी सम-सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में होता रहा है। 'भारतमित्र' में प्रकाशित उच्च-कोटि के निबन्धों के दो संकलन— 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'चिट्ठे और खत' नाम से—उपलब्ध हैं। गुप्तजी के निबन्ध का यथार्थ परिचय इन्हीं निबन्धों से मिलता है। उनका शिल्प भावगत, मस्ती भरा है। लेखक ने स्वयं अपने को एक 'भंगेड़ी' माना है। उन निबन्धों को आद्यन्त पढ़ लेने पर हम यूं ही आत्मविस्मृत हो उठते हैं पद भी मस्ती का सा अनुभव करने लगते हैं। प्रो० कल्याणमलजी लोढा का यह कथन कि श्री बालमुकुन्द गुप्त की इन्हीं रचनाओं में 'हरियाने की मस्ती और फक्कड़पन का स्पष्ट परिचय मिलता रहता है' यथार्थ सत्य है। उनमें व्यक्त लेखक की चेतना-तरंगों में विचार क्षेत्र की सम्पूर्ण दिशाओं के समस्त आयामों को स्पर्श कर सदा प्रवाहित होनेवाली अद्भुत मनिमयता मिलती है। निश्चय ही उनके मन-निर्माण में लेखक की स्वच्छन्दतावादी एवं विनोदी प्रवृत्तियों का योग है। सामाजिक कुरीतियों धार्मिक पाखण्डों जैसी बातों को लेकर लेखक ने एक समाज चित्र और मामलों पर व्यंग बाणों का प्रयोग किया है। योरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् औद्योगिक सभ्यता का विकास होता है। भारत पर उसका प्रभाव १९ वीं शताब्दी में पड़ने लगता है। यहीं से मारवाड़ी समाज को इस क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता मिलती है। अब तक विषमता से जर्जरित भारत को इस विषमता का एक और गहरा धक्का खाना पड़ता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ

भारतवासी समाज औद्योगिक सभ्यता के असामाजिक पक्षों का शिकार बन गया उसमें भारतीय संस्कृति या भारतीयता के प्रति उपेक्षा अपनी गरीबों के हितों व अधिकारों के प्रति असहिष्णुता व स्वार्थपरता जगी, धन की अपव्यय की प्रवृत्ति बढ़ी और भोग विलास के साधनों के अधिक उपभोग व संचय की एक बलवती लिप्सा दृढ़तर होती गई। परिणाम-स्वरूप देश में नाना प्रकार के असामाजिक और प्रवंचनापूर्ण कैसे [illegible] का बाजार अपेक्षाकृत सबसे अधिक गर्म हुआ। 'चिट्ठे और खत' संकलन के निबन्ध उक्त जाति की विलास प्रियता अराष्ट्रीय भावना और धोखा-धड़ी के व्यवहारों का पर्दाफाश करने में अत्यन्त प्रभावपूर्ण और जीवन्त है। 'मेले का ऊँट' 'एसोसियेशन' आदि निबन्ध इसके प्रमाण हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा भारतीयों के प्रति किए जाने वाले अमानुषिक व्यवहार पर अपने तीव्र भावोद्गारों को लेखक ने 'फुलरजंग के नाम शाइस्ता खां का पत्र' में व्यक्त किया है। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' के निबन्ध लार्ड कर्जन की दुष्टनीतियों का पर्दाफाश करते हैं उसके भारत विरोधी कार्यों की निन्दा करते हैं और इन सबके साथ भारतीय संस्कृति सभ्यता आदि के प्रति लेखक के अन्तःकरण में जमी दृढ़ आस्था का परिचय देते हैं। लार्ड कर्जन ने जहाँ एक ओर अपनी शिक्षा एवं बंग-भंग जैसी नीतियों द्वारा देश के मानसिक और शारीरिक संगठन को पंगु बनाया तो वहीं दूसरी ओर 'शाहीदरबार' 'विक्टोरिया स्मृति भवन निर्माण' आदि कार्यों से उसके अर्थतन्त्र को अनिश्चित काल तक के लिए पूर्णतया विच्छिन्न और ध्वस्त कर दिया। भारतीय जनता के प्रति उसकी दुर्भावना किसी से छिपी नहीं रही। श्री बालमुकुन्द गुप्तजी ने अत्यन्त पटु ढंग से उसकी खिल्ली उड़ाई है और अपनी जातीय गरिमा के स्वरूप को उसके समक्ष रखा है।

इन निबन्धों की शिल्प रचना का मुख्य आधार लेखक का भावप्रवण व्यक्तित्व है। उनमें विचारों की क्रमबद्धता का अभाव है अगर है तो मात्र भावोर्मियों की चमत्कारपूर्ण छटा। इन ऊर्मियों को लेखक ने बड़े ही कलात्मक ढंग से उद्गमित किया है। कहीं व्यासस्तुति शैली है कहीं प्रतीक-शैली तो कहीं अत्यन्त चुटीली औपचारिक शैली। बेकारी दुर्व्यवस्था और गरीबी आदि के चित्रात्मक वर्णनों से इन रचनाओं को व्यंजकता और प्रभाव प्रेषणीयता का अभिनव परिवेश मिला है। उनमें प्रयुक्त भाव योजनाओं से भाव प्रवाह के अनेक आयाम एक साथ स्पष्ट हो उठे हैं। भावों का भावात्मक रूप

मानो रचना शिल्प का प्राण तत्व है और इससे उसे चिरंतन रूप प्राप्त होता है। लोकोक्तियों मुहावरों आदि के रोचक प्रयोग कथात्मक-शैली प्रत्युत्पन्नमति स्मितहास्य (Humour) और व्यंग्य आदि के सम्मिलित प्रभावों से मंडित गुप्तजी के उक्त निबंधों में भावाभिव्यक्ति की विलक्षण अभिव्यंजना शक्ति है सहजता, सरसता रसमयता जिसके गुण हैं। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि गुप्तजी के समकालीन लेखकों की शैली में प्रभाव व प्रवाहशीलताकी इस शक्ति का अभाव है उनकी अभिव्यक्ति पद्धति कृत्रिम है जब कि गुप्तजी की अत्यंत व्यावहारिक एवं स्वाभाविक। भारतीय जीवन के वेदनाग्रस्त एवं करुण रूप को संवेदनसंपृक्त चित्रमय और भावात्मक रूप में उपस्थित करने की गुप्तजी की सक्षम शैली का परिचय निम्नलिखित उदाहरण से प्राप्त होता है.—

'यदि किसी दिन शिवशम्भु शर्मा के साथ माई लार्ड नगरकी दशा देखने चलते तो वहाँ देखते कि इस नगर की लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरों की भाँति सड़े गंदे झोंपड़ों में लेटती है। उनके आस-पास सड़ी बदबू और मैले सड़े पानी के नाले बहते हैं। कीचड़ और कूड़े के ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरों पर मैले-कुचैले फटे-चिथड़े लिपटे हुए हैं। उनमें से बहुतों को पेट भर अन्न और शरीर ढकने को कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ों में सर्दी से अकड़कर रह जाते हैं और गर्मी में सड़कों पर घूमते तथा जहाँ तहाँ पड़े फिरते हैं। बरसात में सड़े सील भरे घरों में भीगे पड़े रहते हैं। सारांश यह कि हरेक ऋतु की तीव्रता में सबसे आगे मृत्यु के पथ का वही अनुगमन करते हैं। (विदाई सम्भाषण-शिवशम्भु के चिट्ठे)

तत्कालीन भारतीय जन जीवन के करुणास्नात एवं चित्रमय रूपकी इतनी सशक्त अभिव्यक्ति शायद ही किसी लेखक की रचना-शैली में प्रकट हुई हो। जाड़े में 'सर्दी से अकड़कर रह जाना', गर्मी में सड़कों पर घूमना तथा जहाँ तहाँ पड़े रहना' 'सबसे आगे मृत्यु पथ का अनुगमन करना' आदि पदों के द्वारा लेखक ने वस्तु सत्य को मूर्त रूप प्रदान किया है। सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार की शैली में लिखे गए अनुच्छेदों का यहाँ तक मेरा अनुमान है तत्कालीन हिन्दी साहित्य में अभाव है। उपर्युक्त अनुच्छेद की भावात्मकता से प्रकट भावधारा का विकास निर्झर प्रवाह की तरह होता चलता है।

व्याजस्तुति और अत्यधिक नुकीले औपचारिक सम्बोधनों में व्यंग की प्रखरता का आभास और आसीम परिमा सम्बन्धी विचारों की पुष्ट व्यंजना का परिचय एक साथ ही नीचे लिखे उद्धरण से मिल जाता है—

'जिस जाति से पुरानी कोई जाति इस धराधाम पर मौजूद नहीं जो हजार साल से अधिक की घोर पराधीनता सहकर भी लुप्त नहीं हुई जीती है वह जाति क्या पीछे हटाने और धूल में मिला देने योग्य है ? आप जैसे उच्च श्रेणी के विद्वान के जी में यह बात कैसे समाई कि भारतवासी बहुत से काम करने के योग्य नहीं और उनको आपके सहारे ही चल सकते हैं ? धनमें बुद्धिमें विद्यामें कामलें बस्तृतामें सहिष्णुतामें किसी बात में इस देश के निवासी संसार में किसी जाति के आदमियों से पीछे रहने वाले नहीं है। ( पीछे मत फेंकिये। )

शैली का अभिन्न सम्बन्ध भाषा से भी होता है। भाषा विचारों और भावों की अभिव्यक्ति का साधन है। आचार्य वामन के अनुसार रीति या शैली की विशिष्टता भाषा के गुणों पर निर्भर करती है। आचार्यों ने भाषा के तीन प्रमुख गुण—माधुर्य ओज और प्रसाद—स्वीकार किये हैं। उक्ति-वैचित्र्य तथा विशिष्टता आदि से सम्पन्न होने के लिए भाषा का गुणयुक्त होना अनिवार्य है। इस वैरस्य भरी मणिपर्णि युक्त गुण-सम्पन्न भाषा से रचना में सौन्दर्य आता है—जिसे सौन्दर्य से किसी भी रचना का मूल तत्त्व माना है। लक्षणा व व्यंजना शक्तियों से भाषा की प्रभाव प्रेषणीयता की शक्ति प्रकट होती है और उसकी अर्थगत रमणीयता अप्रस्तुतों की उचित प्रयोग-विधि पर निर्भर करती है। आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित 'औचित्य' सिद्धान्त भी शैली से सम्बन्ध रखता है। रसयोजना अलंकारयोजना गुणों के अनुकूल भाषा-योजना आदि में औचित्य का ध्यान यदि न रखा जाय तो रचना में प्रौढ़ता नहीं आ सकती। स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी साहित्यिक मान्यताओं—जिनका सम्बन्ध शैली से है—का मूल आधार भाषा है। निबन्ध-रचना की भाषा में व्यंजकता जिससे शैली का प्रौढ़ और सौन्दर्य-विधायक रूप निर्मित होता है लाने के लिए भावानुकूल वाक्य व शब्दयोजना में प्रचीन लोकोक्तियों मुहावरों व्यंग्य आदि के उपयोग विशेष रूप से होते हैं। उपर्युक्त दृष्टियों से विचार करने पर हम पाते हैं कि बालमुकुन्द गुप्तजी की भाषा में उनके पूर्व व समकालीन लेखकों की अपेक्षा अधिक प्रभाव-सम्पन्नता है अधिक सार्थकता है।

गुप्तजीकी भाषाका जो सबसे मार्मिक रूप सामने आता है वह है वाक्य-विन्यास में उसके उचित-वैचित्र्यपूर्ण व अनूठे रूपोंकी नियोजना । यहाँ यह कह देना उचित होगा कि अपने वाक्य-निर्माण व भाषा-प्रयोगों में लेखक उर्दू-शैली के प्रभाव से अप्रभावित नहीं रह सका है। पर ऐसे प्रयोगों में औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कहीं भी नहीं मिलेगा। अव्यावहारिक समासान्त पदावलियों से रहित गुप्तजी के वाक्य-गठन सरल हैं और उनमें अपेक्षित गुणों की प्रधानता है। उनमें सब प्रयोग इतने संगत और पुष्ट हैं कि उनसे भाव छलके-से पड़ते हैं। यदि गुप्तजी के वस्तुनिष्ठ निबन्धों में वाक्य-संघटन उचित गाम्भीर्य और मधुरता से युक्त है तो व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों में व्यंग्य विनोद और मस्ती से पूर्ण। उनमें कहीं अतिशय भावुकता से भरी वाक्यावलियाँ हैं कहीं विरोधी वाक्यों के सरस प्रयोग हैं तो कहीं संवेदनाओं को मूर्तमत्ता प्रदान करने वाले वाक्य हैं। भावुकता का प्रवाह जहाँ अपनी चरम-गति में रहता है वहाँ मिश्रित और कभी-कभी संयुक्त वाक्यों की निराली छटा देखने को मिलती है। प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से मिल कर भावधारा को उसी तरह अग्रसर करता है जिस तरह परिचालन-विधि से ताप सुचालक पदार्थोंमें फैलता है। प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के अनुसार 'गुप्तजी इस दृष्टि से उन समस्त हिन्दी लेखकों से आगे निकल जाते हैं जिन्हें द्विवेदी युग में काफी सम्मान प्राप्त था। पं० गोविन्दनारायण मिश्र की रचनाओं में 'वाक्य विस्तार का प्रकाण्ड ताण्डव है। पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी की वाक्य-संघटना में गुप्तजी जैसे भावात्मक और रमणीय स्तर का अभाव है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि गुप्तजी के वाक्यों से भाव और भाषा का अद्वैत रूप प्रकट होता है।

गुप्तजी की भाषा का एक दूसरा विशिष्ट पक्ष है उनमें सरलता और व्यंग्यका अद्भुत मेल। उनमें कहीं स्मित हास्य का अव्यक्त स्वर प्रकट होता है, कहीं हास्य की मधुर ध्वनि निकलती रहती है और कहीं ठहाके की विकट गूँज। विचारों के विवेचन व भावों के अभिव्यक्ति-क्रम में रचना पाठकों में मानसिक तनाव व नीरसता उत्पन्न कर दे इसलिए लेखक रचना-प्रकृति का बिना ध्यान रख उनमें विनोद का सृजन करता चलता है। कथा-कहानी प्रतीकों तथा अनेक प्रकार के उपमानों आदि के प्रयोग से निबन्धों को चमत्कारी रूप प्रदान करने में बालमुकुन्दजी का। लेखनकला अत्यन्त उत्कृष्ट है। इन स्थलों पर लेखक की भाषा-शक्ति का अन्दाज लगाना किसी के लिए भी आसान है।

'मेम का ऊँट' निबन्ध में एक जातिविशेष पर व्यंग्यपूर्ण भाषा के प्रयोग से पाठकों में विस्मयजनक कुतूहल का संचार होता है। एक दूसरे निबन्ध में 'बुलबुल' के उल्लेख द्वारा बातें कही गई हैं। 'ऊँट' 'बुलबुल' जैसे प्रयोग प्रतीकवत् हैं जिनका निर्वाह रचना में अन्त तक सफलतापूर्वक किया गया है। 'ऊँट' प्राचीन आस्थाओं और विश्वास से युक्त भारतीयता को प्रकट करता है और 'बुलबुल' इस नाना रूपात्मक जगत की वस्तुओं में निहित अनुपमसुन्दरता को। ऐसी प्रयोग-विधियों में हमें सांकेतिक कथन-शैली का सौन्दर्य मिलता है। उपमाओं के प्रयोग द्वारा सरसता और व्यंग्य के मिश्रित प्रभाव की अनुभूति पाठकों को होती रहती है। भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद ही कोई लेखक किसी रचना-प्रकार में यह प्रभाव ला सकता है। बालमुकुन्द गुप्त की भाषा के इस स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

(क) 'इसमें आपके वाक्य आपस में इस प्रकार टकराते हैं जैसे भूकम्प से घर के बरतन या बन्दर के कूदने से मकान की खपरैलें।

(ख) यदि द्विवेदीजी होते तो पूछते कि महाराज! यह जो आपने गड़मड़ कई वाक्य आगे पीछे मिला मदारी के गोलों की भाँति उगल दिये हैं, इसका कुछ सिर-पैर है या खाली हिन्दी वालों को हैरान करने के लिए आपने यह कीसा दिखाई है।

उपर्युक्त उद्धरणों में 'वाक्यों का टकराना' 'गड़मड़' आदि पद-प्रयोगों से उत्पन्न ध्वनि में निहित व्यंग्य और हास्य की सृजन-शक्ति का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

मुहावरों व लोकोक्तियों के प्रयोग में गुप्तजी प्रेमघनजी से किसी बात में कम नहीं ठहरते। कई स्थलों पर तो उन्होंने उन प्रयोगों से भाषा को नई अर्थवत्ता दी है। एक भी अनुच्छेद आपकी रचनाओं में ऐसा नहीं मिलता जो मुहावरों से रहित हो। हर वाक्य उसी प्रभाव से बढ़ गया प्रतीत होता है। 'कान खड़े होना' 'गोरस पर चढ़ना' 'डंका बजाना' 'खिल्ली उड़ाना' सफाया कर देना 'हाथ की पुतली होना' जैसे अत्यन्त प्रचलित मुहावरों को उदाहरणस्वरूप रखा जा सकता है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से गुप्तजी किसी प्रयोगशील साहित्यकार से कम नहीं हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग उनकी रचनाओं के भीतर पर्याप्त संख्या में मिलते हैं किन्तु शास्त्रानुगामी पण्डितों की तरह नहीं।

जहाँ विषय या भावों का स्वरूप सांस्कृतिक या जातीय है, वहाँ अत्यन्त परिष्कृत ढंग के तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। उस समय में एक वृद्ध पुरुष एक सद्य जात शिशु को गोद में लिए, मथुरा के कारागार से निकल पड़ा था। शिशु की माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को मूक दुःख से विह्वल होकर चुप चुपके आँसू गिराती थी पुकार कर रो भी नहीं सकती थी।

गुप्तजी की भाषा में हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल समस्त पदों का प्रयोग उपलब्ध होते हैं। पं० गोविन्दनारायण मिश्र व उनके वर्ग के अन्य साहित्यकारों की भाषा की तरह बोझ एवं अव्यावहारिक समस्त पदों के व्यवहार से उत्पन्न शैलीगत कृत्रिमता का पूर्ण अभाव गुप्तजी की रचनाओं में मिलेगा। उर्दू, अंग्रेजी पंजाबी मारवाड़ी व बंगाली एवं देशज शब्दों के प्रति भी गुप्तजी असहिष्णु नहीं हैं। ऐसे शब्द गुप्तजी की भाषा में आकर अपने मूल उद्गम-स्रोत से पृथक हो जाते हैं। उन्हें लेखक हिन्दी के रंग में ऐसा रंग देता है कि वे हिन्दीकृत होकर उसीकी श्रीवृद्धि में सहायक हो उठते हैं। 'कमाल' 'गुमराह' 'मौसमी' 'तमाशा' 'जलसे' [illegible]' [illegible]' 'इमारत' 'गो' 'ड्यूटी' 'कम्पनी थियेटर' 'गजट' आदि प्रचलित-अप्रचलित प्रयोग इसके उदाहरण हैं। कहीं कहीं देशज शब्दों के कारण भावाभिव्यक्ति में अद्भुत चमत्कार आ गया है। ऊपर उद्धृत उद्धरणों में ऐसे प्रयोग सहज ही ढूंढे जा सकते हैं। कभी-कभी व्यंग्य-विनोद से भरी शैली को अधिक पुष्ट बनाने के लिए गुप्तजी की लगनी से उर्दू और संस्कृत शब्दों के मेल से बन पड़ अनायास निकल पड़ते हैं। 'नामाजी उपचारक' ऐसा ही एक शब्द है जिसका उपयोग पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के लिए लेखक ने किया है। अपनी इस शब्द-प्रयोग-विधि में गुप्तजी अत्यन्त आधुनिक हैं। हिन्दी गद्य का ऐसा प्रतिष्ठित और प्रवाहमय रूप बाद में आकर सरदार पूर्णसिंह व पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की ही भाषा में प्राप्त होता है। निश्चय ही गुप्तजी की हिन्दी अभिनन्दनीय' हिन्दी है राष्ट्रीय हिन्दी है। विशुद्ध अर्थों में गुप्तजी 'भाषा सिद्ध' व 'शब्द सिद्ध' साहित्यकार हैं।

इस प्रकार स्पष्ट कथन और व्यंग्य-विनोद आदि से पुष्ट गुप्तजी की शैली जिसके निर्माण में उनका संवेदनशील अनुभूतिप्रवण हृदय उनकी अत्यन्त परिनिष्ठित और परिमार्जित भाषा आदि का पूर्ण योगदान है

उनकी सभी रचनाओं का अन्तर्दर्शन है। इस दृष्टि से वे अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन लेखकों से काफी आगे हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार गुप्तजी शैली की दृष्टि से प्रेमचन्दजी के समकक्ष आते हैं। इसीसे उनकी विदग्धता एवं प्रयोगपटुता प्रमाणित है। निस्सन्देह गुप्तजी सच्चे अर्थों में भाषा-पारखी है शैली निर्माता है और हिन्दी भाषा व साहित्य-संसार उनकी इस देन से हमेशा-हमेशा के लिए आभारी है।

# चरितलेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त

श्री जगन्नाथ सेठ

जीवन-चरित व्यक्ति का स्थायी स्मारक होता है। इसके लिये ऐतिहासिक सत्य अनिवार्य है। यथार्थ व्यक्ति के जीवनकी यथार्थ घटनाओं का समाहार और प्रामाणिकता के प्रति अतिशय आग्रह इसके नित्य तत्व हैं। इस दृष्टि से यह इतिहास के निकट पड़ता है किन्तु इतिहास नहीं है। इतिहास का प्रयोजन समूह से होता है जीवन-चरित का व्यक्ति से। इतिहासकार यदि दूरवीक्षण यंत्र से समष्टिका निरीक्षण करता है तो चरित-लेखक व्यष्टि को अनुवीक्षण यंत्र की परिधि में लाकर देखता है।

जीवन-चरित साहित्य की ही एक विधा है। इसमें रोचकता और आनन्द प्रदान करने की शक्ति के साथ चरित-नायक को सजीव और चेतन बनाने के लिये सर्जनात्मक प्रतिभा और कल्पनाकी भी अपेक्षा है। इस दृष्टि से यह उपन्यास के निकट है किन्तु उपन्यासकार जहां अपने पात्रों की सृष्टि करता है, उनके जीवन में तथ्यों का आरोप करता है वहाँ चरित-लेखक का कार्य सृष्ट पात्रके अन्तर्बाह्य जीवन का अन्वेषण और उद्घाटन करना है। दोनों में उतना ही अन्तर है जितना साहित्य के सत्य और ऐतिहासिक सत्य में होता है।

लिटन स्ट्रेची की दृष्टि में 'एक अच्छा जीवन-चरित लिखना शायद उतना ही कठिन है जितना अच्छे जीवन का निर्वाह करना' क्योंकि जीवन चरित की कला 'लेखन-कलाकी सभी विधाओं में सर्वाधिक सुकुमार और मानवीय है।' इसके लिये चरितनायक के प्रति सहानुभूति होना आवश्यक है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त में यह सहानुभूति श्रद्धा की सीमा तक विकसित थी।

एमिल लडविग ने जिस भाव-विदग्धता को चरितलेखन के लिये आवश्यक शर्त माना है वह गुप्तजी की प्रेरक शक्ति थी। जिनके व्यक्तित्व ने उन्हें प्रभावित किया जिनके साथ उनका मेल हृदय का भावों-विचारों का था उनपर उन्होंने स्वतःप्रेरित होकर लिखा जीवन चरित में उनकी स्मृति को अमर बनाने का प्रयास किया। उनका विषय-निर्वाचन एक प्रकार से आत्मोद्घाटन भी है।

गुप्तजी को धरोहर के रूप में भारतेन्दु की परम्परा मिली थी। उससे पूर्व हिन्दी में जीवन-चरित लिखने की प्रथा ही न थी। यद्यपि 'हर्षचरित' जैसे ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में इस विधा की स्वीकृति का निर्देश करते हैं किन्तु वहां वस्तुतः सत्यकी अपेक्षा मुक्त कल्पना और रमणीयता के प्रति अधिक पक्षपात था। हिन्दी साहित्य में चरित के नाम पर मध्ययुगीन वैष्णव वार्ताओं और प्रशस्तियों तथा बनारसीदास के "अर्धकथानक" के अतिरिक्त और किसी सामग्री का उल्लेख इतिहासमें नहीं मिलता। आधुनिकता की नव्य चेतना के साथ साहित्य में इस नयी विधा के प्रवर्तन का श्रेय भी भारतेन्दु को ही है। उनका क्षितिज व्यापक था। साहित्यकारों के अतिरिक्त सिकन्दर और नेपोलियन जैसे विजेताओं के सम्बन्ध में भी उन्होंने लिखा। शंकर और रामानुज से लेकर मुहम्मद साहब और बीबी फातिमा तक के जीवन-चरित को प्रकाश में लाये। यहां तक कि दैत्यराज रावण को भी न छोड़ा। उसकी जन्मकुण्डली देखनेके अभिलाषियोंको भारतेन्दु ग्रन्थावलीमें वह मिल जायगी।

जन्मकुण्डली देनेकी पद्धतिका तो बहुत अधिक प्रचलन न हुआ किन्तु जीवनचरित-लेखन में भारतेन्दु की शैली को ही उनके समकालीन और परवर्ती लेखकोंने अपनाया। श्री कार्तिकप्रसाद खत्री बाबू राधाकृष्णदास पं० माधव प्रसाद मिश्र पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी मुंशी देवीप्रसाद आदिके माध्यम से चरितलेखनकी जो परम्परा आगे बढ़ी उसीकी एक कड़ी बाबू बालमुकुन्द गुप्त हैं।

गुप्तजी के सम्पूर्ण कृतित्व की—और व्यक्तित्व की भी—प्रेरक शक्ति देश प्रेम और हिन्दीप्रेम है। देश की उन्नति साध्य है और हिन्दी साधन। चरितलेखन की प्रेरणा भी यहीं से है।

उन्होंने कुल अठारह संक्षिप्त जीवन-चरित लिखे। इनमें अधिकांश समकालीन व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं शेष ऐतिहासिक पात्रों से। साधारणतः जीवित व्यक्तियों का चरित लिखना इस विधा की मान्यताओं के प्रतिकूल है किन्तु

गुप्तजी ने पं० गौरीदत्त, मुंशी देवीप्रसाद और मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद के महत्वपूर्ण कार्यसे प्रभावित होकर इनके जीवनकाल में ही इनके चरित लिखे। व्यक्ति की मृत्यु और लेखन-काल के बीच समय के व्यवधान की दृष्टि से गुप्तजी के जीवन-चरितों के तीन प्रकार हैं—

१) शोक-सम्वाद के साथ लिखे गये जीवनचरित—
पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० देवीसहाय, पाण्डे प्रभुदयाल, पं० माधवप्रसाद मिश्र, हा केशव! • (केशवप्रसाद मिश्र)।

२) मृत्यु के बाद कुछ समय अतिवाहित होने पर लिखे गये चरित—
पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० देवकीनन्दन तिवारी, बाबू रामदीन सिंह, योगेन्द्रचन्द्र बसु, हरबर्ट स्पेंसर, मैक्समूलर।

३) ऐतिहासिक पुरुषों के ऊपर लिखे गये जीवनचरित—
अकबर बादशाह, टोडरमल, शेख सादी, शाइस्ता खाँ।

प्रथम प्रकारके चरित दुःख से कातर हृदय की भावांजलियाँ हैं। इनके आरम्भ में चरित-नायकों के तिरोभाव की दुःखद सूचना के साथ अभाव की विकलता से उत्पन्न शोकोच्छ्वास है, अन्तिम अंश भावविगलित आँसुओं से गीले हैं। पं० अम्बिकादत्त व्यास के सम्बंध में लिखते लिखते गुप्तजी सोच रहे थे "क्या लिखें, उनकी किस-किस चीज की आलोचना करें? चित्त व्याकुल है। आँखों से आँसू बहे चले आते हैं।" और पं० माधवप्रसाद मिश्र से तो उनका ऐसा प्रेम था कि "बातें करते करते दिन बीत जाते थे रातें उड़ जाती थीं ... गत दो साल से वह नाराज थे। इस नाराजगीके दिनों में कभी कभी मिला करते तो कहते—'बस अब यही बाकी है कि तू मर जाय तो एक बार तुझे खूब रो लें और हम मर गए तो हम जानते हैं कि पीछे तू रोवेगा।' आज पहली तो नहीं पिछली बात हुई! याद करते आँसू निकल पड़े! अब नहीं लिखा जाता।"

मार्मिक शोक की ऐसी स्थिति में लेखक से चरितनायक के सम्पूर्ण जीवन के समग्र चित्रकी माँग करना धृष्टता होगी। जीवनचरित की कसौटी पर कसने की आशा स्नेही सुहृद् और सहयोगियों के प्रति अन्तिम वाणी के पावन अर्घ्य के रूप में ही इन्हें स्वीकार करना चाहिए।

---

• श्री मदनकिशोर गुप्त के पुस्तकालय में सुरक्षित।

एमिल लड्विग में जिस भाव-विदग्धता को चरितलेखन के लिए शर्त माना है वह गुप्तजी की प्रेरक शक्ति थी। जिनसे उन्हें प्रभावित किया जिनके साथ उनका मेल हुआ का भा था उनपर उन्होंने स्वतःप्रेरित होकर लिखा जीवन-चरि स्मृति को अमर बनाने का प्रयास किया। उनका विषय-निर्वा से आत्मोद्घाटन भी है।

गुप्तजी को धरोहर के रूप में भारतेन्दु की परम्परा मिली थी हिन्दी में जीवन चरित लिखने की प्रथा ही न थी। यद्यपि पूर्व संस्कृत साहित्य में इस विधा की स्वीकृति का निर्देश वहां वस्तुगत सत्यकी अपेक्षा मुक्त कल्पना और रमणीयता प्रधान था। हिन्दी साहित्य म चरित के नाम पर मध्ययु और प्रशस्तियों तथा बनारसीदास के 'अर्धकथानक' किसी सामग्री का उल्लेख इतिहासमें नहीं मिलता। चेतना के साथ साहित्य में इस नयी विधा के प्रवर्तन भ ही है। उनका क्षितिज व्यापक था। साहित्यकारों और नेपोलियन जैसे विजेताओं के सम्बन्ध में भी – रामानुज से लेकर मुहम्मद साहब और बीबी फा को प्रकाश में लाये। यहां तक कि वैश्यराज ग जन्मकुण्डली देखनेके अभिलाषियोंको भारतेन्दु न

जन्मकुण्डली देखनी पद्धतिका तो बहुत – जीवनचरित-लेखन में भारतेन्दु की शैली को लेखकोंने अपनाया। श्री कार्तिकप्रसाद खत्री प्रसाद मिश्र व महावीरप्रसाद द्विवेदी चरितलेखनकी जो परम्परा आगे बढ़ी उसे

गुप्तजी के सम्पूर्ण कृतित्व की—और भ प्रेम और हिन्दीप्रेम है। देश की चरितलेखन की प्रेरणा भी यही रहे है। उन्होंने कुछ म... ...क्षिप्त जीवन-चरित स्थापना ... है लेख ऐतिहासिक इस विधा को

सुनी हुई बातें मिलाकर उन्होंने सामग्री के अभाव की यथासंभव पूर्ति की।

सामग्री एकत्र करने से अधिक महत्वपूर्ण कार्य उसके बाद आरंभ होता है। इसके लिये सिडनी ली ने दो सिद्धान्त स्थिर किये हैं—सामग्री का निर्वाचन और परीक्षण। साथ ही चरितलेखक के दो कर्तव्यों का निर्देश भी किया है—संक्षिप्तता एव वक्ता-स्वातन्त्र्य। यहां संक्षिप्तता से उनका तात्पर्य है 'एक भी महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा किये बिना समस्त अनावश्यक तत्वों का परित्याग। सर सिडनी ली ने जीवन-चरित के "अभिलषित परिप्रेक्ष्य' के लिये संतुलित विन्यास तथा अनिरुद्ध एव अविवादास्पद दृष्टि' को आवश्यक माना है। इन आधारों पर गुप्तजी के जीवन-चरितों का विवेचन किया जा सकता है।

गुप्तजी की सामग्री-चयन पद्धति में चरितनायक के जन्म वंश-परिचय शिक्षा स्वभाव गुण उदारता धार्मिक प्रवृत्ति कृतित्व उपलब्धियां रचनाएँ यु वय आदि का विशेष महत्व है। अधिकांश चरितों में काल की गति और युग की परिस्थिति के वर्णन में विशेष रूप से प्रवृत्त हुए बिना नायक का चरित चित्रित किया गया है और यह उचित भी है संक्षिप्त चरित-लेखन में युग के विशद चित्रण का प्रयोजन भी नहीं है। किन्तु मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद के चरित की पटभूमि विस्तृत है। उर्दू गद्य निर्माताओं के संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त आजाद के वंश-परिचय के संदर्भ में अंग्रेजों के पाशविक अत्याचार का जघन्य चित्र भी उस पर चित्रित है। इससे आजाद का महत्व तो बढ़ता ही है उनका व्यक्तित्व भी उभरता है।

निर्वाचित सामग्री को सजाने की पद्धति प्रायः सिलसिलेवार या तिथिक्रमानुसार या ऐतिहासिक है। कहीं कहीं बीच-बीच में चरित को निखारनेवाले छोटे-मोटे प्रसंगों का भी उपयोग हुआ है। आत्मीयता का स्पर्श भी इधर उधर मिलता है। लेखक के व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र है। चरितों के प्रारंभ में कहीं अलंकरण और रूपक की छटा है कहीं सीधी-सादी जन्म और परिचय की शैली कहीं किसी घटना का नाटकीय प्रस्तुतीकरण या कोई प्रिय उक्ति है तो कहीं महत्व प्रतिपादक या प्रशस्तिमूलक भूमिका कहीं क्षोभ की आकुल अभिव्यक्ति है तो कहीं पाठक को करुण विह्वलता। सामग्री

जीवित व्यक्तियों के तथा दूसरे और तीसरे प्रकार के चरित-लेखन के पीछे तीन भिन्न उद्देश्य हैं —(१) चरितनायक की स्मृति को सुरक्षित रखना (२) हिन्दी-सेवी तथा अन्य विद्यानुरागियों के महत्त्व से हिन्दीभाषियों को परिचित कराना (३) चरितनायक के जीवन के विशेष पक्ष का उद्घाटन करना। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत पं० प्रतापनारायण मिश्र पं० देवकीनन्दन तिवारी बाबू रामदीन सिंह मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद और सेख सादी के जीवनचरित हैं द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत पं गौरीदत्तजी मुंशी देवीप्रसाद योगेन्द्रनाथ बसु, मैक्समूलर और हरबर्ट स्पेंसर के तथा तृतीय वर्ग में अकबर, माइस्ता खां और टोडरमल के।

जीवनचरित लिखने में सामग्री का अभाव बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित करता है। गुप्तजी के सामने भी यह सबसे बड़ी समस्या थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र से संबंधित बहुत-सी सामग्री पाण्डे प्रभुदयाल की मृत्यु के साथ अलभ्य हो गयी बहुत सी बाबू रामदीन सिंह के निधन के साथ। पं देवकीनन्दन तिवारी और आज़ाद संबंधी सामग्री के तो अस्तित्व का भी कहीं पता न था। किसी को क्या पड़ी थी सिर खपाने की! लेखक की ऐसी सामाजिक उपेक्षा का गुप्तजी को क्षोभ था— "हिन्दी के सुयोग्य लेखक को नाम न तो बंगाली में रखा पर हिन्दी के प्रेमी भी उसे गुमनामी के हवाले करते हैं यह बड़े ही आक्षेप की बात है! आज़ाद के संबंध में तो कातर होकर उन्होंने लिखा था—"आह बेदर्दी! पूछने पर कोई जवाब तक नहीं देता। वह (आज़ाद) अगर हम बख्त मेरे दिल की बेताबी जान सकते तो तब अपनी ज़िन्दगी के हालात लिखकर भेज देते और अपना ताज़ा फ़ोटो खिंचवाकर भेज देते चाहे उन्हें फ़ोटो खिंचवाने का शौक भी न होता। मगर उनके शागिर्दों और उनके नाम लेनेवालों ने मुझे बिलकुल मायूस किया।

लेकिन वे मायूस हुए नहीं। सतत परिश्रम और अध्यवसाय से सामग्री एकत्र करते रहे। पं० प्रतापनारायण मिश्र के संबंध में उन्होंने 'प्रताप-चरित' के महायता की पं० देवकीनन्दन तिवारी के संबंध में पं० बालमुकुन्द भट्ट से परामर्श लिया आज़ाद के संबंध में बूढ़े बुजुर्गों की सेवा में उपस्थित हुए। अन्य व्यक्तियों के संबंध में भी वे निश्चेष्ट नहीं थे। और इस तरह जो कुछ उपलब्धि हुई उसके बाद अपनी व्यक्तिगत जानकारी और

सुनी हुई बातें मिलाकर उन्होंने सामग्री के अभाव की यथासंभव पूर्ति की।

सामग्री एकत्र करने से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उसके बाद आरंभ होता है। इसके लिये लिटन स्ट्रेची ने दो सिद्धान्त स्थिर किये हैं—सामग्री का निर्वाचन और परीक्षण। साथ ही चरितलेखक के दो कर्तव्यों का निर्देश भी किया है—संक्षिप्तता एवं चेतना-स्वातन्त्र्य। यहाँ संक्षिप्तता से उनका तात्पर्य है, "एक भी महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा किये बिना समस्त अनावश्यक तत्त्वों का परित्याग। सर सिडनी ली ने जीवन-चरित के "अविराम परिप्रेक्ष्य' के लिए संयत विन्यास तथा परिष्कृत एवं अविवादास्पद दृष्टि' को आवश्यक माना है। इन आधारों पर गुप्तजी के जीवन-चरितों का विवेचन किया जा सकता है।

गुप्तजी की सामग्री-चयन पद्धति में चरितनायक के जन्म वंश-परिचय शिक्षा स्वभाव गुण उदारता धार्मिक प्रवृत्ति कृतित्व उपलब्धियां रचनाएँ, मृत्यु श्रम आदि का विशेष महत्त्व है। अधिकांश चरितों में काल की गति और युग की परिस्थिति के वर्णन में विशेष रूप से प्रवृत्त हुए बिना नायक का चरित चित्रित किया गया है और यह उचित भी है। संक्षिप्त चरित-लेखन में युग के विशद चित्रण का प्रयोजन भी नहीं है। किन्तु मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद के चरित की पृष्ठभूमि विस्तृत है। उर्दू गद्य निर्माताओं के संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त आजाद के वंश-परिचय के संदर्भ में अंग्रेजों के पाशविक अत्याचार का जघन्य चित्र भी उस पर अंकित है। इससे आजाद का महत्त्व तो बढ़ता ही है उनका व्यक्तित्व भी उभरता है।

निर्वाचित सामग्री को सजाने की पद्धति प्राय सिलसिलेवार या तिथिक्रमानुसार या ऐतिहासिक है। कहीं कहीं बीच-बीच में चरित को निखारनेवाले छोटे-मोटे प्रसंगों का भी उपयोग हुआ है। आत्मीयता का स्पर्श भी इधर उधर मिलता है। लेखक के व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र है। चरितों के प्रारंभ में कहीं अलंकरण और रूपक की छटा है कहीं सीधी-सादी जन्म और परिचय की शैली कहीं किसी घटना का नाटकीय प्रस्तुतीकरण या कोई प्रिय उक्ति है तो कहीं महत्त्व प्रतिपादक या प्रशस्तिमूलक भूमिका कहीं क्षोभ की आकुल अभिव्यक्ति है तो कहीं शोक की करुण विह्वलता। सामग्री

संयोजन का क्रम बहुत सुन्दर है। उसमें संगति है, कथ्य कथन-शैली और उद्देश्य की अन्विति है। कुशल शिल्पी की प्रतिभा का परिचय सर्वत्र मिलता है। संक्षेप में विन्यास सन्निविष्ट है, सामग्री-चयन में कहीं अवांछित तत्वों का समावेश नहीं हुआ है, लेकिन लगता है जैसे कुछ वांछित और आवश्यक बातें छूट गयी हैं।

जीवनचरित में सम्पूर्ण जीवन का सर्वांगीण रूप उभरना चाहिये। सर्वांगीणता यदि संभव न हो तो कम से कम जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों और ऐसे रोचक प्रसंगों की उपेक्षा अपेक्षित नहीं जो चरित की रेखाओं में रंग भरते हैं। गुप्तजी चरितनायकों के व्यावहारिक जीवन की उपलब्धियों से प्रभावित हैं, उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर मुग्ध हैं किन्तु उनके पारिवारिक जीवन के प्रति, जीवन के व्यक्तिगत पक्ष के प्रति प्राय: मौन हैं। उनके मस्तिष्क के एक ही पक्ष का उद्घाटन कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनके हृदय में प्रवेश करने के बजाय देहली से ही प्रतिमा को प्रणाम कर लेते हैं। चरितनायक के वैवाहिक जीवन की ओर उन्होंने आँख उठाकर भी नहीं देखा। इसे उस युग की नैतिकता का परिणाम समझा जाय या उस जीवन की अभिज्ञता का अभाव? केवल हरबर्ट स्पेंसर के अविवाहित रह जाने के कारणों की मनोरंजक चर्चा है और वह प्रसंग अपनी रमणीयता में जीवनचरित का एक सुन्दर अंश है।

ग्यारह वर्ष की सुदीर्घ अवधि के बाद जिस स्नेह-श्रद्धाभाजन का जीवनचरित लिखने में गुप्तजी प्रवृत्त हुए उनके संबंध में सामग्री का अभाव होने पर भी उन्हें यह तो विदित होगा कि वे इलाहाबाद कांग्रेस अधिवेशन में कानपुर के प्रतिनिधि बनकर गये थे, उन्होंने कानपुर में नाटक-समाज की नींव डाली थी और स्वयं एक कुशल अभिनेता थे। स्त्रीपात्र का अभिनय करने के लिये पिता से मूँछ मुड़वाने की अनुमति माँगना क्या जीवनचरित के लिये रोचक और व्यक्तित्व को आलोकित करनेवाला प्रसंग नहीं है? दस वर्ष तक जिनसे मिलने का चौबीस घंटों का साथ रहा जिनके "स्वभाव और व्यवहार की एक एक बात मूर्तिमान सम्मुख दिखाई देती है" उनके स्वभाव और व्यवहार का मर्म रूप चित्रित करना क्या जीवनचरित में अपेक्षित नहीं है? जिनके संबंध में गुप्तजी स्वीकार करते हैं कि 'उनकी हिन्दी ही को लेकर हमारी जीवनी लिखी जाती है' उनकी साहित्यिक कृतियों

और उपलब्धियों का उल्लेख तक न करके केवल यह कह कर उनका चरित उन्होंने समाप्त कर दिया कि हिन्दी वह कैसी जानते थे यह बात यहां नहीं बताई जा सकती। पं० देवकीनन्दन तिवारी की भी एक पुस्तक की कुछ चर्चा करके शेष दो पुस्तकों के संबन्ध उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि "हम किसी दूसरे लेख में इनकी बात कहेंगे।" "कवियों के जीवन चरित' में चरितनायकों के साहित्यिक कृतित्व पर समुचित विचार न करने के कारण इंगलैण्ड में जॉनसन जैसे व्यक्ति को भी कड़ी आलोचना हुई थी।

इस दृष्टि से शेख सादी मुन्शी देवीप्रसाद और विशेषकर मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद अधिक भाग्यशाली हैं। शेख सादी के चरित में उनकी तीनों पुस्तकों का संक्षिप्त परिचय है और मुंशी देवीप्रसाद के ग्रन्थों की पूरी सूची उर्दू विभाग और हिन्दी विभाग के अन्तर्गत दी गयी है। आज़ाद द्वारा शौक से लिखी गयी पुस्तकों और पंजाब के शिक्षा-विभाग के लिये लिखी गयी पुस्तकों की विस्तृत तालिका मिलती है। आज़ाद से लेखक विशेष प्रभावित था क्योंकि 'उनकी वही कलम 'आबहयात' और 'नैरंगे ख़याल' लिखकर कलेजा को हैरत में डाल सकता है और वही कलम उर्दू की पहिली और मीठी लोरी लिखकर छोटे-छोटे बच्चों को हँसा और चुप कर सकता है। उनकी इस खास खूबी को प्रकट करने के लिये उर्दू का कायदा उर्दू की पहली किताब और दूसरी किताब से नमूने-नमूने पर सुन्दर उदाहरण भी दिये गये हैं। यहाँ लेखक का मन रमा है।

गुप्तजी के जीवन-चरितों में नायकों के केवल गुणों का ही निदर्शन हुआ है उनकी त्रुटियों के प्रति लेखक मौन है। मित्र चरित-लेखकों की दृष्टि में यह दोष है। सैमुएल जॉनसन की जीवनी के रचयिता जेम्स बॉसवल ने कहा था "और वह (जॉनसन) वैसा ही दृष्टिगोचर होगा जैसा वह वस्तुतः था क्योंकि मैं उसका प्रशंसा से भरा गुण-कीर्तन करना नहीं बल्कि उसके जीवन को [illegible] करना चाहता हूँ" जो उसके महान् और श्रेष्ठ होनेपर भी सर्वांगपूर्ण नहीं समझा जाना चाहिये। प्रत्येक चित्र में प्रकाश के साथ ही साथ छाया का होना भी वांछनीय है। गुप्तजी ऐसा दावा नहीं कर सकते। उनकी केवल गुण-दर्शन करने की एकांगी प्रवृत्ति उन

१

पाँच दृष्टिकोणों के अन्तर्गत आ जाती है जिनसे सर सिड्नी ली ने चरित लेखक को सतर्क रहने का परामर्श दिया है।

खेल साथी के चरित्र में गुप्तजी ने लिखा है 'जिसकी कविता की इतनी धूम है जिसका देश-देशान्तर में इतना नाम है उसकी शक्ल सूरत कैसी होगी ऐसा विचार हरेक पढ़े-लिखे आदमी के जी में उठता है। इसी से बड़ी तलाश से साथी की आकृति प्राप्त की है। एक हाथ में डबर है दूसरे में करताल।" पाठक की रुचि और जिज्ञासा को वे खूब समझते थे, लेकिन केवल छाया चित्र से जीवन चरित का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसके लिये शब्द-चित्र चाहियें। ऐसे चित्र भी लेखक ने खींचे हैं। साठ साल के 'हलके फुलके' चेहरे पर झुर्रियों वाले पं० पीरीदत्त जी का दो रेखाओं का चित्र बोल पड़ता है। पं० देवकीनन्दन तिवारी का चित्र अधिक साफ है— "लम्बे पतले आदमी थे रंग साँवला और उमर ढलती हुई। अपनी छपाई पोथियों की गठड़ी बगल में रखते थे, उनको बेचते और बाँटते भी जाते थे। एक मोटी 'कमरी' पहने हुए थे सिर पर एक गोल बड़ी भद्दी टोपी थी जो उस प्रान्त के पुरानी चाल के ब्राह्मण बहुधा पहना करते हैं। योगेन्द्रचन्द्र बसु का भी चित्र है, किन्तु इतना सुन्दर नहीं। अन्य सब पात्रों के शब्द-चित्र प्रस्तुत करने का कोई प्रयास नहीं हुआ है। यह भी एक त्रुटि है। आँखें हृदय की भाषा बोलती हैं नाक की बनावट व्यक्तित्व का परिचय देती है चेहरे की आकृति और रेखाएँ चारित्रिक विशेषताओं का द्योतन करती हैं। इन सबके समन्वित रूप में व्यक्ति के अन्तर्बाह्य जीवन का शब्द-चित्र छिपा रहता है। इसका उद्घाटन चरितलेखक के लिये आवश्यक है। शायद इसीलिये एमिल लुड्विग ने कहा था कि "नायक के शब्दचित्र के बिना किसी जीवनी को जीवनी ही नहीं कहा जा सकता'।

चरितलेखन की सामग्री के रूप में गुप्तजी ने चरितनायक के आत्मचरित को विशेष महत्व दिया है क्योंकि 'मनुष्य की जितनी ही बातें और जितने ही विचार ऐसे हैं जिनको वह स्वयं ही भली भाँति जानता है और लिख सकता है'। कुछ इसी तरह का मत डॉ० सैमुएल जॉनसन का भी है। [illegible] ने हरबर्ट स्पेंसर के आत्मचरित का उपयोग किया है। पं० प्रताप

नारायण मिश्र का आत्म-चरित तो उनके जीवनचरित का एक प्रमुख अंश और बहुत कुछ आधार ही है। किन्तु सर सिड्नी ली इस प्रकार के उपयोग के विरोधी हैं। उनका तर्क है कि "जीवनचरित-लेखक की मानसिक प्रक्रिया में जो मुख्यतः वस्तुनिष्ठ है, और आत्मकथा-लेखक की मानसिक प्रक्रिया में, जो मुख्यतः व्यक्तिनिष्ठ है बहुत बड़ा अन्तर होता है। यों बॉसवेल ने भी जानसन की जीवनी में उनके पत्रों और संवादों को उद्धृत किया है किन्तु वहाँ उनका सीमित उद्देश्य चरित्रनायक के "मस्तिष्क की एक झलक" दिखाना भर है।

छोटी-मोटी घटनाएँ, साधारणतः तुच्छ समझी जानेवाली बातें कभी-कभी जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व को उभारने में प्रायः ऐसे ही प्रसंग सहायक होते हैं। चरित-लेखन के संदर्भ में इन्हें विशिष्टतासूचक प्रसंग कहकर लिटन स्ट्रेची ने इनके प्रयोजन और महत्त्व पर विशेष बल दिया है। गुप्तजी ने भी ऐसे प्रसंगों का कहीं कहीं उपयोग किया है। मुन्शी हरूमणि के पूछने पर कि 'फारसी कहाँ तक पढ़े हो प्रताप ने जवाब दिया—'तोहफतुल इस्लाम और 'पादाशे इस्लाम' तक। मुंशीजी सुनकर हँस पड़े। हँसने का कारण यह था कि उक्त दोनों फारसी की पोथियाँ वही थीं जो मुंशीजी ने मुसलमानों के उत्तर में लिखी थीं।" एक छोटी सी बात से मिश्र जी की परिहासप्रियता और प्रत्युत्पन्नमतित्व का कैसा सुन्दर निदर्शन हुआ है। ऐसे ही प्रसंग चरितनायक के व्यक्तित्व की झलक दिखाकर उससे आत्मीय संबंध स्थापित कराने में सहायक होते हैं। पं० देवकीनन्दन तिवारी की तेजस्विता का परिचय भी एक साधारण सी बात से मिल जाता है। वे गरीब थे किन्तु बड़े-बड़े पंडितों और उपदेशकों ने जहाँ महामण्डल से आने-जाने का भाड़ा लिया था वहाँ उन्होंने नहीं लिया। कहा 'इसी तरह काम चल जाता है। ऐसे कामों में भाड़ा लेना मैं पसन्द नहीं करता। हरबर्ट स्पेंसर का तो पूरा चरित ही ऐसे प्रसंगों से भरा है। एकान्त विचार में बाधा पड़ने के भय से बालकपन में भी अपने चाचा के घर का ठिकाना न बताना, चाचा के घर से भागकर राह में कहीं बिना रुके पहले दिन ४८ मील दूसरे दिन ४७ मील और तीसरे दिन २० मील चल कर अपनी माँ

के पास पहुँच जाना आदि बातों से उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। आज़ाद के फ़ारसी में ना-लियाकत होने के बारे में भी एक पन्ना है। किन्तु ऐसे सार्थक प्रसंग यहीं तक सीमित हैं। अन्य चरित नायकों के जीवन की ऐसी झलक दिखाने का कोई आग्रह नहीं दिखाई देता।

परिचय देने के उद्देश्य से जो चरित लिखे गये हैं उनमें पं० गौरीदत्त जी का महत्त्व उनके एकनिष्ठ नागरी-प्रचार के कारण है। यहाँ "नागरी का प्रचार करना काले पत्थर पर पेड़ उगाने से कम नहीं है ऐसे मेरठ शहर में नागरी फैलाने वाले पण्डित गौरीदत्त जी की पूजा करने को किसका जी न चाहेगा ? मुंशी देवीप्रसाद ने मुसलमानी समय के लुप्त होते हुए भारतीय इतिहास का पुनरुद्धार किया है। योगेन्द्रचन्द्र बसु की प्रतिभा व्यावसायिक बुद्धि व्यवहार-कुशलता और पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का उल्लेख कर हिन्दीभाषियों को उनसे कुछ सीखने समझने की प्रेरणा दी गयी है। हर्बर्ट स्पेंसर के चरित के माध्यम से लेखक बतलाना चाहता है कि 'विद्वान क्या चाहते हैं और उनका हृदय कैसा होता है'। वेदों का उद्धार करनेवाले संस्कृत-सेवी भारत-प्रेमी मैक्स मूलर के जीवन और अवदान का भारतवासियों के लिये विशेष महत्त्व है। 'विलायत वालों को चाहे मैक्समूलर जैसे लोग मिल जायें, पर हम भारत वासियों को हमारी देववाणी संस्कृत का आदर करनेवाला मैक्समूलर न मिलेगा।"

ऐतिहासिक चरितों के संबंध में प्रश्न उठ सकता है—इतिहास के पृष्ठों से चन्द्रगुप्त और अशोक प्रताप और शिवाजी को न लेकर अकबर पर लिखने का तात्पर्य ? और इतिहास की परम्परा में भला शाइस्ता खाँ का क्या महत्त्व ? लेकिन एक बात स्मरण रखनी चाहिये। गुप्तजी के सम्पूर्ण गद्य में कुछ भी ऐसा नहीं है जो प्रयोजन-सिद्ध न हो। वे एक जागरूक देशभक्त थे। जिस भावना ने उन्हें शिवशम्भु के चिट्ठे लिखनेकी प्रेरणा दी उसी भावना ने अकबर और शाइस्ता खाँ की ओर भी उन्हें उन्मुख किया।

अकबर पर लिखने का एक और कारण भी था। उस समय बादशाह की निष्पक्षपातिता बताने की एक योजना थी। बंग-विभाजन के कारण यह योजना

तो पूरी न हो सकी फिर भी गुप्तजी ने अकबर का चरित लिखा। अकबर के समय देश कितना समृद्ध था और अंग्रेजों की स्थिति कितनी हीन थी लेखक के समय तक देश की स्थिति कितनी दयनीय हो गयी और अंग्रेज अत्याचारी शासक बन बैठे —इस विरोध को उभार कर सामने रखने के लिये लेखक ने अकबर के समय की जीवनोपयोगी वस्तुओं के भाव पूरे एक पृष्ठ में लिख कर कहा है "स्पष्ट मालूम होगा कि जिस भारतवर्ष में अब हर साल अकाल और अन्न के लिये हाहाकार रहती है, वह कभी इतना सुखी था। इस विरोध को उभारने के लिये ही जार्ज म्यूबरीका वृत्तान्त और अकबर के नाम लिखे गये रानी एलिजाबेथ के विनयकोमल प्रार्थनाभरे पत्र का विस्तृत उद्धरण देते हुए लेखक ने क्षुब्ध होकर लिखा है औह! उस समय के भारतवर्ष और आज के भारतवर्ष में कितना अन्तर है। अंग्रेजों के उस समय के प्रताप और आज के प्रताप में कितना अन्तर है। उस समय विलायत की रानी ने भारत के बादशाह से अपने कई आदमियों को सुखपूर्वक दरबार में रखने की प्रार्थना की थी। आज वही अंग्रेज इस मुल्क के मालिक और हर्ताकर्ता हैं।

शाइस्ता खाँ के जीवन के भी प्रायः उतने ही अंश को चरित में महत्व मिला है जितने का अंग्रेजों से संबंध है। अंग्रेजों की कूटनीति और स्वार्थपरता के विरोध में शाइस्ता खाँ की उदारता और प्रजावत्सलता का निदर्शन हुआ है। पचास वर्षों से चलता हुआ अंग्रेजी व्यापार शाइस्ता खाँ के शासनकाल के अन्त में एकदम जड़ से उखाड़ दिया गया। पर देशी प्रजा उसे बहुत चाहती थी। उसके समय में एक रुपये का आठ मन अनाज बिकता था। इस बात की यादगार में उसने ढाके के नगरद्वार बनवाये और उन पर लिख दिया था कि जब तक कोई हाकिम ऐसा सस्ता अनाज न कर दे इस द्वार से कभी न प्रवेश करे।

चरित साहित्य में टोडरमल ही ऐसा पात्र है जो एक वर्ग विशेष के लिए लिखा प्रतीत होता है। इसमें हुण्डी का स्वरूप सराफ, चौधरी साहूकार के लक्षण, बही-खाता लिखने की विधि तथा व्यापार-नीति की और भी कितनी ही बातें हैं। विशेषता यही है कि टोडरमल ने व्यापार-ज्ञान पद्यों में बांटा है। पं०

वंशीसहाय के प्रसंग में उनके भ्रातृपुत्र के प्रति लेखक का आशीर्वचन—'वह पिता की भाँति कीर्तिमान पण्डित होकर मारवाड़ी जाति का यश बढ़ावे'—उस युग की जातिबद्ध दृष्टि का परिणाम है। लेकिन ऐसे उदाहरण विरल ही हैं।

'एमिनेंट विक्टोरियन्स' की प्रस्तावना में स्ट्रेची ने यह क्षोभ प्रकट किया था कि इंग्लैण्ड में फ्रांस की भाँति महान् जीवन-चरितों की परम्परा नहीं है। चरितलेखन की सुदीर्घ परम्परा के बाद स्थिर किये गये आलोचना के मानदण्डों की ऊँचाई से उसने यह बात कही थी। उसी ऊँचाई से यदि जीवनचरित की पहली पीढ़ी को देखा जाय तो स्वभावतः वह बहुत छोटी दिखाई देगी, उसकी उपलब्धियाँ छिप जायेंगी न्यूनताएँ ही अधिक उभरेंगी। गुप्तजी हिन्दी के चरितलेखकों की पहली पीढ़ी में ही थे। युग की उपलब्धियाँ और न्यूनताएँ उनके साथ थीं युग की सीमाएँ उनके सामने थी। जागरूक देशभक्त, सचेतन पत्रकार और हिन्दी सेवा के व्रती होने के कारण उनके कर्तव्य भी बहुमुखी थे। ऐसी स्थिति में जीवन-चरित के लिये आवश्यक प्रभूत सामग्री एकत्र करने के लिये अपेक्षित समय का उनके पास अभाव होना स्वाभाविक था। और केवल एक ही व्यक्ति का चरित लिख कर उनके कर्तव्य की इति नहीं होती। विविध क्षेत्रों में अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाते हुए भी उन्होंने अठारह व्यक्तियों की स्मृतियों को शब्दों में पिरोया। यह समष्टि-साधना व्यापक और उदार दृष्टि का परिणाम है। इसी परिप्रेक्ष्य में उनके जीवनचरितों के महत्त्व को समझा जा सकता है। इन चरितों में विधा की चरम उपलब्धियाँ नहीं हैं किन्तु आने वाली पीढ़ियों की उपलब्धियों के लिये इनमें साधना हुई है। इस साधना की दृष्टि से उसमें निहित उद्देश्य की दृष्टि से, प्र रक प्रवृत्ति की दृष्टि से जीवन-चरित-लेखन में उनका अवदान अपनी आरम्भिक प्रयत्नावस्था में भी गौरवान्वित है।

# हिन्दी आलोचना को श्री बालमुकुन्द गुप्त की देन

श्री विष्णुकान्त शास्त्री

"आलोचना की रीति अभी हिन्दी में भलीभाँति जारी नहीं हुई है और न लोग उसकी आवश्यकता ही को ठीक-ठीक समझे हैं। इससे बहुत लोग आलोचना देखकर घबरा जाते हैं और बहुतों को वह बहुत ही अप्रिय लगती है। यहाँ तक कि जो लोग स्वयं इस मैदान में कदम बढ़ाते हैं अपनी आलोचना होते देख कर बड़े दुर्बल हो जाते हैं। इससे हिन्दी में आलोचना करना भिड़के छत्ते को छेड़ लेना है। छेड़ने वाले को चाहिए कि बहुत सी भिड़ों के डंक सहने के लिए प्रस्तुत रहे।'[1] ये पंक्तियाँ बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने १९०६ ई० में लिखी थीं। हिन्दी आलोचना की तत्कालीन परिस्थिति इनसे बहुत स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में जैसा आ० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'हिन्दी साहित्य में समालोचना पहले पहल केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई। उस पर भी बुरी बात यह था कि गुण अपेक्षाकृत रूप से कम बताये जाते थे दोष ही ज्यादा गिनाये जाते थे। स्वाभाविक था इसके चलते आलोचना न केवल अप्रिय हो बल्कि व्यक्तिगत रागद्वेष की वृद्धि का भी हेतु बने। यह परिणाम दुर्भाग्यजनक है किन्तु उत्तर भारतेन्दु युग की हिन्दी आलोचना में इस अनपेक्षित तत्त्व की उपस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु युग की विरासत आलोचना के क्षेत्र में मुख्यतः पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० बदरीनारायण चौधरी के प्रयासों तक ही सीमित थी। भाषा सम्बन्धी न्यूनताएँ एवं अशुद्धियाँ अनुवाद सम्बन्धी त्रुटियाँ आदि ही आलोचकों द्वारा मुख्यतः विवेच्य मानी जाती थीं। पुस्तकों के परिचय भी प्रकाशित होते रहते थे। उर्दू में आजाद के आबेहयात और हाली के दीवानों के मुकदमे से आलोचना की नींव पड़

१ गुप्त निबन्धावली, पृ० ४२० (प्र० सं०)

अधिक विस्तृत हो गयी थी। नवशिक्षित साहित्यकार अंग्रेजी से भी प्रेरणा ग्रहण करने लगे थे। हिन्दी साहित्य के विकास के समानान्तर ही आलोचना के विकास की भी ऐतिहासिक आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। भारतेन्दु युग के ठीक बाद जिन महानुभावों ने हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का प्रयास किया उनमें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी पं० जगन्नाथप्रसाद अग्निहोत्री पं० गोविन्दनारायण मिश्र बाबू बालमुकुन्द गुप्त बाबू श्यामसुन्दर दास मिश्रबन्धु आदि प्रमुख हैं। ये विद्वान् भारतेन्दु युग के संस्कारों में पले थे और समय अपने युग के अनुरूप भारतेन्दु युग की विरासत का विकास कर रहे थे। भाषा सुधार प्राचीन-नवीन-सत्साहित्य के विस्तृत परिचय द्वारा हिन्दी लेखकों और पाठकों की अभिरुचि का संस्कार गौरवोज्ज्वल भविष्य के प्रति दृढ़ आशावाद का प्रचार नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देकर नवीन विषयोंका संभार आदि ही उनके प्रधान लक्ष्य थे। अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि इतने से ही उच्चकोटि की आलोचना का उत्तरदायित्व पूर्ण नहीं हो जाता किन्तु यह भी सत्य है कि इस दृढ़ नींव के बिना हिन्दी की परवर्ती आलोचना इतनी सक्षम और सम्पन्न नहीं हो सकती थी।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त मुख्यतः पत्रकार और निबन्धकार थे किन्तु आलोचना के क्षेत्र में भी वे अपने युग के अन्यतम महारथियों में से एक थे। उनकी पहली उपलब्ध आलोचना पं० श्रीधर पाठक के 'ऊजड़ ग्राम' की है जो 'कोहेनूर' ( उर्दू साप्ताहिक ) में १८८८ ई० में प्रकाशित हुई थी। स्मरणीय है कि उस समय भारतेन्दु के स्वर्गवास को तीन चार वर्ष हुए थे तथा पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० बदरीनारायण चौधरी की 'संयोगिता-स्वयंवर' की समालोचनाओं को निकले कुल दो वर्ष बीते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि डा० उदयभानु सिंह के अनुसार पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की कुमारसंभव भाषा की आलोचना १८९९ ई० के आरम्भ में 'काशी पत्रिका' में प्रकाशित हुई थी।[१] संभवतः यही उनकी लिखी पहली आलोचना थी। इससे यह साफ हो जाता है कि बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी आलोचना की नींव डालने वालों में एक थे।

गुप्तजी के व्यक्तित्व में सच्चे आलोचक के अनेकात्मक गुण थे। वे थे अपने साहित्य के अतीत के मर्मज्ञ उसके वर्तमान के नियन्ता और उसके भविष्य के

२ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृ० ११५ (प्र० संस्करण)

पाश्चात्यान् रचयिता । प्रो० आजाद के आबेहयात से अनुप्रेरित होकर वे हिन्दी साहित्य का उसी प्रकार का इतिहास लिखना चाहते थे । उसके लिए उन्होंने सामग्री जुटानी शुरू कर दी थी और 'हिन्दी भाषा की भूमिका' तथा 'हिन्दी भाषा' शीर्षक उनके लेख उस इतिहास के आरम्भिक अंश के रूप समझे जाने चाहिए । सौभाग्य से उन्हें पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र जैसे मुख्य मार्गदर्शक तथा पं० मदनमोहन मालवीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी पं० श्रीधर पाठक पं० दीनदयालु शर्मा पं० माधवप्रसाद मिश्र आदि जैसे धुरन्धर राजनीतिक साहित्यिक एवं सामाजिक सहयोगी प्राप्त हुए थे । इन सबके साथ निश्चय ही वे अपने समय के हिन्दी साहित्य की गति विधि का नियंत्रण कर रहे थे । अपने समय में हिन्दी प्रदेश में भारतीय पुनर्जागरण के पुरोधा ये ही लोग थे । देश की सांस्कृतिक सामाजिक राजनीतिक आर्थिक हलचलों से गुप्तजी न केवल परिचित थे बल्कि उनको स्वस्थ रूप देने की चेष्टा करने वाली शक्तियों के साथ थे । अपने देश के अतीत वर्तमान और भविष्य से प्रतिबद्ध रहने के कारण ही उनकी रचनाओं में दृढ़ता शालीनता उदारता तथा रचनात्मकता आ सकी थी । उनका साहित्य-बोध ऊँचे स्तर का था और वे प्रतिष्ठित साहित्यकारों की दुर्बलता तथा नये लेखकों की सबलता को सहज ही रेखांकित कर सकते थे । इसका एक उदाहरण लीजिए । अपने जिला के उल्लेख के अनन्तर अपना परिचय देते समय पं० प्रतापनारायण मिश्र ने एक दोहा लिखा था—'तासु तनय परताप हरि परम रसिक बुधराज । सुघर रूप मन कवित बिन जिहि न रचत कछु काज ।' पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मार्च १९०१ की सरस्वती में मिश्रजी की जीवनी लिखते हुए इस दोहे के आधार पर मिश्रजी का अपने को 'सुघर रूप' कहना अनुचित समझा । वस्तुतः मिश्रजी ने अपने को सुघर रूप नहीं कहा था । इस पर गुप्तजीने भारतमित्रीय टिप्पणी 'अपने तौर पर' लिखते हुए इसकी सही व्याख्या भी की थी ''उनका बेटा प्रताप हरि परम रसिक बुधराज है । जिसे सुघर रूप और मन् कविता के बिना कोई काम नहीं रचता । प्रताप यह नहीं कहता कि मेरा रूप सुघर है बरञ्च वह कहता है कि सुघर रूप और अच्छी कविता के बिना मुझे कुछ नहीं रुचता ।' २८ गुप्तजी की यह व्याख्या संगत है और उनके सूक्ष्म साहित्य-बोध का प्रमाण है । अपने मत को पुस्तिका में प्रमाणित एवं प्रतिपक्षी की मान्यता को खण्डित करने की क्षमता का परिचय उन्होंने अनेक बार दिया था । मिश्रजी के रूप समझने

२८ गु० नि० पृ० ४९४

न उसका निर्मम समर्थन करते थे भले ही उसके लिए उन्हें कितने ही विरोध एवं कष्ट क्यों न सहने पड़े। हिन्दी बंगवासी के सम्पादन का परित्याग उनकी सहृदयता सत्यनिष्ठा तथा दृढ़ता का अकाट्य प्रमाण है। किसी भी प्रकार के प्रलोभन से अपने कर्तव्य-पथ से उनके न विचलित होने का एक अन्य पुष्ट प्रमाण यह भी है कि कलकत्ते के मारवाड़ी समाज की खरी कल्याणकारी आलोचना करने में वे कभी नहीं चूके। वे उन थोड़े से लोगों में थे जिनकी लेखनी कभी नहीं बिकी! 'पंडित होइ सो हाट न चढ़ा'—जायसीकी यह उक्ति उन पर सर्वथा लागू होती थी। उनकी तेजस्विता का कारण यही निर्लोभ वृत्ति थी। वे अपने न्याययुक्त पक्ष में प्रबल आन्दोलन चला सकते थे और उसे इतना शक्तिशाली बना सकते थे कि प्रतिपक्षी को उनकी बात मान लेनी पड़े। व्यक्तिगत स्तर पर विनीत होते हुए भी हिन्दी के स्वाभिमान पर आघात करने वालों के लिए वे उग्र रूप धारण कर सकते थे। उनके इन गुणों की छाप उनकी आलोचना पर सहज ही देखी जा सकती है।

गुप्तजी की दृष्टि में आलोचना का अर्थ गुणदोष-विचार ही था। उनके युग में उसके विकसित रूप की धारणाएँ सामने ही नहीं थी जिनके अनुसार साहित्यिकों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन[3] करना या मनोवैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्रीय दृष्टि से रचयिता के मानस-विश्लेषण अथवा युगगत प्रभाव के विवेचन द्वारा रचना की व्याख्या करना आलोचना का धर्म है। गुप्तजी का मत आलोचना के सम्बन्ध में इस प्रकार था 'अपने बहुत से गुण-दोष मनुष्य बहुत समझदार होने पर भी स्वयं नहीं समझता समालोचक की लेखनी से जब गुण-दोष प्रगट होते हैं तब ही वह उसकी समझ में आते हैं आगे उसे अधिकार है कि चाहे वह उसको सुन कर नाराज हो या समझ कर लाभ उठावे। हाँ यह गुण-दोष-कथन सहानुभूतिपरक रचनात्मक निष्पक्ष एवं ईर्ष्या-द्वेष रहित होना चाहिए। स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने लेखों में आलोचना के इन गुणों को आवश्यक बताया है और बहुत दूर तक अपनी आलोचनाओं में उनका ध्यान रखा है। आलोचक को अहम्मन्य होकर, अपने को बहुत ऊँचा और लेखक को नीचा समझ कर आलोचना नहीं लिखनी चाहिए तथा अपनी गलती मान लेने के लिए प्रस्तुत रहना

३. डा० रा० च० शुक्ल कृत हि० सा० का इ० पृ० ५६२ ( सं० २००३ का सं० )

४ बा० स्मा० ग्र० के पृ० ११९ पर उद्धृत

चाहिए, यह उनका सुनिश्चित मत था।[५] लेखक और आलोचक के बीच सहानुभूति और सहयोगिता का भाव ही आलोचना को बहुमूल्य बना सकता है। आलोचना का उद्देश्य किसी को अपदस्थ कर उसकी रचना-शक्ति को कुण्ठित करना नहीं उसकी त्रुटियों को दूर कर उसे समर्थ लेखक बनने में सहायता पहुँचाना है। नीति और सभ्यता की रक्षा के लिए निर्भय एवं शिष्ट विरोध से आलोचना की रचनात्मकता खण्डित नहीं होती। अपनी इस विचारधारा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बाबू रामकृष्ण वर्मा के एक पत्र के उत्तर में भारतमित्र में 'आपका उत्साह' शीर्षक लेख में लिखा था 'भारतमित्र-सम्पादक आप ही का नहीं सब हिन्दी वालों का है। सदा वह सब हिन्दी-प्रेमियों का उत्साह बढ़ाने की चेष्टा किया करता है। हिन्दी वालों का बराबर तरफदार रहता है। उनके छोटे मोटे कोई दोष दिखावे तो उन पर ध्यान भी नहीं धरता। केवल इतना अवश्य करता है कि जो पोथी उसे बुरी नीति और सभ्यता के विरुद्ध जचती है या जिस पोथी से वह हिन्दुओं की हानि देखता है उसके बनाने वाले को टोक देता है जिससे वह वैसा करने से बाज रहे। यह बर्ताव उसका सदा से है। अपने मित्रों और तरफदारों की पोथियों में भी उसने कोई दोष देखा तो धीरे से बता देने की चेष्टा की। उसने यदि किसी का मुकाबला किया है तो उसका जो अपनी बड़ाई के लिये दूसरे हिन्दी वालों की बेइज्जती करने लगा।[६] अपने मित्रों की पोथियों का दोष धीरे से बताना ठीक है किन्तु उनकी अहेतुक प्रशंसा करना अन्याय है ठीक उसी तरह शत्रु की पोथी की अहेतुक निन्दा भी अन्याय है। आलोचना अन्याय पर आश्रित न होनी चाहिए। व्याकरण-विचार शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है 'पोथी मित्र की हो या शत्रु की—अपने की हो या बगाने की आलोचना उसकी न्याय से होनी चाहिए। यह तो कोई बात नहीं कि मित्र की हो तो उसकी प्रशंसा की जाय और शत्रु की हो तो निन्दा। इतनी अनुदारता लेकर साहित्य के मैदान में कभी आगे न बढ़ना चाहिये। ऐसी दुर्दशा हिन्दीमें आलोचना की है। दुर्भाग्य

५ गु० नि० पृ० ४४२

६. बा० स्मा० ग्र० के पृ० ११२ पर उद्धृत, यह पूरा लेख म० कि० गु० के पुस्त० में मुद्रित है।

७ गु० नि० पृ० ४२८

न उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार विचारकगण निर्णय देते समय वर्ण धर्म आदि का भी ध्यान रखते थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से हुए आलोचना-समर में गुप्तजी को इसका कटु अनुभव हुआ था। आवेशपूर्ण भाषा में इस मनोवृत्ति का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा था 'द्विवेदीजी हों या और कोई मतलब बातसे है न कि लेखकके कुलशीलसे और उसके नाम-धामसे। बहस भाषा और व्याकरण की है चाहे उसे आत्माराम लिखे या भारतमित्र सम्पादक। चाहे लेखक वर्ण में ब्राह्मण हो या नाई धार्मिक हो या अधार्मिक। भाषा की बहस में हम तो यही समझते हैं कि धर्म या जाति स्वर्ग या नरक की जरूरत नहीं है। बात का बात से उत्तर दो विचार से उत्तर दो बिगड़ने या नाराज होने की कोई जरूरत नहीं है। आलोचना निष्पक्ष और विचार सम्मत होनी चाहिए, यह उनका पक्का सिद्धान्त था। केवल एक ही बार वे इसका पूर्णतः पालन नहीं कर सके थे उसकी चर्चा यथास्थान की जायेगी।

आलोचना करते समय उन्हें कई बार अपने पक्ष के समर्थन के लिए व्यापक सहानुभूति प्राप्त करने की दृष्टि से आन्दोलन भी चलाने पड़े थे। इन आन्दोलनों में उनके समय के अनेकानेक हिन्दी विद्वान उनके पक्ष या विपक्ष में लिखते रहे। गुप्तजी ऐसे आन्दोलनों को सदा शुभ मानते रहे। यह जरूर है कि कभी कभी इनसे व्यक्तिगत ईर्ष्या द्वेष को भी बढ़ावा मिलता था किन्तु यह तो आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों की दुर्बलता मात्र है इससे उचित आन्दोलन छेड़ना गलत काम नहीं कहा जा सकता। यह आन्दोलक प्रवृत्ति पत्रकार होने के कारण उनमें अधिक निखरी थी। उनके राजनीतिक सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलनों की चर्चा का स्थान यह नहीं है किन्तु इतना कह देना अनुचित न होगा कि इन क्षेत्रों में भी इस दिशा में उन्हें विशेष यश प्राप्त हुआ था। हिन्दी उर्दू-द्वन्द्व में जिस शानदार तरीके से उन्होंने हिन्दी का समर्थन किया वह अविस्मरणीय है। एक लिपि विस्तार के आन्दोलन को भी उन्होंने आगे बढ़ाने की चेष्टा की थी ब्रज भाषा बनाम खड़ी बोली आन्दोलन में भी वे पड़े थे। आलोचना के क्षेत्र में उनके तीन प्रसिद्ध वाद-विवाद हुए थे जिन्होंने आन्दोलन का रूप ले ली थी। इनमें से दो में अर्थात् 'अनुमती नाटक' एवं 'योग का अर्थ' के सम्बन्ध में चलाए गए विवादों में उनकी बात न्यायोचित मान्य हुई थी तीसरे अर्थात् भाषा की अनस्थिरता सम्बन्धी विवाद में भी

---

८ गु० नि० पृ० ४२१

उन्हें पर्याप्त यश मिला था। इस सम्बन्ध में 'घोष का थप' नामक लेख में उन्होंने लिखा था 'घोष का झगड़ा बहुत बड़ा। आजकल हिन्दी भाषा जिस प्रकार पितृमातृहीन बनी हुई है, उससे उसके विषय में इस प्रकार झगड़ा उठना मंगल सूचक है। उससे अनेक संशयों की मीमांसा हो जाती है।'[1] इस आन्दोलनों से तत्कालीन हिन्दी साहित्य-सेवियों पर उनका प्रभाव भी प्रमाणित होता है।

गुप्तजी की आलोचनाओं पर विशेष विचार करने के पूर्व उनकी ज्ञात या उपलब्ध आलोचनाओं की कालक्रमिक सूची इस विश्वास के साथ प्रस्तुत की जा रही है कि इससे उनके आलोचक रूप को ठीक-ठीक समझने में सहायता मिलेगी।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त कृत उपलब्ध या ज्ञात साहित्यिक आलोचनाओं की कालक्रमिक सूची—

(१) प० श्रीधर पाठक के हरमिट के अनुवाद (एकान्तवासी योगी) की आलोचना—कोहेनूर (उर्दू) के १८८८ के पूर्वार्ध के किसी अंक में प्रकाशित अनुपलब्ध गुप्तजी के द्वारा ही 'ऊजड़ग्राम' की आलोचना में इसका संकेत—बा० स्मा० ग्र० पृ० २५

(२) प० श्रीधर पाठक के 'ऊजड़ग्राम' की आलोचना—कोहेनूर के १८८८ के उत्तरार्ध के किसी अंक में प्रका० अप० बा० स्मा० ग्र० पृ० २५ २६ पर उद्धृत।

कोहेनूर में हिन्दोस्तान की समालोचना करने का उल्लेख पं० मदनमोहन मालवीय ने २१ अप्रैल १८८९ के पत्र में किया है। (बा० स्मा० ग्रन्थ पृ० २७०) बाबू राधाकृष्ण दास के २१-१२ के गुप्तजी के नाम लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने 'सती प्रताप' तथा कुछ अन्य पुस्तकें भी गुप्तजी के पास 'भारत प्रताप' (उर्दू मा० पत्र) में समालोचनार्थ भेजी थी। यह नहीं पता चलता कि उन्होंने 'सती प्रताप' की समालोचना की या नहीं क्योंकि बाबू साहब ने पुनः २०.१२.११ के पत्र में समालोचना करने के लिए पुनः अनुरोध किया था। ये दोनों पत्र बा० स्मा० ग्र० के पृ० ५५ ५६ ५७ में प्रकाशित हैं। इससे यह सहज अनुमान किया जा

१ 'घोष का थप' बा० मु० गु० के पृष्ठ० में सुरक्षित

सकता है कि गुप्तजी उन दिनों भी प्रभावशाली समालोचना करते रहते होंगे तभी बाबू राधाकृष्ण दास जैसे प्रतिष्ठित लेखक ने अपनी पुस्तकें उनके पास समालोचनार्थ भेजी थीं।

(३) मर्हेम मधिनी के हिन्दी अनुवाद 'विजिता हिन्दूबाला' की दोषपूर्ण भाषा के लिए फटकार बताने वाला लम्बा आलोचनात्मक पत्र हिन्दी बंगवासी के सम्पादक के नाम। १८९२ ई अनुप संदर्भ बा स्मा ग पृ ६१ हिन्दी बंगवासी के सम्पादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती ने इस पत्र की एक पंक्ति अपने संस्मरण में उद्धृत की है — "साहित्य की मर्यादा बिगाड़ने वाला यह कौन मनुष्य है जो 'मर्हेम मधिनी' उपन्यास की मिट्टी खराब कर रहा है।" बा स्मा ग्र पृ २७५ इसी तेजस्वी पत्र के कारण गुप्तजी हिन्दी बंगवासी के सम्पादक बनाये गये थे।

(४) कविता पर कविता (१)— श्री सुधीरजी कृत गोल्डस्मिथ की रचनाओं के अनुवाद 'उजाड़ गाँव साधु तथा यात्री' की आलोचना—इनमें से पहली दो पुस्तकें पं० श्रीधर पाठक कृत ऊजड़ ग्राम तथा एकान्तवासी योगी की भद्दी नकल थीं—अतः गुप्तजी द्वारा दोनों की तुलनात्मक आलोचना एवं निष्कर्ष में सुधीरजी को कड़ी फटकार—यह पूर्ण लेख उपलब्ध नहीं—काफी लम्बा अंश बा स्मा ग्रं के पृ १०३-१०५ में उद्धृत—भा मि २१ अगस्त १८९९ ई०।

(५) कविता पर कविता (२)—श्री पदमलालजी 'सुधीर कवि' का उपर्युक्त आलोचना से सम्बन्धित पत्र प्रकाशित कर उस पर पुनः टिप्पणी—पदमलालजी द्वारा गलती स्वीकार करते हुए स्पष्टीकरण की चेष्टा—गुप्तजी द्वारा पुनः उनकी आलो० यह लेख अप्राप्त बा स्मा ग्रं पृ १०५ १०६ में उद्धृत—पूर्णतः श्री नवलकिशोर गुप्तजी के व्यक्तिगत पुस्त में भा मि १८९९ का उत्तरार्ध या १९०० का प्रारम्भ (गुप्तजी की कतरनों के रजिस्टर में पं० झाबरमल्ल शर्मा की टिप्पणी—१९० की कतरनें) गुप्तजी के द्वारा अपना समर्थन किये जाने से उत्साहित होकर पण्डित श्रीधर पाठक ने ट्रैवेलर का अनुवाद श्रान्तपथिक के नाम से किया।

(६) बूढ़े मुंह का पत्र। कामशास्त्र के लेखक लाला शालिग्राम वैश्य का कड़ी समालोचना भा मि ५ फरवरी १९०० अनुप बा स्मा ग्रं पृ १११ में संकेतित।

(७) मुनरी सरस्वती—सरस्वती की भाषा सं कुछ भूलों की आलोचना—
मा मि १९०० ई उप न पृ के पुस्त में मु
(८) मय का अर्थ—मेघ का अर्थ समाप्त या अन्त भी होता है, इसको प्रमा
णित करने के लिए लिखित—भा मि १० जुलाई १९०० प्रांशिक रूप
से उप आ स्मा ग्रं पृ ११४ ११५
(९) मेघ का दोष—दोष सं० विचार का समाहार—प्रतिपक्षी की प्रशंसा भी
भा. मि १९०० ई उप, न कि पृ के पुस्त में मु
(१०) हिन्दी में उपन्यास—भा मि २० ४ १९०१ न कि पृ के पुस्त में मु
(११) नायिका भेद—कवितामें शृ गार रस युक्त अनुभाव आदि पर विचार—
भा मि २० जुलाई १९०१ उप न कि पृ के पृ में मु
(१२) चाहते हैं सो होता नहीं—तुक यमक आदि की उपयोगिताका समर्थन—
भा मि ७ सितम्बर १९०१ उप न कि. पृ के पुस्त में मु
(१३) मधुमती नाटक—श्री ज्योतिरिन्द्रनाथ टैगोर के बंगला नाटक की कड़ी
समालोचना—भा मि १९०१ (गु नि में मुद्रित)
(१४) मधुमती कर्त्ता का प्रतिवाद तथा आनन्द समाचार—गुप्तजी की आलो
चना पढ़ कर श्री टैगोर ने दो पत्र लिखे—एक में कलात्मक दृष्टि से
अपना समर्थन किया दूसरे में ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी भूल स्वीकार
कर समालोचना की है पत्र और उस पर गुप्तजी की टिप्पणी भा. मि
५ अक्टूबर (१९०१) न कि पृ के पुस्त में मु
(१५) मासिक साहित्य स्तम्भ के अन्तर्गत सरस्वती के अक्टूबर १९०१ के
अंक की आलो —भा मि १९०१ न. कि. पृ के पुस्त में मु
(१६) मा सा स्तम्भ के अन्त 'गुलमी सुधाकर' की आलोचना भा. मि
१९०२ ई गु नि में मुद्रित
(१७) मा सा स्तम्भ के अन्त 'समालोचक पर सरस्वती'—समालोचक की
अनुचित आलोचना के लिए सरस्वती की आलोचना—भा मि १९०२
न कि पृ के पुस्त में मु
(१८) सरस्वती की नाराजी—सरस्वती की आलो. ( न कि पृ के पुस्त में
मु ) भा मि १९०२ ई
(१९) 'हिन्दी प्रदीप' की प्रशंसा पर एक छोटा सा नोट ( न कि पृ के पुस्त
में मु ) भा मि १९०३ ई
(२०) मा सा के स्तम्भ में 'सरस्वती की पुन आलोचना—इसी अंक से
पंडित म प्र द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक हुए थ। ३१ जनवरी १९०३

नव रचनाओं की प्रशंसा करते हुए भी सरस्वती का विनय' नामक कविता की त्रुटियों की चर्चा। ( म कि मु के पुस्त में मु )

(२१) उक्त कविता के समर्थन में लिखे पं गयाप्रसाद अग्निहोत्री के लेख का उत्तर (म कि मु के प्रस्त में मु) (१९०१)

(२२) सरस्वती के 'साहित्य समालोचना चित्र की आलोचना भा मि २५ ( मनुप मु नि के पृ ५२८ में संकेतित ) अप्रैल १९०२

(२३) श्री सत्यनारायण कविरत्न की कविता पर प्रशंसात्मक टिप्पणी—२५-५ १९ ३ (वा स्मा ग्रं में पृ २०१ पर उद्धृत )

(२४) प्रवासी की आलोचना—१९०३ ई

(२५) बँगला साहित्य—१९०३ ई
(मु नि में मुद्रित प्रवासी द्वारा हिन्दी साहित्यिकों पर चोरी का अभियोग लगाने पर इन दोनों लेखों में बंगला के साहित्यिकों द्वारा अन्य भाषाओंके ग्रन्थों के भावों के अपहरण के प्रमाण—

(२६) तारा उपन्यास—पं किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास की आलोचना १९०३ ई (मु नि में मुद्रित )

(२७) साहित्य सेवा—सुदर्शन में प्रका किसी साहित्यसेवी के लेख का कड़ा उत्तर—१९०३ या १९ ४ ई (म कि मु के पुस्त में मु )

(२८) नन्दग्राम की रामरत्नाध्यायी और मॅबरसीत की भूमिका—सन् १९ ४ ई (बा स्मा ग्र के पृ १५८ १६१ में उद्धृत )

(२९) हिन्दी साहित्य—हिन्दी साहित्य की हँसी उड़ाने वाले किन्हीं मि शुक्ला के एडवोकेट में प्रकाशित लेख की कड़ी भर्त्सना—(म कि मु के पु में मु ) १९०५ ई

(३०) सामयिक साहित्य स्तम्भ के अन्तर्गत मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ द्वारा सम्पादित महिला मृदुवाणी का प्रशंसात्मक परिचय—(म कि मु के पुस्त में मु ) १९०५

(३१) तजकिरा आसारुम् शोराये हनूद—मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ के द्वारा सङ्कलित—उर्दू के हिन्दू कवियों के कविता-संकलन का प्रशंसात्मक परिचय म कि मु के पुस्त में मु १९ ५ ई

(३२) तर्जीमुल इस्लाम—मियाँ अब्दुल ग़फूर ( उर्फ धर्मपाल द्वारा इस 'इस्लाम' की कड़ी आलोचना का परिचय धर्मपालजी की प्रवृत्ति से असहमति ( म कि मु के पुस्त में मु १९०५ ई

(३३) अधखिला फूल—पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय के उपन्यास की आलोचना
(मु० नि० में मुद्रित) १९०५

(३४) मुन्शी पीताम्बरप्रसाद की कविता पर प्रशंसात्मक टिप्पणी—१९०६
( ना स्मा० ग्रं० में पृ० १९९ पर उद्धृत )

(३५-४४) भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेखमाला—दिसम्बर (?) १९०५
से ३ फरवरी १९०६ तक। (मु० नि० में मुद्रित )

(४५-४६) आत्मारामीय टिप्पण—(मु० नि० में मुद्रित) १९०६

(४७) व्याकरण विचार— ( ) १९०६

(४८-५४) हिन्दीमें आलोचना शीर्षक लेखमाला (१) हिन्दीमें आलोचना १९०६
( मु० नि० में मुद्रित )
(२) ईर्ष्या द्वेष १९०६
(३) लेक नजर और लेक्चीयती १९०६
(४) लेक नजर और लेक्चीयती १९०६
(५) लेक नजर और लेक्चीयती १९०६
(६) आत्मारामकी आलोचना १९०६
(७) कुछ नमूने १९०६

(५५) भाषारामी की समझान
(५६) वाक्य का विचार
(५७) आत्मारामीय टिप्पण
(५८) आत्मारामी मोह
(५९) आपका उत्पाद

ये चारों रचनाएँ भी 'भाषा की अनस्थिरता' सम्बन्धी आन्दोलन से सम्बद्ध एवं भारतमित्र में प्रकाशित १९०६ गुप्त निबंधावली में संगृहीत नहीं—किन्तु म कि पु के पुस्त में मु०

(६०) बाग्दी सुरुचि— बाबूरामकृष्ण वर्मा के एक पत्र का उत्तर—
(म० कि० मु० के पुस्त० में मु०) १९०६

म म द्वि की कविता निर्वाचन की आलोचना
( म० कि मु० के पुस्त० में मु० ) १२ १ १९०७

(११) हिन्दुस्तानी जबानों की शायरी—

नागरी अक्षरों के अपनाने से भारतीय कवियों की रचनाओं का रसास्वादन आसानी से संभव। (न० 'नि० पृ० के पुस्त० में ) १९०७

(१२) गुलशने हिन्द—

उर्दू कवियों की जीवनियों का संग्रह—उसकी भूमिका की ही चर्चा (गु० नि० में मुद्रित) १९०७

खेद है कि 'अखबारे चुनार' 'कोहेनूर' 'हिन्दोस्थान' 'भारत प्रताप' 'हिन्दी बंगवासी' 'जमाना' आदि की फाइलें कलकत्ते में उपलब्ध न होने के कारण उन पत्रों में प्रकाशित गुप्तजी की आलोचनात्मक रचनाओं की चर्चा नहीं की जा सकी। भारतमित्र की भी फाइल नहीं मिल सकी। श्री नवलकिशोरजी गुप्त के यहाँ सुरक्षित उसकी कुछ कतरनों का ही उपयोग किया जा सका। हमारा विश्वास है कि गुप्तजी ने और भी अनेक आलोचनाएँ लिखी होंगी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का अनुमान था कि गुप्तजी ने ही रामभजराम के नाम से तिलोना की उनकी आलोचना के विरुद्ध लेख लिखा था (गु० नि० पृ० १२१) गुप्तजी ने इसे स्वीकार नहीं किया किन्तु शैली से लगता है कि यह लेख गुप्तजी का हो सकता है। इसका महत्त्वपूर्ण अंश गुप्त निबन्धावली के पृ० ५१९-२० में उद्धृत है। बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ के १५८वें पृष्ठ पर संकेत मिलता है कि गुप्तजी ने पं० अम्बिकादत्त व्यास के बिहारी बिहार की आलोचना की थी। इस संकेत में काल का निर्देशन नहीं है अतः उसे भी उक्त सूचीमें सम्मिलित नहीं किया जा सका। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के एक पत्र से अनुमान किया जा सकता है कि १८९१ या उससे पूर्व यह आलोचना लिखा चुकी थी।१क इस सूचीमें हिन्दी भाषाके प्रचार-प्रसार या विकासमूलक वे लेख नहीं लिये गये हैं जिनका सीधा सम्बन्ध आलोचना से नहीं है। इसी तरह यद्यपि डा० नत्थन सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध में 'आलोचक बालमुकुन्द गुप्त' की चर्चा करते हुए उनके लिखे साहित्यिकों के जीवनचरितों को भी आलोचना में ही शामिल कर लिया है तथापि इस विचार को युक्तियुक्त न समझने के कारण हमने ऐसा नहीं किया है और इस सूची में उन जीवनचरितों को भी स्थान नहीं मिला है। हमारी समझ में इन जीवनचरितों में साहित्यिक

---

१ क बा० स्मा० ग्र० पृ० १२४-२५

उर्दू पत्र कोहेनूर में उन्होंने हिन्दी कविता पुस्तक 'ऊजड़ ग्राम' की आलोचना की थी उसी प्रकार हिन्दी के भारतमित्र में तवक्विरह आसारुस् सोरायें हुनूर तथा गुमनाने हिन्द जैसी उर्दू पुस्तकों की भी प्रभसात्मक आलोचना प्रकाशित की थी। बंगला के मधुमती नाटक एवं प्रवासी पत्र की आलोचना भी उन्होंने लिखी थी। वस्तुत: हिन्दी उर्दू बंगला संस्कृत और अंगरेजी साहित्य के अनुशीलन ने उनकी दृष्टि को विशाल भी बनाया था और उदार भी। इन परिचयात्मक आलोचनाओं में भी गुप्तजी की सहृदयता और स्पष्टवादिता की पर्याप्त झलक मिलती है। ऊजड़ ग्राम की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा था "तर्जुमे की हिन्दी आसारुर्वे की मौठी है। खूबी यह है कि लफ्ज-लफ्ज तर्जुमा है और फिर इतना साफ है कि अगर असल किताब की खूबसूरती देखी जाय तो इससे ज्यादा नहीं है और अगर मीरजी अपने ही खयालात को अदा करते तो भी इससे उम्दा न कर सकते थे।"[10] ऊजड़ ग्रामकी प्रशंसा केवल भाषा की मिठास और अभिव्यंजना की कुशलता के ही लिए नहीं विषय की नवीनता और उपयुक्तता के लिए भी करते हुए उन्होंने उर्दू कवियों को सलाह दी थी कि वे भी इसी प्रकार 'नेचरल नजारों की तरफ फर्जी खयालात को तर्क करके मुतवज्जह होंगे।

तुलसी सुधाकर की जो बात उन्हें सब से ज्यादा खटकी थी वह थी उसकी क्लिष्टता। गुप्तजी सरल स्वभाव सरल जीवन और सरल अभिव्यंजना के पक्षपाती थे। अत: 'महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी जी जैसे प्रवीण विद्वान' की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा "हमारा यह भी अनुमान था कि कुण्डलियाँ लिखकर सुधाकर जी महाराज तुलसी सतसई को सरल कर देंगे। पर बात उलटी निकली तुलसी ने जहाँ कोई बड़ा कठ दोहा लिखा है सुधाकरजी महाराज ने वहाँ महाकूट कुण्डलियाँ बनाई हैं। कहीं-कहीं तुलसी का दोहा सरल है वहाँ भी सुधाकरजी टेढ़े चले हैं।"[11] साथ ही वे सुधाकर जी की विद्वत्ता की प्रशंसा भी करते हैं क्योंकि उनके मतानुसार "तुलसी सतसई बड़ी विकट है। यह सुधाकर जी का ही काम है कि उन्होंने उसका अर्थ समझा है। प्रशंसा के स्थान पर प्रशंसा और असहमति के स्थान पर असहमति व्यक्त करने का कार्य उन्होंने अनेकों के संबंध में अनेकों बार किया है। नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ दिशा निर्देश का ढंग गुप्तजी का अपना था। श्री सत्यनारायण कविरत्न की कविता प्रकाशित करते समय उन्होंने उस पर जो टिप्पणी लिखी थी उसमें उनकी इस प्रवृत्ति का अच्छा

१० बा. स्मा. ग्रं—पृ २४। ११ गु नि—पृ४४३-४४।

परिचय मिलता है। टिप्पणी यों है "यह एक बालक की कविता श्रीयुक्त पं. श्रीधर पाठक की मारफत हमारे पास पहुँची है बालक होनहार है। यदि अभ्यास करेगा तो भविष्य में अच्छी कविता कर सकेगा। अपनी तरफ से हम इतना ही कहते हैं कि भाषा जरा यह और साफ करे। कुछ समय भी कविता में अभ्यास बढ़ावे क्योंकि जिस ढंग की यह कविता है वैसी हिन्दी में बहुत अधिक और उत्तम से उत्तम हो चुकी है।"

गुप्तजी का मुख्य काम हिन्दी के आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में ही था किन्तु मध्यकालीन साहित्य विशेषतः भक्ति साहित्य के वे बड़े प्रशंसक थे। मानस और सूरसागर का तो नित्य पाठ ही करते थे। भक्ति साहित्य के प्रति उनका अनुराग नन्ददास की रासपंचाध्यायी और भँवरगीत की भूमिका से ज्ञात होता है। भारतमित्र के पाठकों को रासपंचाध्यायी और भँवरगीत उपहार में देते हुए भूमिका में नन्ददासजी का संक्षिप्त परिचय देकर उन्होंने प्राचीन काव्य ग्रन्थों के शुद्ध पाठ के उद्धार की समस्या की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था साथ ही नन्ददासजी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की थी।

*विषयवस्तु सम्बन्धी आलोचना*

गुप्तजी मर्यादा के उपासक थे अतः यदि कभी उन्हें लगता था कि कोई लेखक अपनी ख्याति के लिए गैर जिम्मेदार ढंग से नैतिक औचित्य का उल्लंघन कर रहा है तो वे उस पर पूरी शक्ति से प्रहार करते थे। हिन्दुत्व पर लांछन लगाने का प्रयास हो या अश्लीलता के प्रचार की कुचेष्टा साहित्यिक चोरी हो या हिन्दी के गौरव पर आघात व्यक्तिगत राग द्वेष का प्रकाशन हो या किसी मान्य धर्म का अपमान गुप्तजी सिए ये सब और ऐसी बातें असह्य थीं। उन्होंने ऐसे ग्रंथों या लेखों का उग्र विरोध किया था। साथ ही साहित्य को स्वस्थ नवीन दिशा की ओर उन्मुख करनेवालों का समर्थन भी किया था। इस वर्ग की आलोचनाओं में उनकी सर्वाधिक शक्तिशाली आलोचना थी मधुमती की। कवीन्द्र रवीन्द्र के बड़े भाई श्री ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने नाटक मधुमती में महाराणा प्रताप की कल्पित कन्या मधुमती का यवन के प्रति प्रेमभाव अंकित किया था। मधुमती का कल्पित चरित्र हिन्दुत्व निष्ठ गुप्तजी को नितान्त दर्पपूर्ण लगा और वस्तुतः महाराणा प्रताप की स्वाभिमानी हिन्दूनिष्ठा को उनकी कल्पित कन्या मधुमती के उन्मत्त प्रेम द्वारा कलंकित करने का ठाकुर महाशय का प्रयास अत्यन्त आपत्तिजनक था।

---

१२ बा. स्मा. ग्र.—पृ २०१।

गुप्तजी ने इसके हिन्दी अनुवाद की आलोचना हिन्दी बंगवासी में की थी जिसे पढ़कर अनुवादक मुंशी उदितनारायणजी ने अनुवाद की समस्त प्रतियाँ गंगाजी में फेंक दी थी। १९०१ में गुप्तजी ने भारतमित्र में मूल अमला नाटक की उग्र आलोचना की। भावुकतापूर्ण आवेश और तार्किकता का जैसा मणिकांचन संयोग इस आलोचना में हुआ वैसा उनकी अन्य किसी आलोचना में नहीं हुआ। इस आलोचना में प्रकट भावात्मक आवेग का एक उदाहरण देखिये "हम बंग देश के पढ़े लिखे लोगों से पूछते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर बंगदेश की लड़कियां को क्या शिक्षा मिलेगी और आप सब बंगाली लोग न्याय से कहें कि आपही को उससे क्या उपदेश मिला ! इस पुस्तक के पढ़ने से आपकी गर्दन नीची होती है या ऊँची ? बंग साहित्य के मुँहपर इससे स्याही फिरती है या नहीं ? आपके बंग साहित्य में यदि ऐसी पुस्तकें बढ़ें तो उस साहित्य का मुँह काला होगा कि नहीं ? जिस पुस्तक का नाम कुछ और मोटो कुछ और है तथा मोटो कुछ और उद्देश्य कुछ और है वह साहित्य में घोर कलंक की वस्तु है या नहीं ?"[11]
इसी आलोचना में उन्होंने एक और गंभीर प्रश्न उठाया था कि ऐतिहासिक महापुरुषों के चरित्र और स्वरूप को कलंकित करने वाली कल्पना का साहित्य में क्या स्थान हो सकता है ? ऐतिहासिक नाटकों या उपन्यासों की रचना के पूर्व लेखक को अपने विषय से सम्बद्ध इतिहास और भूगोल का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए या नहीं ? अमुमती के कथानक से प्रचुर उदाहरण देकर गुप्तजी ने सिद्ध कर दिया कि इस नाटक की कथा तथा उसका देशकाल चित्रण सर्वथा इतिहास विरुद्ध अतः निन्दनीय है। अपना निर्णय देते हुए गुप्तजी ने लिखा "दुःख है कि अमुमतीकार मेवाड़ और राजपूतों के विषय में कुछ भी नहीं जानता किन्तु नाटक लिखने बैठ गया। वह जानता नहीं कि अमुमती प्रताप की लड़की तो क्या किसी राजपूत—यहाँ तक कि किसी हिन्दुस्तानी की लड़की का भी नाम नहीं होता। मेवाड़ के वन-पर्वत-जंगल-झीलों के विषय में ग्रन्थकार कुछ भी नहीं जानता। इसीसे उसने बड़ी ऊटपटांग बातें लिखी हैं। अपनी आलोचना के अन्त में गुप्तजी ने लेखक से प्रार्थना की कि अब अपनी इस पोथी का छापना बन्द कीजिए और जो पोथी छपी हुई बाकी है उन्हें फूंक जलाकर उसकी राख बंगाली में फेंक दीजिये।"
गुप्तजी की इस तेजस्वी आलोचना का अनुकूल परिणाम हुआ। श्री ज्योतिरिन्द्र नाथ ठाकुर ने एक पत्र इस आलोचना के सम्बन्ध में लिखा। पहले पत्र में

11. गु नि—पृ १४६

उन्होंने कला की दृष्टि से अपने कथानक का समर्थन किया था किन्तु दूसरे पत्र में गुप्तजी की आलोचना की न्यायमुक्तता को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा कि 'आपके द्वारा संकलित विचार पहले मेरे ध्यान में नहीं आया था किन्तु अब जब आपने जनता के समक्ष मुक्त कल्पित रचना के रूप में उपस्थित किये जाने वाले नाटकों में कुछ राजपूत वीरों के नामों के आने की अवांछनीयता की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है मैं निश्चय ही आपके द्वारा प्रस्तावित पहले या दूसरे विकल्प को कार्यान्वित करने के लिए कदम उठाऊँगा।[१५] गुप्तजी ने अपने लेख में सुझाव दिया था कि या तो इस नाटक से महाराणा प्रताप सिंह आदि के नाम हटा दिये जायें या इसका प्रचार बन्द कर दिया जाय। ज्योतिरिन्द्र बाबू के पत्र के अन्त में इन्हीं दो विकल्पों की ओर संकेत है। गुप्तजी ने ५ अक्टूबर १९०१ के भारतमित्र में अश्रुमती कर्ता का प्रतिवाद तथा आनन्द समाचार' नाम से उक्त दोनों पत्र छाप दिये और ठाकुर महाशय को अपनी भूल स्वीकार करने के लिए धन्यवाद भी दिया। इस सम्बन्ध में एक गुत्थी उलझी रह गयी है। पं० झाबरमल्ल शर्मा ने बा स्मा ग्रं के पृ १११ पर यह लिखा है कि 'गुप्तजी की आलोचना के प्रभाव से भारत जीवन के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा जी की प्रकाशित और बंगभाषा से अनूदित 'चित्तौड़चातकी' एवं अश्रुमती नाम की दो पुस्तकों के विरुद्ध हिन्दी जगत् में ऐसा आन्दोलन हुआ कि दोनों पुस्तकें गंगाजी में प्रवाहित करनी पड़ी थी।" आ रा चं शुक्ल ने भी अपने हि सा के इ के पृ ४९० पर बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनूदित चित्तौरचातकी के सम्बन्ध में लिखा है कि 'यह पुस्तक चित्तौर के राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध समझी गई और इसके विरोध में यहाँ तक आन्दोलन हुआ कि सब कापियाँ गंगा में फेंक दी गईं। विचित्र यह है कि गुप्तजी की 'चित्तौरचातकी' पर कोई आलोचना नहीं मिलती। डॉ० नत्थन सिंह ने अपने शोधग्रंथ पत्रकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त जीवन और साहित्य के पृ ११२ पर भारतमित्र में प्रकाशित आलोचनाओं की चर्चा करते हुए लिखा है "इसके अतिरिक्त भारतजीवन के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा बंगला से अनूदित चित्तौड़ की चातकी या अश्रुमती नाटक की आलोचना" भी भारतमित्र के २८ सितम्बर सन् १९०१ के अंक में हुई थी।

१४. गु नि पृ ५५०

१५ बा स्मा ग्रं पृ ११२ पर उद्धृत अंग्रेजी पत्र के एक अंश का अनुवाद

गुप्तजी ने इसके हिन्दी अनुवाद की आलोचना हिन्दी बंगवासी में की थी जिसे पढ़कर अनुवादक मुंशी उदितनारायणजी ने अनुवाद की समस्त प्रतियाँ गंगाजी में फेंक दी थी। १९ १ में गुप्तजी ने भारतमित्र में मूल बंगला नाटक की उग्र आलोचना की। भावुकतापूर्ण आवेश और तार्किकता का जैसा मणिकांचन संयोग इस आलोचना में हुआ वैसा उनकी अन्य किसी आलोचना में नहीं हुआ। इस आलोचना में प्रकट भावात्मक आवेग का एक उदाहरण देखिये "हम बंग देश के पढ़े लिखे लोगों से पूछते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर बंगदेश की लड़कियां को क्या शिक्षा मिलगी और आप सब बंगाली लोग न्याय से कहें कि आपही को उससे क्या उपदेश मिला ! इस पुस्तक के पढ़ने से आपकी गर्दन नीची होती है या ऊँची ? बंग साहित्य के मुँहपर इससे स्याही फिरती है या नहीं ? आपके बंग साहित्य में यदि ऐसी पुस्तकें बढ़ें तो उस साहित्य का मुँह काला होगा कि नहीं ? जिस पुस्तक का नाम कुछ और मोटो कुछ और है तथा मोटो कुछ और उद्देश्य कुछ और है, वह साहित्य में घोर कलंक की वस्तु है या नहीं ? [११]
इसी आलोचना में उन्होंने एक और गंभीर प्रश्न उठाया था कि ऐतिहासिक महापुरुषों के चरित्र और स्वरूप को कलंकित करने वाली रचना का साहित्य में क्या स्थान हो सकता है ? ऐतिहासिक नाटकों या उपन्यासों की रचना के पूर्व लेखक को अपने विषय से सम्बद्ध इतिहास और भूगोल का सम्यक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए या नहीं ? अमृमती के कथानक से प्रचुर उदाहरण देकर गुप्तजी ने सिद्धकर दिया कि इस नाटक की कथा तथा उसका देशकाल चित्रण सर्वथा इतिहास विरुद्ध अत निन्दनीय है। अपना निर्णय देते हुए गुप्तजी ने लिखा "पुत्र है कि अमृमतीकार मेवाड़ और राजपूतों के विषय में कुछ भी नहीं जानता किन्तु नाटक लिखने बैठ गया। वह जानता नहीं कि अमृमती प्रताप की लड़की तो क्या किसी राजपूत—यहाँ तक कि किसी हिन्दुस्तानी की लड़की का भी नाम नहीं होता। मेवाड़ के वन-पर्वत-जंगल भीलों के विषय में उस ग्रन्थकार कुछ भी नहीं जानता। इसीसे उसने बड़ी ऊटपटांग बातें लिखी है। अपनी आलोचना के अन्त में गुप्तजी ने लेखक से प्रार्थना की कि अब अपनी इस पोथी का छापना बन्द कीजिये और जो पोथी छपी हुई बाकी है उन्हें फूक जलाकर उसकी राख गंगाजी में फेंक दीजिये।
गुप्तजी की इस तेजस्वी आलोचना का अनुकूल परिणाम हुआ। श्री ज्योतिरिन्द्र नाथ ठाकुर न दो पत्र इस आलोचना के सम्बन्ध में लिखे। पहले पत्र में

११ गु. नि.—पृ. ४८१

उन्होंने कला की दृष्टि से अपने कथानक का समर्थन किया था किन्तु दूसरे पत्र में गुप्तजी की आलोचना की न्यायमुक्तता को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा कि आपके द्वारा संकेतित विचार पहले मेरे ध्यान में नहीं आया था किन्तु अब जब आपने जनता के समक्ष मुख्यत कल्पित रचना के रूप में उपस्थित किये जाने वाले नाटकों में कुछ राजपूत वीरों के नामों के आने की अवांछनीयता की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है मैं निश्चय ही आपके द्वारा प्रस्तावित पहले या दूसरे विकल्प को कार्यान्वित करने के लिए कदम उठाऊँगा।[१५] गुप्तजी ने अपने लेख में सुझाव दिया था कि या तो इस नाटक से महाराणा प्रताप सिंह आदि के नाम हटा दिए जाए या इसका प्रचार बन्द कर दिया जाये। ज्योतिरिन्द्र बाबू के पत्र के अन्त में इन्हीं दो विकल्पों की ओर संकेत है। गुप्तजी ने ५ अक्टूबर १९०१ के भारतमित्र में 'अश्रुमती नाटक के कर्ता का प्रतिवाद तथा आनन्द समाचार' नाम से उक्त दोनों पत्र छाप दिये और ठाकुर महाशय को अपनी भूल स्वीकार करने के लिए धन्यवाद भी दिया। इस सम्बन्ध में एक गुत्थी उलझी रह गयी है। पं० झाबरमल्ल शर्मा ने बा स्मा ग्रं के पृ १११ पर पर लिखा है कि "गुप्तजी की आलोचना के प्रभाव से भारत जीवन के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा जी की प्रकाशित और बंगभाषा से अनूदित 'चित्तौड़चातकी' एवं 'अश्रुमती' नाम की दो पुस्तकों के विरुद्ध हिन्दी जगत् में ऐसा आन्दोलन हुआ कि दोनों पुस्तकें गंगाजी में प्रवाहित करनी पड़ी थी। आ रा चं शुक्ल ने भी अपने हि सा के इ के पृ ४९७ पर बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनूदित 'चित्तौरचातकी' के सम्बन्ध में लिखा है कि 'यह पुस्तक चित्तौर के राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध समझी गई और इसके विरोध में यहाँ तक आन्दोलन हुआ कि सब कापियाँ गंगा में फेंक दी गई। विचित्र यह है कि गुप्तजी की 'चित्तौरचातकी' पर कोई आलोचना नहीं मिलती। डॉ० नत्थन सिंह ने अपने शोधप्रबंध पत्रकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त जीवन और साहित्य के पृ ११२ पर भारतमित्र में प्रकाशित आलोचनाओं की चर्चा करते हुए लिखा है 'इसके अतिरिक्त भारतजीवन के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा बंगला से अनूदित चित्तौड़ की चातकी या अश्रुमती नाटक की आलोचना' भी भारतमित्र के २८ सितम्बर सन् १९०१ के अंक में हुई थी।

१४. गु नि पृ. ४५०

१५ बा स्मा. ग्रं पृ ११२ पर उद्धृत अंग्रेजी पत्र के एक अंश का अनुवाद

२८ सितम्बर १९०१ के भारतमित्र की कतरन हमें देखने को नहीं मिली किन्तु ५ अक्टूबर १९०१ के अंक में अमृमतीकर्त्ता का प्रतिवाद तथा आनन्द समाचार शीर्षक लेख छपा है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि २१ सितम्बर का लेख अमृमती सम्बन्धी ही होगा। सवाल है क्या 'चित्तौड़चातकी' और अमृमती एक ही पुस्तक के दो नाम हैं या वे दो पुस्तकें थीं ? गुप्तजी ने अमृमती के अनुवादक का नाम मुंशी उदितनारायण लाल लिखा है अतः अमृमती के क्या हिन्दी में दो अनुवाद हुए थे ? आवश्यक सामग्री के अभाव में ये प्रश्न अमीमांसित रह गये हैं।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी के तारा उपन्यास का विरोध भी गुप्तजी ने उसकी मर्यादाहीनता के कारण ही किया था। अपनी मानजी का विवाह एक मुसल्मान से करने की अर्जुन की कामना की तथा दारा जहाँनारा के भाई बहन होकर भी अत्यन्त निकृष्ट कोटि के कामुकतापूर्ण वार्तालाप करने की तीव्र भर्त्सना के बाद गुप्तजी ने चेतावनी दी थी 'हम नागरी प्रचारिणी सभा को सावधान करते हैं कि यदि सचमुच वह हिन्दी की उन्नति चाहती है तो सबसे पहले तारा पढ़े और गोस्वामीजी महाराज को उनकी पुस्तक के गुणदोष समझावे कि वह कैसा गन्दा और भयानक काम कर रहे हैं।' ११

सुदर्शन में किसी 'साहित्यसेवी' ने एक लेख लिख कर हिन्दुओं की धर्म पुस्तकों से यौन उच्छृङ्खलता के उदाहरण दिये थे और प्रकारान्तर से आधुनिक उपन्यासों की यौन उच्छृङ्खलता का समर्थन किया था। उसका करारा जवाब गुप्तजी ने साहित्य सेवा नामक लेख लिख कर दिया था। उपन्यासों में यौन उच्छृङ्खलता के चित्रण का विरोध करते हुए उन्होंने उक्त साहित्यसेवीजी को यों पट मारा था साहित्यसेवी चाहे कोई हो पर अवश्य वह अपने को उपन्यास लेखक समझता है और अवश्य ही उसने गोस्वामी किशोरीलाल का सा कोई गन्दा उपन्यास लिखा है। उस गन्दे उपन्यास की हिमायत के लिये ही उसने रामकृष्ण वर्मा के नाम का सहारा ढूंढकर यह धर्मशास्त्रों की निन्दा की है।'
इसी लेख में उन्होंने अश्लीलता का बड़ा समीचीन विवेचन किया था। गुप्तजी के अनुसार "अश्लील वह बात होती है जो स्त्री-पुरुषों में अयोग्य विकार को उत्पन्न करे जिसको दुर्वासना से काम धन्धों में बही जाय, केवल

११ गु. नि. पृ ४५७

डॉक्टरी धर्मशास्त्र आदि की विद्या सम्बन्धी बातें इसलिए अश्लील नहीं कि उनमें उक्त सदाशय का समन्वय नहीं हो सकता।[१८] अश्लीलता लेखक की दुर्भावनापूर्ण दृष्टि से उत्पन्न होती है और अयोग्य विकार उत्पन्न करती है अश्लीलता का यह लक्षण आज भी माननीय है। तुलसीभक्त गुप्तजी का यह मर्यादापूर्ण आदर्शवाद केवल श्लील-अश्लील की सीमा तक ही नहीं अटका रह गया, साहित्य के विविध क्षेत्रों में प्रतिफलित हुआ।

इसी मर्यादावादके चलते उन्होंने साहित्यिक चोरी करनेवालों को ललकारा था, चाहे वे सुशील कवि हों, चाहे बाबू गंगाप्रसाद गुप्त। हिन्दी के कई लेखक बंगला या अंग्रेजी ग्रंथों की नकल करते थे यह एक दुःखद सत्य था और ऐसा करने के कारण गुप्तजी स्वयं उन लेखकों की भर्त्सना करते रहते थे। किन्तु जब इसी बात को लेकर 'प्रवासी' ने हिन्दी लेखकों का उपहास किया तो हिन्दी के अभिमानी गुप्तजी को यह असह्य हो गया। उन्होंने 'प्रवासी की आलोचना' तथा 'बंगला साहित्य' लेख लिख कर सिद्ध कर दिया कि बंगला के बंकिम बाबू, क्षीरोदकुमार राय, उपेन्द्रनाथ मुकर्जी, त्रैलोक्यनाथ मुकर्जी जैसे प्रतिष्ठित लेखक भी अंग्रेजी और फ्रांसीसी पुस्तकों की नकल बिना उनके नाम दिए किया करते हैं। साथ ही यह भी लिखा "पर इन सब बातों के लिखने से हमारा यह मतलब नहीं कि हिन्दी वाले बंगला किताबों का तरजुमा किया करें और असली ग्रन्थकर्ताओं का नामोल्लेख न किया करें और न उनसे तरजुमा करने की अनुमति लिया करें। वरंच हम यही दिखाना चाहते हैं कि जो दोष हिन्दी अनुवादकर्ताओं में आ गये हैं वह बंगला लेखकों में भी है। आशा है कि प्रवासी उस ओर भी ध्यान देगा।[१९] इसी प्रकार जब किसी मि० गुप्ता ने 'ऐडवोकेट' नामक अंग्रेजी पत्र में हिन्दी पत्रकारों और साहित्यकारों की हँसी उड़ाते हुए उन पर चोरी एवं अयोग्यता का आरोप लगाया था तब भी गुप्तजी का हृदय तिलमिला उठा था। स्वाभिमान के साथ-साथ आत्मविश्वास का परिचय देते हुए उन्होंने 'हिन्दी साहित्य' नामक लेख में लिखा "यदि उनका एक भी दावा सच है तो दूसरे कागज को क्यों भारतमित्र ही को लें और उसमें ऐसे लेख दिखावें जिनमें सम्पादक ने अपनी योग्यता को भूल कर धृष्टता से काम लिया

१८. वही
१९. गु. नि. पृ. ४११

११

हो। अथवा उसमें ऐसे लेख लिखे गये हों जिनके विषय को लेखक स्वयं भली भाँति न जानता हो।... हिन्दी साप्ताहिकों में ऐसे पत्र हैं जिनमें पुराने नामी ग्रेजुएट लिखते हैं। वह मुकाबिले में अपने देश या किसी भाषा के किसी पत्र से किसी बात में कम नहीं हैं। इतने पर भी यदि पुक्का साहब सन्तुष्ट नहीं हैं तो स्वयं हिन्दी में अच्छी अच्छी किताबें लिखें और अपने उन मित्रों से लिखवाएँ जो आपकी समझ में काबिल और लायक हों। अंग्रेजी कागजों में घर की नालायकी का परिचय देने क्यों जाते हैं?" हीनता ग्रन्थि से ग्रस्त व्यक्ति केवल ध्वंसात्मक आलोचना करके अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देना चाहते थे। गुप्तजी उनमें आत्म विश्वास का भाव जगाकर उन्हें रचनात्मक कार्य करने के लिए ललकारते थे।

पाखण्ड का प्रचार करनेवाले ला० शालिग्राम वैश्य को जिस प्रकार उन्होंने फटकारा था उसी प्रकार घृणा का प्रचार करनेवाले मियाँ अब्दुलगफूर बी० ए० उर्फ धर्मपाल का भी विरोध किया था। शालिग्रामजी का दावा था कि स्वप्न में सिद्धमहात्मा गोरखनाथ ने 'कामशास्त्र' उन्हें देकर उसका प्रचार करने की आज्ञा दी थी। मियाँ अब्दुलगफूर शुद्धि कराकर धर्मपाल बन गये थे और तहजीबुल इस्लाम नामक पोथी में उन्होंने इस्लामी प्रथाओं की कड़ी निन्दा की थी। हिन्दुत्वनिष्ठ गुप्तजी न तो शालिग्रामजी के अन्धविश्वास के प्रचार का स्वागत कर सके न धर्मपालजी की अन्ध घृणा का। स्वधर्म त्यागी द्वारा अपने पुराने धर्म की निन्दा भी उनके मर्यादावाद और शील को अनुचित ज्ञात होती थी

गुप्तजी ने साहित्य के क्षेत्र में नवीन आदर्शवादी विचार-धाराओं और नूतन रचना शैलियों का स्वागत करते हुए भी पुरातन रीतियों का सर्वथा परित्याग करने की सलाह नहीं दी थी। भारतमित्र के छब्बीसवें वर्ष का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने लिखा था "हिन्दी पद्य की भी कुछ चर्चा भारतमित्र में गत वर्ष हुई। उससे कम से कम इतना हुआ कि हिन्दी के कवि अपने लिये एक पथ निकाल सकते हैं। परन्तु अपने जी में इतना समझ रखें कि प्यारी की विरहव्यथा वर्णन और नायिका भेद बतलाने का समय अब नहीं है। पिछले कवि उक्त विषय में जो कुछ कविता कर गये वह कम नहीं है। — समय है कवि उनकी नकल करके नाम नहीं पा सकते। अब दूसरा

मार्ग प्रशस्त करना चाहिये। हम पं० श्रीधर पाठक तथा पं०महावीर प्रसादजी द्विवेदी का हृदय से धन्यवाद करते हैं। हिन्दी पद्य को पथ पर के आना आप दोनों ही का काम है।[21] हिन्दी कविता में युगान्तर करने के लिए श्रीधरपाठक के एकान्तवासी योगी को वे पहले भी प्रशंसा कर चुके थे। पाठकजी ने श्रान्त पथिक का अनुवाद एक तरह से उन्हीं के आग्रह से किया था। द्विवेदी जी की कविताएँ भी वे हिन्दोस्थान हिन्दी बंगवासी भारतमित्र में निरन्तर प्रकाशित करते रहे थे किन्तु उनकी भाषा की क्लिष्टता तथा रुक्षता और तुक अनुप्रास आदि के त्याग की वृत्ति उन्हें नहीं अच्छी लगती थी। स्वयं भी उन्होंने नये ढंग की कविताएँ लिखी थी तथा सत्यनारायण कविरत्न एवं मुंशीपीताम्बर प्रसाद आदि अनेक कवियों को नवीन विषयों पर कविता लिखने के लिए प्रोत्साहित भी किया था किन्तु शृंगार रस या तुक यमक अनुप्रास आदि एकदम त्याज्य हैं व ऐसा भी नहीं मानते थे। इस विषय पर उन्होंने 'नायिका भेद गया चाहता है जो होता नहीं' शीर्षक से लेख लिखे। वे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की इस बात से तो सहमत थे कि आज के युग में नायिका भेद का जमाना नहीं रहा किन्तु इसके लिए प्राचीन कवियों की लानत मलामत करना अच्छा नहीं समझते थे साथ ही यह भी मानते थे कि नायिका भेद और शृंगार रस की कविताएँ लिखने की परिपाटी केवल हिन्दी में ही न होकर अन्य भाषाओं में भी थी और है। बंगला के दृष्टान्त भरतचन्द्र और शिशिरकुमार घोष जैसे पुराने नये कवियों के उदाहरण देकर उन्होंने अपने मत का समर्थन किया था। कविता के लिए तुक अनुप्रास यमक गणविचार, मात्राविचार छन्दविचार, आदि को वे आवश्यक तथा उपयोगी मानते थे फिर भी नवीन प्रयोगकर्त्ताओं को अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने का अवसर देने के लिए वे सदा तैयार थे। उनका कहना था कि तुक अनुप्रास छन्द बिना यदि कोई कविता लिखना चाहे तो पुरानों को बिना कोसे अच्छी कविता लिख कर दिखा दे उसकी बात मान ली जायगी। ऐसा करने में सफल होने पर केवल पुरानों को कोसते रहना निस्सार है पुरातन के प्रति श्रद्धा और श्रेष्ठ, उपयोगी नवीन का अभिनन्दन गुप्तजी का सहज स्वभाव रहा है।

ललित-साहित्य के साथ-साथ उपयोगी शास्त्रों की रचना भी हिन्दी में हो यह उनकी बड़ी इच्छा थी। एक स्थान पर उन्होंने उत्थान मैगज़ीन की गुमना

२० हिन्दी साहित्य भा. नि. (१९०४) म. कि. गु. के पुस्त. में सु
२१ का स्मा ग के पृ० १२० में छन्द त पूरा लेख म कि गु के पुस्त. में सु

हो। अथवा उसमें ऐसे लेख लिखे गये हों जिनके विषय को लेखक स्वयं भली भाँति न जानता हो। ... हिन्दी साप्ताहिकों में ऐसे पत्र हैं जिनमें पुराने नामी ग्रेजुएट लिखते हैं। वह मुकाबिले में अपने देश की किसी भाषा के किसी पत्र से किसी बात में कम नहीं है। इतने पर भी यदि शुक्ला साहब सन्तुष्ट नहीं हैं तो स्वयं हिन्दी में अच्छी अच्छी किताबें लिखें और अपने उन मित्रों से लिखवाएं जो आपकी समझ में काबिल और लायक हों। अङ्गरेजी कागजों में घर की नालायकी का परिचय देने क्यों जाते हैं?" हीनता ग्रन्थि से ग्रस्त व्यक्ति केवल ध्वंसात्मक आलोचना करके अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देना चाहते थे। गुप्तजी उनमें आत्म विश्वास का भाव जगाकर उन्हें रचनात्मक कार्य करने के लिए ललकारते थे।

पाखण्ड का प्रचार करनेवाले ला० शालिग्राम वैश्य को जिस प्रकार उन्होंने फटकारा था उसी प्रकार घृणा का प्रचार करनेवाले मिर्ज़ा अब्दुलगफूर बी०ए० उर्फ धर्मपाल का भी विरोध किया था। शालिग्रामजी का दावा था कि स्वप्न में सिद्धमहात्मा गोरखनाथ ने 'कामशास्त्र' उन्हें देकर उसका प्रचार करने की आज्ञा दी थी। मिर्ज़ा अब्दुलगफूर शुद्धिकरवाकर धर्मपाल बन गये थे और तहजीबुल इस्लाम नामक पोथी में उन्होंने इस्लामी प्रथाओं की कड़ी निन्दा की थी। हिन्दुत्वनिष्ठ गुप्तजी न तो शालिग्रामजी के अन्धविश्वास के प्रचार का स्वागत कर सके न धर्मपालजी की अन्ध घृणा का। स्वधर्म त्यागी द्वारा अपने पुराने धर्म की निन्दा भी उनके मर्यादावाद और शील को अनुचित ज्ञात होती थी

गुप्तजी ने साहित्य के क्षेत्र में नवीन आदर्शवादी विचार-धाराओं और नूतन रचना शैलियों का स्वागत करते हुए भी पुरातन रीतिका सर्वथा परित्याग करने की सलाह नहीं दी थी। भारतमित्र के दैनिकों वर्ष का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने लिखा था "हिन्दी पद्य की भी कुछ चर्चा भारतमित्र में गत वर्ष हुई। उसका फल से कम इतना हुआ कि हिन्दी के कवि अपने लिये एक पथ निकाल सकते हैं। परन्तु अपने जी में इतना समझ रखें कि प्यारी की विरहव्यथा वर्णन और नायिका भेद बनवाने का समय अब नहीं है। पिछले वर्ष उक्त विषय में जो कुछ कविता कर गये वह कम नहीं है। इस समय के कवि उसकी नकल करके नाम नहीं पा सकते। अब दूसरा

माप तमाम करना चाहिये। हम पं० श्रीधर पाठक तथा पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी का हृदय से धन्यवाद करते हैं। हिन्दी पद को पथ पर से लाना आप जैसे लोगों ही का काम है।¹¹ हिन्दी कविता में युगान्तर करने के लिए श्रीधरपाठक के ऊजड़ग्राम और एकान्तवासी योगी भी वे पहले भी प्रकाश कर चुके थे। पाठकजी ने श्रान्त पथिक का अनुवाद एक तरह से उन्हीं के आग्रह से किया था। द्विवेदी जी की कविताएँ भी वे हिन्दोस्थान हिन्दी बंगवासी भारतमित्र में निरन्तर प्रकाशित करते रहे थे किन्तु उनकी भाषा की क्लिष्टता तथा रचना और कुछ अनुप्रास आदि के त्याग की वृत्ति उन्हें नहीं अच्छी लगती थी। स्वयं भी उन्होंने नये ढंग की कविताएँ लिखी भी तथा सत्यनारायण कविरत्न एवं मुंशीपीताम्बर प्रसाद आदि अनेक कवियों को नवीन विषयों पर कविता लिखने के लिए प्रोत्साहित भी किया था किन्तु शृंगार रस या कुछ यमक अनुप्रास आदि एकदम त्याज्य हैं व ऐसा भी नहीं मानते थे। इस विषय पर उन्होंने 'नायिका भेद तथा चाहते हैं जो होता नहीं' शीर्षक दो लेख लिखे। वे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की इस बात से तो सहमत थे कि आज के युग में नायिका भेद का जमाना नहीं रहा किन्तु इसके लिए प्राचीन कवियों की लानत मलामत करना अच्छा नहीं समझते थे साथ ही यह भी मानते थे कि नायिका भेद और शृंगार रस की कविताएँ लिखने की परिपाटी केवल हिन्दी में ही न होकर अन्य भाषाओं में भी की और है। बंगला के पुणाकर भरतचन्द्र और गिरिशकुमार घोष जैसे पुराने नये कवियों के उद्धरण देकर उन्होंने अपने मत का समर्थन किया था। कविता के लिए कुछ अनुप्रास यमक गणविचार, मात्राविचार, छन्दविचार, आदि को वे आवश्यक तथा उपयोगी मानते थे फिर भी नवीन प्रयोगकर्ताओं को अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने का अवसर देने के लिए वे सदा तैयार थे। उनका कहना था कि कुछ अनुप्रास छन्द बिना यदि कोई कविता लिखना चाहे तो पुराणों को बिना कोसे अच्छी कविता लिख कर दिखा दे उनकी बात आप ही जायगी। ऐसा करने में समर्थ होने पर केवल पुराने को कोसते रहना निन्दनीय है पुरातन के प्रति श्रद्धा और श्रेष्ठ उपयोगी नवीन का अभिनन्दन गुप्तजी का सहज स्वभाव रहा है। ललित-साहित्य के साथ-साथ उपयोगी शास्त्रों की रचना भी हिन्दी में हो यह उनकी बड़ी इच्छा थी। एक स्थान पर उन्होंने उपन्यास लेखन की सूचना

२०. हिन्दी साहित्य मा मि (१९०४) म. कि गु के पुस्त. में सु
२१ बा स्मा. n के पृ० १२० में छद्द त पूरा लेख म कि गु के पुस्त. में सु

में इतिहास लेखन को अधिक महत्त्व दिया है। भारतीय पुनर्जागरण के एक उद्घोषक के अनुरूप ही मर्यादा और उपयोगिता अतीत गौरवबोध और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण की स्पृहा तथा साधना को ही गुप्तजी ने परम मूल्य के रूप में स्वीकारा था और इन्हीं के अनुसार साहित्य का कायाकल्प करना चाहा था।

*भाषा सम्बन्धी आलोचना*

गुप्तजी की भाषा-सम्बन्धी पकड़ बड़ी अच्छी थी। भाषा के वे स्वयं बड़े अच्छे प्रयोक्ता थे और भाषा सम्बन्धी त्रुटियों की सूक्ष्म विवेचना भी कर सकते थे। वस्तुतः आलोचना के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन भाषा सुधार की ही है। भाषा-सम्बन्धी उनके सिद्धान्त बड़े स्पष्ट थे। उनका विश्वास था भाषा सरल प्रवाहमयी बामुहावरा चुस्त और जीवन्त होनी चाहिए। कृत्रिम क्लिष्ट असमर्थ शिथिल और निष्प्राण भाषा उन्हें अप्रिय थी अवसर मिलने पर ऐसी भाषा का उन्होंने विरोध किया और कभी कभी जम कर विरोध किया।

भाषा संस्कार की ओर उनकी दृष्टि आरंभ से ही थी। हिन्दी बंगवासी का सम्पादन पद उन्हें भाषा-संस्कार की क्षमता के कारण ही प्राप्त हुआ था। सन् १८९२ ई० में महेन्द्रमणिनी के हिन्दी अनुवाद की ओर हिन्दी भाषा के लिए पटक्षार बताने वाला आलोचनात्मक पत्र उन्होंने लिखा था। पं० अमृतलाल चक्रवर्ती पं० प्रभुदयाल पाण्डे तथा बाबू बालमुकुन्दगुप्त के सह-सम्पादन में हिन्दी बंगवासी सन् १८९१ से १८ ८ तक निकला। तीनों विद्वान् भाषा की शुद्धता के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। पं० अमृतलाल चक्रवर्ती ने अपने संस्मरण में लिखा था 'हिन्दी-बंगवासी का आफिस एक ऐसा स्थल था जहाँ हम तीनों साथ एक कर भाषा की खाल निकालते थे। भाषा-नियम के लिये हमारी लड़ाई ऐसी गहरी होती थी कि किसी किसी दिन सारी रात बीत जाती थी। किस प्रान्त के किस शहर की कहाँ बोलचाल की भाषा का समुचित साहित्य होगा इस पर बड़ी जोरदार बहस होती थी। पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'हिन्दी बंगवासी' को 'भाषा गढ़ने की टकसाल' बतलाते थे। उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुन्द गुप्त की पारखी दृष्टि बिना नहीं निकलता था।

गुप्तजी उर्दू से हिन्दी में आये थे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि खड़ी बोली उर्दू गद्य में ही पहले साहित्यिक संस्कार प्राप्त कर चुकी थी।

यह भी स्मरणीय है कि भाषा की सरलता का अर्थ गुप्तजी यह नहीं समझते थे कि उसे कृत्रिम रूप से सरल बनाने की चेष्टा की जावे और इस तरह उसके आभिजात्य को नष्ट कर दिया जाय। हरिऔध जी के 'अधखिलाफूल' की आलोचना करते हुए उन्होंने हिन्दी को कृत्रिम ढंग से सरल बनाने का विरोध किया था। दो टूक शब्दों में उन्होंने कहा था "हम ठेठ हिन्दी के तरफदार नहीं। ठेठ हिन्दी का हमारी समझ में कुछ अर्थ भी नहीं। यह ठेठ हिन्दी किस प्रकार इंशा द्वारा साहित्य में प्रयुक्त हुई इसकी चर्चा करने के अनन्तर गुप्तजी ने 'अधखिला फूल' के कुछ विरल प्रयोगों की समीक्षा करते हुए अन्त में इस शैली के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट निर्णय इस प्रकार दिया था "हमारे लिये इस समय वही हिन्दी अधिक उपकारी है जिसे हिन्दी बोलने वाले तो समझ ही सकें उनके सिवा उन प्रान्तों के लोग भी उसे कुछ न कुछ समझ सकें जिनमें वह नहीं बोली जाती। हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिये इसमें हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती बंगाली मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे। ... अयोध्यासिंहजी स्त्री को 'इस्तिरी' मित्र को 'मितर' स्वर्ग को 'सरग' नगर को 'नगर' आदि लिख के अपनी भाषा को सौ साल पीछे धकेलने की चेष्टा क्यों करते हैं?"[२५] इस सिद्धान्त के बहुलांश से सहमत होते हुए भी इसके अतिरेक को हम संशोधन सापेक्ष समझते हैं। यह ठीक है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार करने वाली नीति नितान्त त्याज्य है यह भी ठीक है कि मित्र को 'मितर' के रूप में कृत्रिम ढंग से सरल करना भी गलत है किन्तु उचित अवसर पर 'सरग' 'नगर' जैसे प्रचलित तद्भव शब्दों का प्रयोग करना अपराध है ऐसा हम नहीं मानते। गुप्तजी संभवतः उर्दू के उस्तादों की नफासत की नीति से प्रभावित थे। उन्होंने इसी लेख में लिखा था कि "किसी प्रान्त के देहाती लोग बोलते हों तो ऐसे शब्द साधारण भाषा में नहीं आने चाहिये। नागरता का अभिमान रखने वाले संस्कृत कवियों के आचार्यों ने भी 'ग्राम्यता' को दोष माना है। हमारा मन्तव्य सिर्फ यही है कि शब्दों के साथ प्रयुक्त और देशज शब्द भी अवसर के अनुकूल साहित्य में व्यवहृत हो सकते हैं। आधुनिक कथाकार हिन्दी में ऐसा कर रहे हैं और इससे भाषा की व्यंजना शक्ति बढ़ती है उसमें ताजगी आती है ऐसा हम मानते हैं।

---

२४ गु नि पृ ५६५

२५ वही पृ ६००

इसी तरह इस लेख में और अन्यत्र भी गुप्तजी ने प्रो० आज़ाद के इस विचार को दुहराया है कि हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली ब्रज भाषा से बनी है। भाषा विज्ञान के पंडितों ने इस मत को अयुक्त प्रमाणित कर दिया है। वस्तुतः खड़ी बोली ब्रजभाषा के समान ही शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न हुई है।

शब्दों के प्रयोग में वे कितने सावधान थे और अपने प्रयोग को शुद्ध प्रमाणित करने लिए व अपने पक्ष में पुष्ट उदाहरण देकर प्रतिपक्षी को कैसे परास्त कर सकते थे इसका अच्छा उदाहरण शेष के अर्थ को लेकर श्री वेंकटेश्वर समाचार के सम्पादक पं० लज्जाराम मेहता से हुआ उनका विवाद था। गुप्तजी ने शेष का प्रयोग अन्त के अर्थ में किया था जब कि मेहता जी उसका अर्थ अवशिष्ट करते थे। अन्त में मेहता जी को मानना पड़ा कि शेष का एक अर्थ अन्त भी होता है। यह १९०० ई० की घटना है।

शिथिल या अशुद्ध भाषा का प्रयोग करने के लिए उन्होंने सरस्वती की कई बार आलोचना की थी। इन व्यंग्यात्मक आलोचनाओं की चरम परिणति 'भाषा की अनस्थिरता' सम्बन्धी गुप्त द्विवेदी विवाद में हुई। इस विवाद ने अखिल भारतीय रूप धारण किया और उस समय के हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों ने इस विवाद में भाग लिया। यह दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि इस विवाद को व्यक्तिगत मानापमान का प्रश्न बना लिया गया और फिर तो व्यक्तिगत आक्षेपों की ऐसी बौछार हुई कि मूलभूत विवेचनीय तत्त्व या तो विस्मृत कर दिये गए या हठ एवं अर्ध सत्य का सहारा लेकर मीमांसित किए गए। उस समय की गर्मागर्मी में यदि इसको मानवीय दुर्बलताजन्य स्खलन मान भी लिया जाय तो भी यह अपेक्षित था कि परवर्ती विद्वान इस विवाद में अन्तर्निहित आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना करते किन्तु खेद की बात है कि ऐसा नहीं हुआ। विस्तार में बिना गये हम चेष्टा करेंगे कि इस विवाद के बुनियादी प्रश्नों पर विचार करें।

समग्र दृष्टि से विचार करने पर यह मानना पड़ता है कि इस विवाद के मूल में व्यक्तिगत खरोंच भी एक तत्त्व था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जनवरी १९०० ई० में हिन्दी शिक्षावली के तृतीय भाग की कठोर समालोचना करते हुए उसमें संगृहीत 'खिलौना' पुस्तक की कुछ कविताओं की भी धज्जियाँ उड़ाई थी। 'खिलौना' के लेखक गुप्तजी थे। बालमुकुन्द के नाम से लिखा

लेख में खिलौना की कविताओं पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया गया था। इस पर पुनः आलोचना प्रत्यालोचना हुई। यह जान कर कि खिलौना के लेखक गुप्तजी ही हैं द्विवेदीजी ने व्यक्तिगत पत्र लिखकर असावधान में की गयी अपनी आलोचना के लिए खेद प्रकाश किया साथ ही प्रत्यालोचना की कठोरता को मित्रता के व्यवहार से दूर की बात बताया। [26] गुप्तजी ने अपने २५ २ १९०० के उत्तर में यह तो लिखा कि खिलौना पर आपके लिखने से मुझे हर्ष है दुःख नहीं। ऐसी बातों का ख्याल मुझे नहीं होता।' किन्तु यह बात उनके मन में चुभ अवश्य गयी थी। इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा था "आपकी कविता में दोष दिखाने की चेष्टा नहीं की परन्तु आज्ञा हो तो करूँ? पर शर्त यह है कि उसमें अन्य भाव न समझा जावे। वास्तव में तो मैं इस बात का तरफदार हूँ कि किसी पर ऐसा हमला न हो। जबरदस्ती किसी का दोष दिखाना मेरी आदत नहीं। मेरे महाराज पर इतनी टोक टाक और पंडित श्रीधरजी के महाराज को कुछ नहीं।[27] इससे यह ध्वनि निकलती है कि गुप्तजी समझते थे कि खिलौना की कविताओं पर ऐसा हमला किया गया था। एक सूक्ष्म ध्वनि यह भी है कि द्विवेदी जी की आदत जबरदस्ती दूसरों का दोष दिखाने की थी। इसके पहले भी गुप्तजी द्विवेदी जी से ५ १२-९९ और ११ १२ ९९ के अपने पत्रों में प्रार्थना कर चुके थे कि लाला सीताराम की अधिक कड़ी आलोचना नहीं की जानी चाहिए। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि सीतारामजी न उनके मित्र हैं न उनसे उनका पत्र व्यवहार या जान-पहचान ही है 'मेरा मतलब यह है कि किसी अच्छे लेखक से कुछ भूल भी हो तो उस पर अधिक कटाक्ष न होने पावे।[28] गुप्तजी द्विवेदी जी की कठोर आलोचना पद्धति से पहले से ही असन्तुष्ट थे अब वह असन्तोष और बढ़ गया। गुप्तजी को लगता था कि द्विवेदी जी अपने को बहुत ऊँचा और अन्य लेखकों को बहुत नीचा समझ कर उनकी समालोचना करते हैं। दोनों स्वाभिमानी और मनस्वी थे दोनों को एक दूसरे की स्पष्टवादिता कुछ-न-कुछ अवश्य खली होगी।

इसके बाद द्विवेदीजी ने गुप्तजी के बारे में तो नवम्बर १९०५ तक आलोचनात्मक कुछ नहीं लिखा किन्तु अन्य लेखकों पर उनका धाराप्रवाह का निर्भीक

---

२६ गु० नि पृ ४२१

२७ सा स्मा. ग्रं पृ. १२६-२७

२८ सा. स्मा. ग्रं पृ० १२१

और निर्मम कुठार चलता रहा। द्विवेदी जी द्वारा सरस्वती का सम्पादन स्वीकार करने के पहले ही गुप्तजी सरस्वती की आलोचना मर्यादोल्लंघन भाषा की शिथिलता और अशुद्धियों के लिए करते रहे थे। ऐसी टिप्पणियों में 'सुनरी सरस्वती' 'समालोचक पर सरस्वती' 'सरस्वती की नाराजी' शीर्षक टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं। द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादक होने के बाद भी वे 'सरस्वती का विनय कविता' 'साहित्य-समालोचना' सं० चित्र आदि को ले व्यंग्यपूर्ण शैली में उनकी आलोचनाएं करते रहे। ये आलोचनाएं अनुचित थीं ऐसा नहीं कहा जा सकता किन्तु उनमें कभी-कभी द्विवेदी जी पर गहरा कटाक्ष रहता था। गुप्तजी ने 'नायिका भेद' 'चाहते हैं सो होता नहीं' शीर्षक लेख मुख्यतः द्विवेदी जी के विचारों का मार्मिक खण्डन करने के लिये लिखे थे। 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक गुप्तजी की लेखमाला से ज्ञात होता है कि इनके अतिरिक्त भी दो तीन लेख द्विवेदी जी के विचारों का संशोधन करते हुए उन्होंने लिखे थे। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि द्विवेदी जी जैसे दर्प स्वभाव के व्यक्ति ने अपने विचारों की इतनी आलोचनाओं को चार-पाँच वर्षों तक मौन भाव से सहा।

इस पृष्ठभूमि के बाद गुप्तजी ने आत्माराम के नाम से 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेखमाला लिखी। 'व्याकरण विचार' शीर्षक लेख में उन्होंने दावा किया था 'आत्माराम के कटाक्ष उनकी चुलबुली दिल्लगियाँ मीठी छेड़ जो कुछ है द्विवेदी जी के लिखने के ढंग पर, उनकी भाषा की बनावट पर, उनके व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान पर उनके [illegible] पर उनकी गंभीरता की भाषा-मथन करने आदि पर है। हमारी समझ में बहस की सीमा से बाहर आत्माराम बहुत कम गया है। किसी बातको उसने तूल भी नहीं दिया।"[29] किन्तु लोगों की समझ में उनके कटाक्ष मीठी छेड़ से बहुत आगे जाकर कटु हो गये थे बहस की सीमा के बाहर जाकर शायद पहली बार उसने सिद्धान्त के विपरीत उन्होंने व्यक्तिगत आक्षेप भी किये थे और बहुत सी बातों को तूल भी दिया था। खेद है कि हम लोगों की समझ को शक्तिहीन नहीं समझते। गुप्तजी के मतानुसार द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' लेख से यह नहीं स्पष्ट होता कि हिन्दी भाषा में कोई व्याकरण नहीं है और उसमें एक नया व्याकरण बनाना चाहिये न ही "हिन्दी या हिन्दी के किसी लेखक के साथ

---

२९ गु० नि० पृ० ४३०

उसमें कुछ सहानुभूति या श्रद्धा प्रगट होती है? केवल यही स्पष्ट होता है कि हिन्दी में गदर मच रहा है। जितने पुराने लेखक थे सब अशुद्ध लिखते थे। नये भी अशुद्ध और बेठिकाने लिखते हैं। जितने व्याकरण हिन्दी में हैं वह किसी काम के नहीं शुद्ध हिन्दी लिखना कोई जानता नहीं। जो कुछ जानते हैं सो उस लेख के लेखक।[30] हमारा विश्वास है कि गुप्तजी स्वयं आवेश उतर जाने के बाद यदि द्विवेदी जी का 'भाषा और व्याकरण' लेख तथा अपना यह निर्णय शान्त चित्त से पढ़ते तो उन्हें इसकी अतिरंजनाएँ और विकृतियाँ अनुचित लगतीं। द्विवेदी जी ने अन्यत्र भले ही लाला सीताराम आदि कुछ लेखकों की आलोचनाएँ शिष्टता का अतिक्रमण कर की हों इस लेख में उनका स्वरसंयत और विचारप्रधान है, न किसी मान्य लेखक की अवज्ञा का प्रयास है न अपनी सर्वज्ञता के प्रदर्शन का। उक्त लेख के इस उद्धरण से द्विवेदी जी की विनीत भूमिका स्पष्ट हो जायेगी। "यहाँ पर हम व्याकरण विरुद्ध हिन्दी रचना के दो चार उदाहरण देना चाहते हैं। पर जिनकी रचना के ये उदाहरण हैं उनसे इस कारण हम शतबार क्षमा-प्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय इस लोक में हों चाहे परलोक में। इसमें कुछ मानने की बात नहीं। हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगों का ध्यान ही कम है।"[31] लेखकों से शतबार क्षमा प्रार्थना करना उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करना है या 'हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण विरुद्ध लिख जाते हैं' लिखना अपनी सर्वज्ञता का प्रदर्शन करना है यह मानना किसी के लिए भी मुश्किल होगा। उस लेख से यदि किसी को यह भी ध्वनित होता हुआ न ज्ञात हो कि लेखक का अभिप्राय हिन्दी के सर्वांगपूर्ण व्याकरण की रचना की आवश्यकता दिखला कर विद्वानों का ध्यान व्याकरण-रचना की ओर तथा लेखकों का ध्यान व्याकरण शुद्ध भाषा लिखने की ओर आकृष्ट करना है तो उसका क्या इलाज है ? हम यह नहीं कहते कि उस लेख में द्विवेदी जी की कहीं कोई गलती नहीं है सिर्फ यही कहते हैं कि द्विवेदी जी ने यह विचारपूर्ण लेख जिस उद्देश्य से लिखा

---

३० गु० नि० पृ० ४८९

३१ सरस्वती के नवम्बर १९०५ और फरवरी १९०६ के अंकों में भाषा और व्याकरण शीर्षक से दो किस्तों में द्विवेदी जी का जो लेख छपा था वह उनकी पुस्तक वाग्विलास में संकलित है। हमने उस लेख के उद्धरण इसी ग्रन्थ से लिये हैं। वाग्विलास पृ० ८८-९०

था उसे गलत समझ कर गुप्तजी ने जिस ढंग से जिस शैली में उसकी हँसी उड़ाते हुए आलोचना की उससे प्रश्न व्याकरण विचार का न रह कर व्यक्तिगत मानापमान का हो गया। 'अनस्थिरता' का हौआ दिखा-दिखा कर जिस तरह द्विवेदी जी को आतंकित करने की चेष्टा की गयी उससे भाषा परिमार्जन के गंभीर सिद्धान्तों पर युक्तियुक्त विचार होने के स्थान पर किसी न किसी प्रकार 'अनस्थिरता' को व्याकरण शुद्ध सिद्ध करने की जिद बढ़ी एक दूसरे पर बेजा हमला करने और एक दूसरे के प्रयोगों में जबरदस्ती दोष दिखाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। गुप्तजी की इस असन्तुलित आलोचना का पहला शिकार उन्हीं का आलोचना सिद्धान्त हुआ। 'आत्माराम की आलोचना' लेख में उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि अपनी लेखमाला में उन्होंने द्विवेदी जी पर व्यक्तिगत आक्षेप कहीं नहीं किया है जबकि द्विवेदी जी और उनके समर्थकों ने उन पर अनेक प्रकार के व्यक्तिगत और धर्मगत आक्षेप किये हैं। यह ठीक है कि द्विवेदीजी पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा कुछ और विद्वानों ने अनुचित आवेश में ऐसे अशोभन आक्षेप किये हैं किन्तु आत्माराम ने ही इसकी पहल की थी यह भी दुःखद सत्य है। उदाहरण के लिए द्विवेदी जी के सम्बन्ध में यह लिखना उन पर व्यक्तिगत आक्षेप करना ही है कि "जबसुख जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे घर घमण्डी हों उस अभागी का बिगाड़ ही होना है।"[१२] "एक विशेष प्रकार के जानवरों की भाँति द्विवेदीजी को किनारे के कीचड़ ही में सब मिल जाता है।[१२क] इसी तरह के कुछ और आक्षेपों से क्षुब्ध होकर द्विवेदीजी ने लिखा था "हमारा देहातीपन हमारा संस्कृत श्लोकों वाला गाली उच्चारण हमारा बहुत तरह की बातों का शौक पाला हमारा संस्कृत का अद्वितीय ज्ञान—न हमारे शरीर से कुछ सरोकार रखता है न हमारे कामों से।"[१३] और पं० गोविन्दनारायण मिश्र के सम्बन्ध में गुप्तजी ने लिखा था "अब एक पहाड़ी कलन्दर के पुराने उल्लू की गुड़ुम गुड़ुम सुनिये। बहुत दिन से यह कोटरनशीन चुपचाप था। अब उसने अगवानी के धर्मभवन पर बैठ कर अपने पट्ठों सहित बोलना शुरू किया है।"[१४] क्या यह निम्न कोटि का व्यक्तिगत आक्षेप नहीं है और क्या इसका कुछ भी सम्बन्ध विचारणीय विषय से या मिश्रजी के लेख से है? हमें यह देख कर आश्चर्य

१२ गु० नि० पृ० ४३४। १२क वही पृ० ४६६।

१३ [illegible] पृ० १५८-५९। १४ गु० नि० पृ० ४८१।

प्रतीत होता है कि अपने जीवन में शायद पहली और आखिरी बार गुप्तजी इतने असंयत हो गये कि स्वयं अपने घोषित और अब तक आचरित सिद्धान्त के प्रतिकूल लेखनी चला बैठे। इन्हीं गुप्तजी ने १९०२ ई० में सरस्वती सम्पादक को बाबू गोपालराम गहमरी पर अनुचित व्यक्तिगत आक्षेप के लिए फटकारते हुए लिखा था "सरस्वती को चाहिये कि लुच्चियों का काला रंग मिटानेकी जगह अपने सम्पादक का शिरोरोग मिटावे क्योंकि किसी पुस्तक की समालोचना करते करते, उसके सम्पादक की समालोचना करने लग जाना निरा शिरोरोग है। लोग सरस्वती के लेखों की समालोचना करने का अधिकार रखते हैं उसके सम्पादककी आलोचना करने का नहीं।"[१५] यह दुर्भाग्य पूर्ण तथ्य है कि उभय पक्षों के व्यक्तिगत आक्रोश और आवेश के कारण विवादग्रस्त विषय पर सुसंगत विचार नहीं हो सका।

'भाषा की अनस्थिरता' लेखमाला के शीर्षक एवं उसके प्रत्येक लेख के अन्त में अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध करने की चुनौती के कारण गुप्तजी के लेखों में उठायी गयी भाषा सम्बन्धी अन्य गंभीर समस्याओं की तरफ विद्वानों का ध्यान उचित मात्रा में न जाकर अनस्थिरता के चारों ओर ही केन्द्रित हो गया। बार-बार की चुनौती से स्थिति ऐसी हो गयी कि यह मान लिया गया कि यदि अनस्थिरता व्याकरण से सिद्ध नहीं होती है तो द्विवेदी जी की हार है और यदि व्याकरण से अनस्थिरता सिद्ध की जा सकती है तो गुप्तजी की पराजय है। स्पष्टतः गुप्तजी की स्थिति मजबूत थी क्योंकि साधारण रूप से संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'अस्थिरता' शब्द बनता है 'अनस्थिरता' नहीं। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए श्री गोविन्द निबन्धावली के प्राक्कथन में लिखा था, "बैकुण्ठवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त जिस समय 'अनस्थिरता' शब्द के कारण 'भारतमित्र' में श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसादजी द्विवेदी को रगेद रहे थे और द्विवेदीजी भी रगड़ने जाते थे उस समय मिश्रजी ने 'हिन्दी बंगवासी' में "आत्माराम की टें टें" शीर्षक लेखमाला में द्विवेदीजी का पक्ष समर्थन किया था और अच्छा किया था। कहने वाले अब भी कहते हैं कि यदि मिश्रजी मैदान में न आते तो द्विवेदी जी बेतरह रह जाते।"[१६] पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने अनस्थिरता शब्द को संस्कृत व्याकरण से नहीं हिन्दी व्याकरण से सिद्ध किया। उनका तर्क था "हिन्दी

१५ समालोचक पर सरस्वती—बा० बि० गु० के पुस्त० से पृ०
१६ श्री गोविन्द निबन्धावली प्रा०)।

शब्दों में व्यंजन के आगे आने वाले निषेधवाचक 'न' को भी 'अन' होता है। इससे हिन्दी में 'अनरीति' 'अनरस' अनहोनी' 'अनमिल' अनमोल' 'अनपढ़' 'अनहित' 'अनमांगा' 'अनसुनी' 'अनबूझ' आदि अनेकों शब्द सर्वथा विशुद्ध ही माने जाते हैं। ऐसी अवस्था में हिन्दी के लेख में द्विवेदीजी ने 'अनस्थिरता' लिख ही दी तो अनर्थ क्या किया ?''[१] गुप्तजी 'अनस्थिरता' की अशुद्धि को आवश्यकता से बहुत अधिक तूल दे चुके थे अतः इतनी आसानी से 'अनस्थिरता' शब्द को किसी भी व्याकरण से शुद्ध नहीं मान सकते थे। हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'अनस्थिर' शब्द बन सकता है यह मान कर भी 'भाषा की अनस्थिरता' के दसवें लेख में 'अनस्थिरता' शब्द पर इस आधार पर उन्होंने आपत्ति की कि हिन्दी के अनमिल अनमोल अनपढ़ आदि शब्दों में 'ता' नहीं जोड़ी जा सकती अतः 'अनस्थिर' यदि हिन्दी का शब्द है तो उसके आग भी 'ता' नहीं लगायी जा सकती और इस तरह 'अनस्थिरता' शब्द शुद्ध नहीं ठहरता। गुप्तजी को यह आशा भी थी कि शायद द्विवेदी जी मिश्रजी की इस युक्ति को स्वीकार न करें क्योंकि इससे उनके संस्कृत ज्ञान को धक्का लगता था। किन्तु गुप्तजीकी दोनों धारणाएँ ठीक नहीं निकलीं। प० गोविन्दनारायण मिश्र के पास सीधा तर्क था कि 'स्थिर' के समान ही 'स्थिरता' भी हिन्दी का शब्द है अतः हिन्दी व्याकरण के अनुसार स्थिरता के आगे अन लगाकर अनस्थिरता शब्द बन सकता है। उधर द्विवेदीजी ने भी फरवरी १९०६ की सरस्वती में संस्कृत से भी अनस्थिरता शब्द दो तरह सिद्ध हो सकता है यह कह कर भी वर्तमान विवाद के लिए अपने पाठकों से यही प्रार्थना की "कि संस्कृत के झगड़े में न पड़ कर 'अनस्थिरता' को वे अनमिल' 'अनहित' 'अनरीति' 'अनमोल' 'अनगौरी' 'अनरेती' और 'अनसुनी' की तरह का हिन्दी शब्द समझें।[१८] गुप्तजी की 'ता' सम्बन्धी आपत्ति की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा "इच्छा तो हमारी यह थी कि जिस 'ता' से आपको इतनी नफरत है उसे हम अनहित' 'अनमिल' 'अनरस' आदि शब्दों में भी लगावें पर 'ता' का बहुत अधिक खर्च हम नहीं करना चाहते। यदि ता का खजाना खाली हो जायगा तो गुप्तविहारा अपने अत्यन्त शुद्ध हिन्दी-शब्द 'निरपनता' के लिए 'ता' कहाँ पावेंगे ?'' ।

इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने अस्थिरता और अनस्थिरता के अर्थ में भी

१७ श्री गोविन्द मिश्रजी आत्माराम की टें टें पृ० ९ १०
१८ सारस्वत पृ० १४२

कुछ अन्तर किया था। उनका कहना था "अस्थिरता शब्द केवल स्थिरता के प्रतिकूल अर्थ का बोधक है, जो स्थिर नहीं है वह अस्थिर है। परन्तु जिसमें अतिशय अस्थिरता है जिसमें अस्थिरता की मात्रा अत्यन्त अधिक है उसके लिये अन-स्थिरता ही का प्रयोग हम अच्छा समझते हैं।" ३८क वस्तुतः इस सिद्धान्त को भी मान लेने के बाद कि 'अनस्थिर' हिन्दी व्याकरण से शुद्ध है 'अनस्थिरता के लिए विशेष आपत्ति का अवकाश नहीं रह जाता। जैसे हिन्दी के 'निरपम' शब्द से 'निरपमता' सुन्दर से सुन्दरता आदि शब्द बन सकते हैं वैसे ही हिन्दी के जिन शब्दों में 'ता' प्रत्यय जोड़ा के साथ लग सकता है उनमें क्यों न लगाया जाय? हमें 'अनरसता' 'अनमनता' जैसे शब्द अर्थ बोधन और युक्तिपूर्ण दोनों दृष्टियों से अच्छे लगते हैं। फिर गुप्तजी सिद्धान्ततः यह आपत्ति नहीं कर सकते। आपत्ति का आधार तो यही है कि एक भाषा के शब्द में दूसरी भाषा के उपसर्ग या प्रत्यय नहीं लगाने चाहिए किन्तु गुप्तजी स्वयं बहस के साथ व्याकरणदानी भाषादानी कविताप्रेमी बेमिसाल जैसे शब्दों का प्रयोग करते थे। यदि वे संस्कृत शब्दों के साथ फारसी प्रत्यय और उपसर्ग लगा सकते थे तो दूसरों को हिन्दी शब्दों में संस्कृत के या संस्कृत शब्दों में हिन्दी के उपसर्ग और प्रत्यय लगाने से कैसे रोक सकते थे?

हिन्दी से अनस्थिरता को सिद्ध करने पर गुप्तजी ने व्यंग्य किया कि उसे अंग्रेजी के 'अनरफ़ुलनेस' 'अनपॉट' अनसिविलाइज़्ड जैसे शब्दों के अनुकूल अंग्रेजी व्याकरण से भी सिद्ध किया जा सकता है।४० इसी लेख में उन्होंने उसके संस्कृत-व्याकरण से भी सिद्ध किए जा सकने की द्विवेदी जी की उक्ति की चुटकी भी ली थी। द्विवेदीजी ने उस समय तो नहीं किन्तु 'कालिदास' के प्रकाशन के समय अनस्थिरता को हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत से सिद्ध करने की युक्ति भी दी। उनका तर्क था 'यदि अनस्थिरता संस्कृत भाषा का शब्द माना जाय, तो संस्कृतव्याकरण के अनुसार भी यह शुद्ध ही है। यथा—न विद्यते अस्थिरं यस्मात् तत् अनस्थिरं, तद्भाव अनस्थिरता अर्थात् जिससे बढ़कर अस्थिर वस्तु और कोई है ही नहीं उसे अनस्थिर कहना चाहिए। उसमें अत्यन्त अस्थिर का भाव सूचित होता है। ऐसे कई प्रयोग संस्कृत भाषा में पाये जाते हैं। देखिए—अमानीरमनुत्तमं

३९ वही पृ० १२७। ३८क वही पृ० ११०।
४० गु० नि० पृ० ४८०

हि सर्वं तथापि वास्सुतमा' यह एक प्रसिद्ध श्लोक का पहला चरण है। इसमें 'अनुतम' शब्द का अर्थ अत्यन्त उत्तम है। विद्यार्थियों ने अपनी अज्ञता के कारण इस शब्द को अशुद्ध बता कर व्यर्थ अपना और दूसरों का समय नष्ट किया था। म० प्र० द्विवेदी २१ १० १९२७ ' [५१]

जो हो उस समय हिन्दी व्याकरण से भी 'अनस्थिरता' को सिद्ध कर द्विवेदी पक्ष को लगा कि उनकी विजय हो गयी है, गुप्तजी को भी स्वीकार करना पड़ा कि गरीब आत्माराम मठों के दल में गिर गया।

किन्तु क्या यह विजय वास्तविक थी? 'अनस्थिरता' को अर्थ क्रम के सहारे हिन्दी या संस्कृत व्याकरण से सिद्ध कर क्या द्विवेदीजी अपने सम्मान की रक्षा के लिए अपने सिद्धान्तों की बलि नहीं चढ़ा रहे थे? द्विवेदीजी ने अपना लेख आखिर इसीलिए तो लिखा था कि लोग भाषा के व्याकरण विरुद्ध या कम युक्तियुक्त प्रयोगों को छोड़कर व्याकरण शुद्ध सर्वमान्य प्रयोग किया करें। अपने निबन्धमें स्थान-स्थान पर उन्होंने यह मत प्रकट किया था और निष्कर्ष के रूप में लिखा था 'हिन्दी को कामलायक अर्थात् कुछ काल के लिए स्थायी करने के लिए यह बहुत जरूरी बात है कि उसकी रचना व्याकरण विरुद्ध न हो उसमें सिर्फ ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो विशेष व्यापक हों अर्थात् जिन्हें अधिक प्रान्तों के आदमी समझ सकें ' [५२] प्रश्न है क्या इस सिद्धान्त के अनुसार वे 'अनस्थिरता' का परित्याग नहीं कर सकते थे। अनस्थिरता को यदि नितान्त व्याकरण विरुद्ध न भी माना जाय तो भी वह कम युक्तियुक्त है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। हिन्दी के पाठकों ने जब देखा होगा कि 'भाषा और व्याकरण' के लेखक आचार्य द्विवेदी यह कहते हुए भी कि 'हम वैयाकरण नहीं, और न किसी पठित या अपठित समाज में वैयाकरण कहलाने वाले की हमें आकांक्षा ही है। संभव है हम इसी नोट में कितने ही शब्द और वाक्य व्याकरण विरुद्ध लिख गये हों।" [५३] अपने एक ऐसे शब्द को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है जो विद्वानों द्वारा साधारणतः अशुद्ध माना जाता है तब उन्हें किस बात की प्रेरणा मिली होगी व्याकरण विरुद्ध और कम

---

५१ उपरिवत् पृ० ९८

५२ वही पृ० १०८

५३ वही पृ० ११०

युक्ति-युक्त प्रयोगों के परित्याग की अथवा अपने मनमाने प्रयोगों को किसी न किसी प्रकार व्याकरण शुद्ध सिद्ध करने की ! क्या निर्णय है आज का विवेचक उस आलोचना समर पर जिसके दोनों प्रतिपक्षियों ने दूसरे पर हावी होने के लिए अपने अपने सिद्धान्त त्याग दिये हों ?

२१ १० १९२७ को भी एक पाद टिप्पणी लिखकर द्विवेदीजी ने 'अनस्थिरता' को व्याकरण शुद्ध सिद्ध करना चाहा था किन्तु पं० किशोरीदास वाजपेयीका कहना है कि १९११ या १२ में जब उन्होंने आ० द्विवेदीसे 'अनस्थिरता' संबंधी विवाद की चर्चा छेड़ी थी तब उन्होंने जो कुछ कहा उसका सार यह है, "भैया गलती से यह 'अनस्थिरता' शब्द निकल गया था मैं उस समय भी उसे गलत समझता था और आज भी गलत समझ रहा हूँ"। गलत न सही प्रवाह प्राप्त तो वह है ही नहीं। प्रवाह ही भाषा में बड़ी चीज है। मैं तुरन्त स्वीकार कर लेता यदि उस तरह कोई पूछता—कहता। बात कुछ दूसरे ढंग से कही गयी। यह भी नहीं कहा गया कि 'अनस्थिरता' सही है या गलत बल्कि कहा यह गया कि द्विवेदीजी अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध करें। सो इस ललकार का जवाब मैंने दिया और अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध कर दिया[४४] वाजपेयी जी के अनुसार द्विवेदीजी ने यह भी कहा था कि हिन्दी का काम करने के लिए प्रभाव की जरूरत थी उस समय हम जाने से फिर मैं हिन्दी का काम उस रूप में न कर सकता जो नहीं रहा। यह मानना मुश्किल है कि अपनी बात को गलत मानते हुए भी उसे ठीक सिद्ध करने का प्रयास करने के कारण विचारकों की दृष्टि में द्विवेदीजी का प्रभाव बना रहा जब कि अपनी गलती मान लेने पर उनका प्रभाव नष्ट हो जाता और वे हिन्दी का कुछ काम न कर पाते। हाँ यह ठीक है कि गुप्तजी की आलोचना पद्धति ऐसी थी कि द्विवेदी जी जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति अपनी गलती को भी सही साबित करने के लिए उत्तेजित हो उठें।

किन्तु अनस्थिरता को ही उक्त विवाद की धुरी मान लेना उचित नहीं है। ऐसा मानने के कारण ही यह विवाद अन्य मूल विषय भाषा परिष्कार के सिद्धान्तों के विवेचन से परे हट गया था। अनस्थिरता' के घटाटोप में अधिकांश लोगों ने गुप्तजी के अन्य महत्त्वपूर्ण विचारों पर ध्यान ही नहीं दिया और जिन्होंने दिया वे भी गुप्तजी द्वारा बतायी गयी द्विवेदीजी

४४ वा. स्मा. ग्र पृ ४१०

के शब्दों वाक्यों और मुहावरों की त्रुटियों की व्याख्या करते पर जिन सिद्धान्तों के चलते गुप्तजी ने इन तथाकथित त्रुटियों को त्रुटियाँ माना था उनकी विवेचना से पराङ्मुख ही रहे ।

उधर द्विवेदी पक्ष के विचारकों ने गुप्तजी के लेखों में भी बहुत से ऐसे प्रयोग ढूंढ निकाले थे जो उनकी दृष्टि से संशोधन सापेक्ष थे। इन समस्त विभिन्न प्रयासों पर इस लेख में विचार करना संभव नहीं है अतः हम ऐसे प्रयोगों की अलग-अलग चर्चा न कर द्विवेदीजी और गुप्तजी के लेखों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना ही करेंगे।

हमारी समझ में गुप्तजी और द्विवेदी जी के भाषा सम्बन्धी विवाद में अन्त निहित मुख्य विचारणीय प्रश्न ये थे —

(१) व्याकरण और शिष्ट भाषा-प्रवाह में कौन अधिक महत्व-पूर्ण है ?

(२) संस्कृत हिन्दी और फारसी उर्दू की परम्पराओं का समन्वय कैसे किया जाये ?

(३) अच्छी भाषा का आदर्श क्या हो ?

(४) पुराने और बड़े लेखकों की भूलें निकालना कहाँ तक उचित है ?

(५) पुराने शब्दों का नये अर्थों में प्रयोग समीचीन है या नहीं ?

इन प्रश्नों का विचार करना आज भी उपयोगी है किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से कुछ प्रश्नों के उत्तर दो टूक नहीं दिये जा सकते न किसी एक विचारक के उत्तर अन्तिम माने जा सकते हैं। अतः विचार के साथ-साथ यह भी देखना होगा कि हिन्दी के लेखकों ने पिछले साठ वर्षों में व्यवहार के द्वारा इनकी मीमांसा किस प्रकार की है।

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी ने व्याकरण को और गुप्तजी ने शिष्ट भाषा-प्रवाह को ( या उनके शब्दों में बामुहावरा भाषा को ) अधिक महत्त्वपूर्ण माना था। इसका यह अर्थ नहीं है कि द्विवेदी जी शिष्ट भाषा प्रवाह की या गुप्तजी व्याकरण की उपेक्षा करते थे। दोनों ने अनेक स्थलों पर इन दोनों तत्वों की उपयोगिता स्वीकार की थी। द्विवेदी जी

की धारणा थी कि बहुत से लेखक अपनी त्रुटियों को भाषा प्रवाह या मुहावरे की ओट में छिपाकर हिन्दी में व्यर्थ प्रयोग भेद बढ़ा रहे हैं अतः भाषा की स्थिरता की रक्षा के लिए व्याकरण को उनका नियमन करना चाहिए। द्विवेदी जी के शब्दों में "इस तरह की सारी त्रुटियों को हम मुहाविरा नहीं समझते। यदि ये सब मुहाविरा समझी जायँगी तो मुहाविरा की परिभाषा के बाहर शायद एक भी त्रुटि न रह जाय। सभी उसमें आ जायँगी। हम मुहाविरा के खिलाफ नहीं। मुहाविरा ही भाषा का जीव है। पर उसकी सीमा का होना आवश्यक है।[४५] तथा "यह बात बहुत जरूरी है कि लिखित भाषा कथित भाषा की अपेक्षा अधिक समय तक स्थायी रहे। चिरकाल तक उसे स्थायी करने का एक मात्र साधन व्याकरण है।[४६] दूसरी तरफ गुप्तजी का मत था "लिखने की भाषा भी वही अच्छी समझी जाती है जो बोलचाल की भाषा हो अनपढ़न्त न हो। उसी को बामुहावरा भाषा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ बोलचाल है। अहलेजुबान और जुबानदान लोगों की बोलचाल बामुहावरा बोली की गिनती में है। उस बामुहावरा भाषा ही बहुत काल पीछे तक समझ में आती है। जो लेखक रोजमर्रह की भाषा नहीं लिख सकते वह कितनी ही व्याकरणदानी से काम लें उनकी भाषा उन्हीं तक रह जाती है।[४७] क्योंकि 'व्याकरण में शक्ति नहीं है जो भाषा के जोड़-तोड़ की इस प्रकार की भूलों को बता सके।[४८] "व्याकरण यह बता सकता है कि यह तीनों बोले जाते हैं इनको मिटा तो नहीं सकता।"[४९]

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी और गुप्तजी की दृष्टियों में मौलिक अन्तर कहाँ था एक लिखित भाषा को चिरस्थायी करने का एकमात्र साधन व्याकरण है यह मान कर मुहावरे की सीमा देखता था दूसरा बामुहावरा भाषा को ही बहुत काल पीछे तक समझ में आने योग्य मानकर व्याकरण की शक्तिहीनता की ओर संकेत करता था। हमारा विश्वास है कि इसी मुख्य दृष्टि भेद के कारण दोनों को एक ही भाषा के रूप भिन्न-भिन्न दिखने

४५ स. कि. पृ. ५४
४६ वही पृ. ५५
४७ गु. नि. पृ. ४४२-४३
४८ वही पृ. ४३३
४९ गु. नि. पृ. ४४४

थे। एक को राजा शिवप्रसाद की भाषा में च्युत पदों का समूल संहार और व्याकरण का उल्लंघन दिखता था तो दूसरे को अर्थसाधक और चुस्त भाषा प्रवाह एक गो॰ राधाचरण काशीनाथ खत्री की बहुत-सी अशुद्धियाँ दिखाकर उसका कारण व्याकरण के प्रति ध्यान न होना बताता था तो दूसरा उनमें से कुछ को नामुहावरा मानता था और कुछ के सम्बन्ध में कहता था कि पुराने मुहावरे के अनुसार वे ठीक हैं, अब मुहावरा बदल गया है। एक कथित भाषा और लिखित भाषा में अधिक अन्तर मानता था और कथित भाषा को स्वतंत्रता देकर भी लिखित भाषा में व्याकरण की सहायता से एकरूपता लाना चाहता था दूसरा शिष्टजनों की बोलचाल की और लिखने की भाषा में कोई अन्तर नहीं मानना चाहता और प्रयोग भेद की छूट देना चाहता था। एक की दृष्टि में स्थिरता और व्यापकता लिखित भाषा के बड़े गुण हैं तो दूसरे की दृष्टि में जीवन्तता और स्वाभाविकता।

सत्य दोनों की बातों में है और व्यावहारिक दृष्टि से मध्यम मार्ग अपनाना ही उचित है। फिर भी हमें लगता है कि व्याकरण का अनुल्लंघनीय शासन उन्हीं भाषाओं पर चल सकता है जो अब जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त नहीं होती जैसे संस्कृत प्राकृत ग्रीक लैटिन आदि। लोग व्याकरण के सहारे ही जन-साधारण द्वारा अप्रयुक्त भाषा को सीखते हैं और उसीके अनुसार उसका प्रयोग करते हैं। जीवित भाषाओं में ऐसा नहीं हो सकता। व्याकरण भी शिष्टजनों के प्रयोगों को ही दृष्टि में रख कर बनाया जाता है उनके प्रयोगों की भिन्नता और विभिन्नता के कारण ही उसके नियमों में अपवाद रखे जाते हैं। केवल व्याकरण के सहारे सीख कर लिखी जानेवाली भाषा अर्थबोध कराने में भले समर्थ हो जाये प्रयोगगत चारुता से कोसों दूर रहती है। इसीलिए वैयाकरण की तुलना में कवि की भाषा को श्रेष्ठ माना जाता है। यह भी समझना ठीक नहीं है कि व्याकरण और शिष्ट भाषा-प्रवाहमें सदा विरोध होता है। व्याकरण के नियमों का स्थूल अनुपालन होने के स्थान पर शिष्टों की भाषा में उनका सूक्ष्म अन्तर्भाव होता है जो साहित्यिक प्रयोगों की नीरोगता और सुन्दरता का हेतु है। अतः हम यह मानते हैं कि साहित्य-रचना के लिए शिष्ट भाषा प्रवाह का अनुशीलन अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अवश्य है कि प्रयोगगत भेदों में यथासंभव एकरूपता लाने की चेष्टा होनी चाहिए। परवर्ती लेखकों ने यथासंभव इसी मार्ग पर चलने की चेष्टा की है।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि खड़ी बोली साहित्य में पहले उर्दू कविता के रूप में ढली। उसे मांजने और निखारने में सौदा मीर और आतिश नासिख आतम गालिब और ज़ौक जैसे बड़े कवियों ने पर्याप्त श्रम किया। सूर और तुलसी बिहारी और देव घनआनन्द और पद्माकर ने भाषा परिष्कार के सम्बन्ध में जो कार्य किया था उसका पूरा लाभ खड़ी बोली के हिन्दी लेखकों को नहीं मिला। आधुनिक युग में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को हिन्दी साहित्य का वाहन चुनने के बाद हिन्दी लेखकों के समक्ष जो समस्या आयी वह यह थी कि संस्कृत-हिन्दी और फारसी-उर्दू की परम्पराओं का समन्वय कैसे किया जावे। संस्कृत-हिन्दी की परम्परा तो जीवनशील ही थी उधर फारसी-उर्दू परम्परा में मंजकर खड़ीबोली का जो परिष्कार हुआ था, उसका उपयोग करना और उसके सहारे अपने प्रयोगों को प्रशस्त करना नितान्त समीचीन था। खड़ी बोली हिन्दी के बहुत से आरम्भिक लेखक उर्दू से प्रभावित और उपकृत थे। किन्तु इन दोनों परम्पराओं के अतिरिक्त एक दूसरे से टकराते भी थे। द्विवेदी-गुप्त विचार में इन दोनों परम्पराओं की टकराहट स्पष्ट दीख पड़ती है। इस मूल सिद्धान्त पर दोनों एक मत थे कि हिन्दी के खड़ी बोली रूप का विकास मुख्यतः संस्कृत के तत्त्वावधान में उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। द्विवेदीजी के शब्दों में, "हिन्दीकी उत्पत्ति संस्कृत से है। इसलिए हमको यथासंभव संस्कृत व्याकरण की सहायता से उसे नियंत्रित करना चाहिए। हां यदि पूर्वोक्त प्रकार के मुहाविरों से लेखकों को बहुत ही प्रेम हो गया हो अथवा यदि उससे भाषा में विशेष सौन्दर्य आने की उन्हें आशा हो तो उन्हें वे रहने दें।"[५०] गुप्तजी का मत था "हिन्दी में संस्कृत के सरल सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिये इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती बंगाली, मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे किसी देश की भाषा उस समय तक काम का नहीं होगी, जब तक उस उसमें देश की मूल भाषा के शब्द बहुतायत के साथ शामिल नहीं होंगे।"[५१] इस पर भी दोनों एक मत थे कि उर्दू कवियों और लेखकों के उद्योग से खड़ी बोली का जो परिष्कार हुआ है। उसका यथासंभव उपयोग करना चाहिए। गुप्तजी तो उर्दू से हिन्दी में आये थे अतः उनकी भाषा और शैली पर उर्दू का जबरदस्त प्रभाव था ही द्विवेदीजी ने भी सरस्वती के लिये अन्य लेखकों की रचनाओं का

५० बा. रि. पृ. १०२
५१ गु. नि. पृ ४८०

संशोधन करते समय तथा अपने लेखों में भी अरबी फारसी शब्दों और उर्दू शैली का इतना प्रयोग किया था कि उससे अनेक लेखक और पाठक असन्तुष्ट हो गये थे श्री कामता प्रसाद गुरु ने उन्हें पत्र लिखकर अपना असन्तोष व्यक्त किया था।[१] इस पर भी दोनों सहमत थे कि 'उर्दू के दोष नकल करना मुनासिब नहीं' गुप्तजी ने एक क्षेत्र में तो द्विवेदी जी के भी आगे जाकर उर्दू के एक भयंकर दोष को हिन्दी में चलाने का विधान करने के लिए काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का घनघोर विरोध किया था। जब सभा ने निश्चय किया था कि उर्दू शब्दों के शुद्ध उच्चारण के लिए नागरी लिपि में भी यथास्थान नुक्ता लगाना चाहिये तब गुप्तजी ने हिन्दी में किन्हीं लेख लिखकर उनका प्रभावशाली विरोध किया था। उर्दू के मर्मज्ञ होने के बावजूद गुप्तजी अपने लेखों में आनेवाले अरबी फारसी के शब्दों में नुक्ता नहीं लगाया करते थे। जब कि द्विवेदीजी अपने लेखों में सभा के इस अनुचित निर्णय के पालन की चेष्टा करते थे। फिर भी दोनों के भाषा सम्बन्धी संस्कारों में जो अन्तर था वह इन दोनों परम्पराओं के अन्तर से प्रभावित था और इस विवाद में वह स्पष्ट उभर आया। पहली हलकी टकराहट हुई जब तब और जो तो के प्रयोग को लेकर। द्विवेदीजी का आग्रह था कि समय सूचक जब के साथ तब का और शर्त बताने वाले यदि के साथ तो का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ जब का प्रयोग शर्त के लिए करना हो वहाँ जो का प्रयोग करने का सुझाव भी उन्होंने दिया था जब के साथ तो और जो के साथ तब लाने का उन्होंने विरोध किया था और इस सन्दर्भ में गालिब का एक शेर पद्य रूप में उपस्थित कर जब के साथ तो लाने को अनुचित कहा था। गुप्तजी का कहना था कि उर्दू वाले पहले जब तब और जो तो चारों को शर्त में लाते हैं, दो को पहले उर्दू वाले समय और शर्त दोनों में लाते थे अब कम लाते हैं जब के मुकाबिल में 'तो' भी नहीं लाते उसे गायब ही कर देते हैं। अपनी पसन्द उन्होंने तब और तो को गायब करने की ही बतायी।

दूसरी टकराहट हुई लगनी लगाना चाहिये' 'पिता कैसा होगी' और 'जड़ी बूटियाँ इकट्ठी करते थे जैसे प्रयोग वैषम्य को लेकर। एक ही वाक्य में कहीं क्रिया कर्ता के अनुकूल हो कहीं कर्म के कहीं क्रिया का पहला दूसरा

---

१२ म. प्र. द्वि. और उनका युग पृ० २५०-५१

इसीलिए हो कहीं दूसरा यह अव्यवस्था द्विवेदी जी को अखरी थी और अपनी तरफ से कोई सुझाव न देते हुए इस पर विचार कर एकरूपता लाने की सिफारिश उन्होंने की थी। इस पर गुप्तजी ने विस्तार पूर्वक दिल्ली और लखनऊ की बोलचाल के अन्तर के कारण उत्तम उर्दू के दो सम्प्रदायों की चर्चा की और कहा दिल्ली वाले लिखते हैं (१) मेहदी उठानी चाहिये। (२) किताब लेनी चाहिये (३) जड़ी बूटियाँ इकट्ठी करते थे। जब कि लखनऊ वाले लिखा करते हैं (१) मेहदी उठाना चाहिये। (२) किताब लेना होगी। (३) जड़ी बूटियाँ इकट्ठा करते थे। हिन्दी में भी इन दोनों प्रकार के प्रयोगों को शुद्ध मानने का आग्रह गुप्तजी ने किया क्योंकि ये दोनों नगर भाषा के मरकज़ हैं और वहाँ के लोग ऐसा ही बोलते हैं। इसके लिए व्याकरण की किसी दलील की ज़रूरत उन्होंने नहीं समझी। इस पर द्विवेदीजी ने व्यंग्य कसा, "हिन्दी में बहुरूपियापन पैदा करने के लिए देहली और लखनऊ के मुहावरों की बोली की नकल अवश्य अपना काम करेगी और थोड़े ही समय में जितने मुँह उतनी ही बोलियाँ हो जायेंगी।... हिन्दी में जो सजीवता है वह उसे संस्कृत और प्राकृत से मिली है अरबी फारसी से नहीं। पर जिस हिन्दी के टुकड़े लाकर उर्दू निर्मित है उसी हिन्दी को अब उर्दू के द्वार पर भीख माँगने—उसके शब्दों को लेकर की नकल करने देहली-आगरे जाना होगा। "[५३]

तीसरी टकराहट हुई वह, यह के एकवचन और बहुवचन दोनों में प्रयुक्त किये जाने को लेकर। द्विवेदी जी का मत था यह यह का प्रयोग एकवचन में और वे वे का प्रयोग बहुवचन में होना चाहिए गुप्तजी ने बड़े आवेश के साथ वे को गँवारी बताया और कहा कि वो और ये बहुवचन में चले नहीं। उनके अनुसार "व्याकरणोंमें साफ लिखा है कि 'यह' एकवचन और बहुवचन दोनों है और वे गँवारू ही हैं।"[५४] उन व्याकरणों के नाम उन्होंने नहीं बताये किन्तु निश्चय ही वे उर्दू व्याकरण ही होंगे।

हमारी समझ में इन तीनों प्रसंगों में गुप्तजी उर्दू का जो परम्पराएँ हिन्दी में प्रचलित करना चाहते थे वे हिन्दी की परम्पराओं के विरुद्ध थीं। पहले प्रसंग

५३ भा० मि० पृ० ४४७-४५

५४ गु० नि० पृ० ४६१

में यदि जब और जो के बाद उचित रूप से तब और तो का प्रयोग न किया जाये तो कोई हानि नहीं अन्यथा जब के साथ तब का और जो के साथ सो का प्रयोग ही प्रशस्त है।

उर्दू में दिल्ली और लखनऊके प्रयोगोंको प्रामाणिक माना जाता है, अच्छी बात माना जाये किन्तु वही परम्परा हिन्दी में क्यों चले ? हिन्दी में कलकत्ता पटना काशी और इलाहाबाद साहित्य के गढ़ रहे हैं तो क्या उनके प्रान्तीय प्रयोगों को भी अलग-अलग प्रामाणिक माना जाये फिर जबलपुर, जयपुर, आदि नगरों के साहित्यकार अपनी परम्परा का आग्रह क्यों न करें ? हिन्दी के व्याकरण के सर्वमान्य नियम हैं कि कर्तृ वाच्य में कर्ता के लिंग और वचन के अनुसार क्रिया के लिंग वचन होते हैं और कर्मवाच्य में कर्म के लिंग वचन के अनुसार। इन्हीं के अनुसार (१) लेखनी उठानी चाहिये। (२) शिक्षा लेनी चाहिये (३) बड़ी त्रुटियाँ इकट्ठी करती थे। जैसे प्रयोग उचित माने जायेंगे केवल दिल्ली की बोलचाल की सनद के कारण नहीं। अन्यथा लखनऊ, काशी इलाहाबाद कलकत्ता पटना आदि नगरों के प्रान्तीय भेदों को भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा और इससे भाषा में सचमुच बहुरूपियापन आ जायेगा। मुहावरा या भाषा प्रवाह की ओट लेकर इन विभेदों को बढ़ाना उचित नहीं माना जा सकता, विशेष कर जब हिन्दी राष्ट्र भाषा हो गयी हो।

उर्दू में भले ही वह यह का एकवचन और बहुवचन दोनों में प्रयोग होता हो किन्तु हिन्दी में आरम्भ से ही वह और यह एकवचन में तथा वे और ये बहु वचन में प्रयुक्त होते रहे हैं। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी के पुराने कवियों के अनेक उद्धरण देकर इस बात को सिद्ध कर दिया है।[१५] हिन्दी में एकवचन में यह वह का और बहुवचन में ये वे का प्रयोग ही शुद्ध माना जाना चाहिए।

हिन्दी के लेखकों ने पिछले साठ वर्षों में मुख्यतः हिन्दी परम्पराओं को ही आगे बढ़ाया है। उत्तरोत्तर उर्दू की ओर देखने की प्रवृत्ति कम हुई है। उर्दू के मुहावरों को हिन्दी में अपनाने का प्रयास करने वाले लेखकों की संख्या नगण्य है। यह हिन्दी की शक्ति और स्वतंत्र साहित्यिक चेतना का प्रमाण माना जाना चाहिए।

---

१५ श्री गो०नि० पृ०—आत्माराम की टें टें ३५ ३८

हिन्दी में प्रचलित दूसरी भाषा के शब्दों में भी संस्कृत व्याकरण के अनुसार पर-सवर्ण णत्व और षत्व का विधान करना अनुचित है। इस बारे में द्विवेदीजी और गुप्तजी दोनों सहमत हैं।[८६] दोनों का मत है कि पोस्टमास्टर की जगह पोष्टमाष्टर और गवर्नमेन्ट की जगह गवर्मेण्ट लिखना ठीक नहीं है। द्विवेदी जी अन्जुमन की जगह अञ्जुमन लिखना भी अनुचित मानते हैं। द्विवेदीजी और गुप्तजी के मतभेदों को इतना उछाला गया है कि दोनों का बहुत से विषयों पर मतैक्य था यह तथ्य दब गया है। हमारी धारणा है कि दोनों विद्वानों के मतों में भिन्नता से समानता कहीं अधिक थी। वस्तुगत दृष्टि से विचारने पर सहजता से यह तथ्य प्रमाणित किया जा सकता है।

तीसरा प्रश्न गुप्तजी द्वारा द्विवेदी जी की भाषा पर लगाये गये आरोपों से जुड़ा। गुप्तजी का मत था "द्विवेदीजी तरजमे से भाषा तैयार करते हैं उसमें फसाहत कहाँ ? सलासत कहाँ ?"[८७] क्योंकि "लिखने की भाषा भी वही अच्छी समझी जाती है जो बोलचाल की भाषा हो मनघड़न्त न हो। शिक्षित लोगों की बोलचाल लिखी जाने पर बहुत काल तक ठहरती है और समझ में आती है। वह खूब रसीली और चुस्त होती है, मुर्दा और बेदम नहीं होती।"[८८] द्विवेदीजी की भाषा में जहाँ संस्कृत के कुछ कठिन शब्द आये हैं वहाँ गुप्तजी को क्लिष्टता की शिकायत हुई है।[८९] ऊपर लिखा जा चुका है कि १.१२.१८९९ के अपने पत्र में गुप्तजी ने द्विवेदीजी से सरल भाषा लिखने का अनुरोध किया था। किन्तु कठिन संस्कृत शब्दों के साथ ही जहाँ द्विवेदी जी की शैली भी गंभीर हो जाती थी वहाँ गुप्तजी की शिकायत और बढ़ जाती थी। उदाहरण के लिए द्विवेदीजी के एक वाक्य पर गुप्तजी की प्रतिक्रिया देखिये। "आप व्याकरण शास्त्र का लक्षण बताते हैं—'व्याकरण वह शास्त्र है जिसमें शब्दों और वाक्यों के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार बोधित अर्थ के जानने के नियम होते हैं।' क्या मुकम्मल इबारत है! मजाल है कोई जरा अर्थ समझ जाय।"[९०] एक बात को कई बार दोहराने और संक्षेप में कही जा सकने वाली बात को बहुत विस्तार से कहने का आरोप भी उन्होंने द्विवेदी

---

८६ बा० मि० प० १०७ गु० नि० पृ० ४५५

८७ गु. नि. पृ ४३६

८८ वही पृ ४४२-४३

८९ वही पृ. ४५४

९० वही पृ ४३७-३८

जी पर कई बार लगाया था। इन आरोपों से यह बात अपने आप झलकती है कि गुप्तजी सरल स्वाभाविक स्वच्छ, चुस्त चुटीली गठीली भाषा को अच्छी भाषा समझते थे। निश्चय ही ऐसी भाषा अच्छी कही जायेगी किन्तु गंभीर, उदात्त अलंकृत भाषा भी अच्छी हो सकती है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि गुप्तजी के आरोपों में सत्यांश है। यह सच है कि द्विवेदीजी की भाषा में प्रवाह कम है। अंग्रेजी संस्कृत मराठी बंगला उर्दू आदि भाषाओं से अनुवाद उन्होंने बहुत अधिक किया था और स्वभावतः उनकी भाषा स्वच्छन्द न होकर बंधी-बंधी सी लगती है। उसमें कई स्थानों पर शिथिलता भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु वह कठिन या जटिल कहीं-नहीं ही हुई थी साधारणतः उन्होंने प्रसाद गुण का ध्यान जरूरत से ज्यादा रखा था। उनकी अनपेक्षित विस्तारयुक्त व्यास शैली इसी इच्छा का परिणाम है कि लोग उनकी बात को ठीक-ठीक समझ जायें। आचार्य शुक्ल ने भी उनकी व्यास शैली पर चुटकी लेते हुए कहा था "द्विवेदी जी के लेखों से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेरफेर—कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच छः तरह से पाँच छः वाक्यों में कही हुई मिलती है।"[११] किन्तु फिर भी यह सच है कि द्विवेदीजी की व्याकरण शुद्ध भाषा को देखकर उस समय के बहुत से लेखकों ने शुद्ध हिन्दी लिखनी सीखी। सरस्वती के सम्पादन काल में द्विवेदी जीने अनेकों लेखकों की व्याकरण विरुद्ध भाषा का संशोधन कर ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया है। वस्तुतः द्विवेदीजी हिन्दी भाषा के समर्थ शास्ता थे और गुप्तजी कुशल प्रयोक्ता।

चौथे प्रश्न के सम्बन्ध में गुप्तजी का मत था "पुराने लेखक इस समय के लोगों के पथ प्रदर्शक और पायोनियर थे। उनकी मेहनत की तरफ ध्यान करना चाहिये। वह पथपरिष्कार न करते तो इस समय के लोग चलते किधर से। ११ अतः उनकी भूलें निकालना नितान्त अनुचित है। विशेष कर बाबू हरिश्चन्द्र का भूल निकालने के कारण द्विवेदीजी पर वे बहुत रुष्ट हुए थे। द्विवेदीजी का सिद्धान्त यह था कि पुराने लेखकों के प्रतिपूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी भाषा के विकास के लिए उनकी त्रुटियों की परीक्षा

---

११ हि सा का इति पृ ५०९

१२ गु नि पृ ४६७

करना न अन्याय है न अपराध हमेशा से ऐसा होता आया है और आगे भी ऐसा होगा तभी भाषा और साहित्य का समुचित कल्याण हो सकेगा।[६३] गुप्तजी की श्रद्धा भावना का समादर करते हुए भी हम समझते हैं कि द्विवेदीजी का मत ही अनुकरणीय है। प्राचीनों के प्रति सम्मान भाव रखकर उनकी त्रुटियों से बचने के लिए उन पर विचार करने में कोई दोष नहीं है। हमारे पूर्वज भी इसी मत के थे। 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' 'दोषावाच्या गुरोरपि' जैसे वाक्य उन्हीं की विरासत हैं। सर्वत्र जय की इच्छा रखते हुए भी पुत्र और शिष्य से पराजय की कामना करना गुरुओं के दोष भी विचारणीय हैं कहना न केवल उनकी विशाल हृदयता का परिचायक है बल्कि इस सत्यता भी कि वे जानते थे कि इसी प्रकार संस्कृति का रथ आगे बढ़ सकता है। हाँ मिथ्या अभिमान और गुरुजनों के अपमान की भावना से किये गये ऐसे प्रयास निन्द्य हैं। किन्तु द्विवेदीजी पर ऐसा आरोप लगाना सत्य का अपलाप करना होगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'समाचारपत्रों का इतिहास' लिखते समय स्वयं गुप्तजी ने 'भारतमित्र' में प्रकाशित भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के एक विज्ञापन की इस प्रकार की आलोचना की थी "इस विज्ञापन के आरंभ की भाषा बहुत ढीली है इसमें कई शब्द भर्ती के हैं और उसके अन्तिम वाक्य से वह अर्थ नहीं निकलता जो निकलना चाहिए।"[६४] इसी के आगे 'भारतमित्र' में प्रकाशित बाबू हरिश्चन्द्र की खड़ी बोली की एक कविता की भी आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था 'लिखने की चेष्टा की है, पर ठीक हो नहीं सका। 'फिरती है' की जगह 'फिरें' लिखा है। पद का पलड़ा लिखना पड़ा है तथा अच्छा है। इस प्रकार की बहुत सी कठिनाइयाँ वर्तमान हिन्दी में कविता करने वालों को पड़ती हैं और पड़ेंगी'[६५] क्या अब भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आलोचना करने के लिए द्विवेदीजी दोषी ठहराये जा सकते हैं?

पाँचवें प्रश्न के सम्बन्ध में दोनों विद्वानों के विचार मिलते जुलते होकर भी कहीं कहीं एक दूसरे के विरुद्ध चले जाते थे। हिन्दी के शब्द भण्डार के सम्बन्ध में सिद्धान्ततः दोनों का मत एक ही है। दोनों मानते हैं कि हिन्दी

६३ बा वि पृ १५४ ५५ १५८-५९
६४ गु नि पृ ४०३
६५ गु नि पृ ४०४

में संस्कृत के सरल शब्द और ऐसे विदेशी शब्द जिन्हें सब लोग समझते हैं प्रयुक्त होने चाहिये। विदेशी भावों और मुहावरों का अनुवाद हिन्दी की प्रकृति के अनुसार होना चाहिए यह भी दोनों को मान्य है द्विवेदीजी का आग्रह है कि ऐसे शब्द जिनका संस्कृत में कुछ अर्थ है पर हिन्दी में अब वे दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं त्याज्य होने चाहिए। उन्होंने शामिल निर्भर आन्दोलन और कटिबद्ध आदि शब्दों को इसी कोटि में रखा था। गुप्तजी शामिल के त्याग से सहमत होकर भी अन्य शब्दों को उचित मानते थे और भिन्न भाषाओं में जाकर मूल भाषा के शब्दों के अर्थ परिवर्तन के अनेक उदाहरण देकर सिद्ध करना चाहते थे कि इसमें सिद्धान्ततः कोई दोष नहीं है।

इन कुछ शब्द तो बंगला से आये थे और कुछ अंग्रेजी शब्दों के लिये गढ़े गये थे। निर्भर आन्दोलन और कटिबद्ध अपने नये अर्थों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए पिछले साठ वर्षों में इनका प्रयोग इतना बढ़ा है कि अब उनकी खटक निकल गयी है। अतः मानना पड़ेगा कि समय का निर्णय गुप्तजी के अनुकूल हुआ है। किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि द्विवेदीजी पर चोट करने का अवसर पाने पर गुप्तजी अपना यह सिद्धान्त भूल जाते थे। द्विवेदीजी का वाक्यांश था इससे समाज की बड़ी हानि होगी। इस पर गुप्तजी की छींटाकशी देखिए "किस समाज की हानि होगी ? आर्य समाज की ? या ब्रह्म समाज की ? यह समाज भी आपके अंगरेजी तरजमे की शरारत है। इसका अर्थ इस समय तो समझ में नहीं आता तो अर्थवाद आने लगे तो दूसरी बात है।" ११ यह बिलकुल सीना जोरी है। सोसाइटी के अर्थ में समाज का प्रयोग यहां बिलकुल समीचीन है और निर्भर या आन्दोलन की तुलना में अपने मूल अर्थ के बहुत निकट है।

वस्तुतः ये दोनों विद्वान एक ही उद्देश्य से चालित होकर एक ही क्षेत्र में एक ही व्रत के व्रती होकर कार्य कर रहे थे। दोनों में आंतरिक सौहार्द था यह दुर्भाग्य की बात है कि साधारण सी बात को लेकर दोनों में मनमुटाव हो गया जिसके चलते एक साहित्यिक विवाद में अनावश्यक कटुता आ गयी किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विवाद के फलस्वरूप हिन्दी

११ गु० नि० पृ० ४५८

जगत् में जो आलोड़न और विचार-विमर्श हुआ उससे भाषापरिष्कार का कार्य बहुत आगे बढ़ा। इसका ऐतिहासिक महत्त्व है और इसे बिल्कुल कहकर उड़ा देने की चेष्टा अनुचित है।

अपने लेख का उपसंहार करने के पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि इस विषय से सम्बद्ध हिन्दी के कुछ शोध ग्रंथों में इस ऐतिहासिक विवाद का कैसा मूल्यांकन किया गया है इसके कुछ नमूने पेश करें। डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र के शोध प्रबंध "हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषासम्बन्धी विचारों की चर्चा के अन्तर्गत कहा गया है, 'भाषा और व्याकरण नामक निबन्ध ऐसे ही वाद विवाद के सिलसिले में लिखा गया है इसमें बालमुकुन्द गुप्त के प्रतिवादों का तर्क युक्त खण्डन है। अनस्थिरता' शब्द पर भी पर्याप्त वाद-विवाद रहा।' कुल जमा दो पंक्तियाँ और वे भी कितनी सारपूर्ण। स्पष्ट है कि इन पंक्तियों को लिखते समय तक विद्वान शोधकर्त्ता ने भाषा और व्याकरण' तथा 'भाषाकी अनस्थिरता' दोनों में से एक भी निबन्ध नहीं पढ़ा था। आलोचक बालमुकुन्दगुप्त पर इस पुस्तक में इन दो पंक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा गया है। कैसा ठोस वाक्यार्थ है डॉ० मिश्रका।

डॉ० उदयभानु सिंह के शोध प्रबंध "महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' के तीसरे अध्याय में 'अनस्थिरता का विवादवाद' उपशीर्षक देकर एक पृष्ठ से भी कम में इसका इतिवृत्तात्मक विवरण देने का प्रयास किया गया है। डा० सिंह के वर्णन से ज्ञात होता है कि 'भाषा और व्याकरण लेख में अपने प्रयोग को अशुद्ध बताये जाने से क्षुब्ध होकर बालमुकुन्द गुप्त ने भाषा की अनस्थिरता लेख माला प्रकाशित की थी जिसका मुँहतोड़ उत्तर गोविन्द नारायण मिश्र ने दे दिया। इसपर बालमुकुन्दगुप्त ने 'हम पंचन के ढ्यालामों अस लिखकर द्विवेदीजी की बोली ठेलवाही का उपहास किया। जिसका उत्तर, पुष्प द्विवेदी जी ने 'सरगो नरक ठिकाना नाहिं' शीर्षक आल्हे में दिया जिसमें गुप्तजी तिलमिला गये। फरवरी १९०६ ई० में द्विवेदीजी ने भाषा और व्याकरण' लेख लिख कर गुप्तजी की उक्तियों का विस्तृत खण्डन किया। भारतमित्र और सरस्वती का यह झगड़ा बरसों चला। उस बार विवाद में साहित्य के विभिन्न विद्वानों ने दिलचस्पी दिखलाया। विवाद के

८३ हि० आ० उ० वि० पृ० २६१

उपरान्त गुप्तजी ने द्विवेदीजी के चरणों पर सिर रख दिया और द्विवेदीजीने उन्हें हृदय से लगा लिया ।[१८] इस संक्षिप्त और सदोष विवरण से लगता है कि जैसे द्विवेदीजी ने अनायास ही गुप्तजी को परास्त कर दिया हो जब कि वास्तविकता यह थी कि गुप्तजी के प्रहारों से द्विवेदीजी विचलित हो गये थे और तत्कालीन अधिकांश विद्वानों को उनका पक्ष दुर्बल प्रतीत हुआ था। अनस्थिरता के प्रयोगमत औचित्य अनौचित्य के बारे में विद्वान् लेखक ने न यहाँ कुछ कहा है न 'भाषा और भाषा सुधार' सम्बन्धी अध्याय में। द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक मूल लेख में गुप्तजी का नाम लेकर कोई दोष नहीं दिखाया था। इस लेख में उन्होंने अवश्य कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिखी थीं जिनसे ज्ञात होता है कि पहले लेख में बिना नाम दिये भारतमित्र से कुछ उद्धरण देकर उनके दोष दिखाये गये थे किन्तु यह नहीं स्पष्ट होता कि वे उद्धरण गुप्तजी के ही थे। डा० सिंह ने जिस निश्चय के साथ बालमुकुन्दगुप्त के भी दोष दिखाए' लिखा है उसमें उसका आधार जानने की इच्छा होती है। जहाँ तक हम जानते हैं 'बालमुकुन्द गुप्त ने 'हम पंचन के ट्वाला मां' शीर्षक कोई लेख नहीं लिखा था। हाँ 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक पहले लेख में ही एक वाक्य में इसका प्रयोग अवश्य किया था "वही जिनको रजनाथा की पढ़ कर 'हम पञ्चन के ट्वाला मां" बोलने वाले हिन्दी बोलने को चोंच खोलने लगे हैं।"[१९] यह कहना भी ठीक नहीं है कि गुप्तजी वस्तु अन्द्रदत्त का आल्हा पढ़ कर तिलमिला गये थे यद्यपि उसको अपने लेख में गंभीरता से लिया नहीं था किन्तु उस पर फबती कसी थी। उसके जवाब में गुप्तजी ने भी व्यंग्य कविताएँ लिखी थीं 'पुजो का हाल' और 'व्याकरणाचार्य'। भारतमित्र और सरस्वती का यह झगड़ा लम्बों नहीं चला था गुप्तजी ने भाषा की अनस्थिरता का पहला लेख सम्भवतः दिसम्बर १९०५ के प्रथम सप्ताह में और उस लेखमाला का अन्तिम लेख ३ फरवरी १९०६ को लिखा था उसके बाद दो या तीन महीने और शोर भाव चली थी। १९०६ के अक्टूबर में यह द्विवेदी-गुप्त मिलन हुआ था जिसकी चर्चा डा० सिंह ने इस प्रकार की है जैसे गुप्तजी ने अपनी आलोचनाओं के लिए क्षमायाचना की हो। वस्तुतः गुप्तजी अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण ब्राह्मणों को पूज्य समझते थे और उनका चरण स्पर्श कर प्रणाम

---

१८ म० द्वि० और उ० यु० पृ० ६६, ६७ का सारांश

१९ गु० नि० पृ० ४३४

करते थे। द्विवेदीजी से विवाद के बाद भी वे इसी प्रकार मिले। पं० बनारसीदास पाठक ने द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में इसको ऐसा रंग दे दिया है जिससे लगता है कि गुप्तजीने अपनी आलोचनाओं के लिए क्षमायाचना की हो। १९५८ वस्तुतः गुप्तजी ने अपनी आलोचना कभी वापस नहीं ली थी और न अन्त तक अनस्थिरता को द्विवेदीजी की त्रुटि और हठधर्मी मानते रहे।

डा० सिंह ने भाषा और भाषा सुधार' में 'भाषा और व्याकरण' में गुप्तजी आदि पर तीव्र आक्षेप करने वाला एक उद्धरण अवश्य दिया है किन्तु गुप्तजी द्वारा संकेतित द्विवेदीजी की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों की चर्चा तक नहीं की है जब कि उचित तो यह था कि वे उनकी मीमांसा करते।

उन्होंने अपने शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय युग और व्यक्तित्व' में 'पत्र पत्रिकाएं' उपशीर्षक के अन्तर्गत लिखा है "द्विवेदी युग के पूर्व उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में केवल दो ही दैनिक पत्र निकल सके थे सुधावर्षण (१८५४ ई०) और भारतमित्र (१८९० ई०) दोनों ही अकाल कालकवलित हो गए। १९११ ई० में दिल्ली दरबार के अवसर पर भारतमित्र दैनिक रूप में पुनः प्रकाशित हुआ किन्तु जनवरी १९१२ ई० में बन्द हो गया। मार्च १९१२ ई० से दैनिक रूप में वह फिर निकला और २१ वर्ष तक चलता रहा। सुधावर्षण के बारे में तो हम जानते नहीं किन्तु भारतमित्र का प्रकाशन १७ मई सन् १८७८ ई० को हुआ था १८९० ई० में नहीं। उस समय न वह दैनिक पत्र था न ही अकाल कालकवलित हुआ था। अपने प्रकाशन के समय वह पाक्षिक था अगली दसवीं संख्या से वह साप्ताहिक हो गया और १८९७ ई० तक साप्ताहिक ही रहा। १८९३ से १८९९ तक वह दैनिक भी हुआ पर इस बीच में उसका दैनिक संस्करण दो बार बन्द हुआ साप्ताहिक संस्करण पूर्ववत् चलता रहा। गुप्तजी के जीवन काल तक वह साप्ताहिक ही रहा। द्विवेदी युग की चर्चा करते समय पत्रकार निबन्धकार एवं आलोचक के रूपमें कहीं-कहीं गुप्तजी का नाम भर दे दिया गया है। उनकी देन का मूल्यांकन नहीं किया गया है। इस प्रामाणिक उल्लेखों और महत्त्वपूर्ण अनुल्लेखों को किए क्या कहा जाय।

डा० उदयभानु सिंह के शोधप्रबंध पत्रकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त जीवन और

१९३ द्वि० प्र० प्र० पृ० ४३० ३२
७० म० प्र० द्वि० उ० मु० प० २०१

साहित्य में स्वभावतः इस प्रसंग पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। हम उसकी केवल दो-तीन बातों की चर्चा करेंगे। उन्होंने लिखा है "गुप्तजी ने 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक से दस लेख भारतमित्र ( सन् १९०६ ई० में लिखे। [1] इससे लगता है जैसे ये दसों लेख १९०६ में ही लिखे गये थे। किन्तु यह लेखमाला संभवतः दिसम्बर १९०५ के पहले सप्ताह से निकलने लगी थी क्योंकि ९ फरवरी १९०६ को उसका दसवां लेख निकला था यह पं० गोविन्दनारायण मिश्र के वक्तव्यानुसार है।

'अथ शब्दानुशासनम्' के ऊपर गुलेरीजी की टीका उद्धृत करने के बाद डा० सिंह ने टिप्पणी जड़ी है 'गुलेरी जी के तर्क के आधार पर अनस्थिरता का अर्थ लिया जाय तो पीछे स्थिरता होता है। जो द्विवेदीजी द्वारा अभिमत अर्थ में प्रयुक्त नहीं होगा। [2] समझ में नहीं आता कि इस टिप्पणी पर रोया जाय कि हँसा जाय। एक तो इससे यह स्पष्ट होता है कि डा० सिंह गुलेरीजी का व्यंग्य नहीं पहचान पाये हैं। गुलेरीजी नहीं मानते कि 'शब्दानुशासनम्' के अनु का अर्थ पीछे है। इसीलिए वे कहते हैं कि यदि यहाँ अनु होने से ही द्विवेदीजी ने यह अर्थ निकाला है कि पाणिनि ने अपने समय तक के शब्दों का ही अनुशासन किया था तो अनुष्ठान का अर्थ पीछे खड़ा होना, अनुमान का पीछे नापना अनुसार का पीछे रेंगना और अनुरोध का पीछे रोकना होना चाहिए, जो वस्तुतः नहीं है। गुलेरीजी के व्यंग्य को डा० सिंह ने अभिधा में ले लिया। खैर यह भी कोई ऐसी बात नहीं किन्तु उसके बाद जो उन्होंने उसके अनुसार अनस्थिरता का अर्थ पीछे स्थिरता किया है, वह सचमुच विस्मय है। भला अनस्थिरता के 'अन' का इस 'अनु' से क्या सम्बन्ध ?

द्विवेदीजी के इस कथन पर कि भट्टा शास्त्री विद्यावागीशजी ने अनस्थिरता को संस्कृत में शुद्ध मान लिया था, शंका करते हुए डा० सिंह लिखते हैं, "पर द्विवेदीजी की उक्त बात को प्रामाणिक मानने में आपत्ति यह है कि उन्होंने वह विधि नहीं बताई जिसके द्वारा विद्यावागीशजी ने अनस्थिरता शब्द को शुद्ध मान लिया था। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत गुप्तजी तथा उनके समर्थकों ने सबल तर्क और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इस शब्द को अशुद्ध

01 गु० ग्र० गु० पी० सा० पृ २०१
02 वही पृ० १०९
03 वही पृ० १८०

प्रमाणित कर दिया था।[74] बहुत ठीक शंका है। डॉ० सिंह ने द्विवेदीजी के उद्धरण का सन्दर्भ यहाँ 'सरस्वती भाग ७ संख्या २ पृ० ७३-७४ दिया है किन्तु उन्हीं की पुस्तक के पृ० १०६ की पादटिप्पणी से ज्ञात होता है कि उस पृष्ठ के दोनों उद्धरण 'वाग्विलास' से लिये गए हैं। हमारी प्रार्थना है कि इसी वाग्विलास के पृ० ८४ की पादटिप्पणी को देखने का यदि वे कष्ट उठावें तो उन्हें वह विधि मिल जायगी। हमारा विचार है कि उन्हें यह टिप्पणी स्वयं देख लेनी चाहिए थी। अब क्या वे कृपा कर बतायेंगे कि गुप्तजी ने (उनके समर्थकों की बात हम नहीं जानते) कहाँ सबल तर्क और पुष्ट-प्रमाणों के द्वारा अनस्थिरता को अशुद्ध प्रमाणित कर दिया था? जहाँ तक हम जानते हैं गुप्तजी ने बार-बार द्विवेदीजी को चुनौती भर दी थी कि अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध कर दीजिये।

डॉ० सिंह ने गुप्तजी की भाषा की भूलें निकालकर अपनी विचक्षणता का परिचय दिया है उसके भी एक दो उदाहरण देख लिये जायें। डॉ० सिंह लिखते हैं 'गुप्तजी ने 'म' के स्थान पर 'ध' 'थ' की जगह 'प' 'ट' के स्थान पर 'ठ' और 'ढ' के स्थान पर 'अ' का प्रयोग भी किया है। उदाहरणार्थ विकाश ईस्ट इण्डिया मट्ठियों (यह छापेकी भूल भी हो सकती है) 'फुटपाथ आदि।'[75] क्या बारीक भूलें निकाली हैं डॉ० साहब ने। प्रार्थना है कि विकाश और विकास दोनों शब्द शुद्ध हैं। ईस्ट इण्डिया के सम्बन्ध में आप गुप्तजी का निवेदन ही सुनें "संस्कृत भाषा के अनुसार दूसरी भाषा के शब्दों में 'पञ्च' 'एरब' लगाना बुरा मालूम होता है। 'पोस्ट मास्टर' की जगह पर 'पोस्ट मास्टर' और 'गवर्नमेंट' की जगह 'गवर्नमेंट' लिखने से जी तो बहुत खराब होता है पर कहीं-कहीं शब्द उसी ढंग के बने हुए हैं। इसमें लिखने को चाहे जो लिखो कम्पोजीटर शब्द के अनुसार कर लेता है। बंगाल में यह दोष विशेष है भारतमित्र भी इससे बचा हुआ नहीं है।" यह जानने का पता तो जरूर होगा पर शायद भूल गये हों इसी विचार से हमने यहाँ उद्धृत कर दिया। अब भी यदि आप 'ईस्ट-इण्डिया' को अशुद्ध गुप्तजी की ही मानते हों तो हम निरुपाय हैं। मट्ठी का पहला ठ पाठकों के अनुसार छापे की भूल हो सकती है। फुटपाथ में हमें तो कोई अशुद्धि दिखाती नहीं पता करें।

---

७४ वही पृ० २०४
७५ गु० नि० पृ० ५८६

एक जबरदस्त भूल डॉ० साहब ने गुप्तजी की ओर दिखायी है। उनका कहना है 'इसी प्रकार एकवचन 'वह' को गुप्तजी ने बहुवचन 'वे' के स्थान पर और 'यह' को 'ये' के स्थान पर भी प्रयोग किया है। यथा— 'जब तक वह आँखें न होंगी' यहाँ आँखें बहुवचन संज्ञा का 'वह' एकवचन सर्वनाम प्रयोग किया गया है। यह अशुद्ध है। 'वह' के स्थान पर 'वे' होना अपेक्षित था।[१] इसीको कहते हैं कि सात काण्ड रामायण हो गयी और यह पता नहीं चला कि सीताजी किसकी पत्नी थीं। डॉ० साहब के शोध का विषय 'गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त जीवन और साहित्य' है और वे यहाँ खास मनस्थिरता विषयक विचार पर लिख रहे हैं और गुप्तजी की गलती निकालते हैं कि वे और ये के प्रयोग न करते थे। उन्हें जानना चाहिए कि गुप्तजी वे और ये को ही गलत मानते थे। वह और यह को एकवचन और बहुवचन दोनों में प्रयुक्त करते थे और ऐसे ही प्रयोगों को शुद्ध मानते थे। डा० साहब से विनय है कि वे गुप्त निबन्धावली के पृष्ठ ४६५ ६६ एकबार फिर पढ़ जायें और अगर गुप्तजी से असहमत हों तो उनके सिद्धान्त की आलोचना करें, वे यों ही गलती न निकालें क्योंकि गुप्तजी का ही सिद्धान्त था "भूल वह होती है जो भूल से लिखी जाये। जो बात मनुष्य जान कर लिखे वह तो भूल नहीं। वह राय है।"
एक बात और है जब गुप्तजी की गलती निकालने जायें तो कृपया " एकवचन 'वह' को गुप्तजी ने बहुवचन वे के स्थान पर और यह को ये के स्थान पर भी 'प्रयोग किया है' की जगह 'प्रयुक्त किया है' लिखें या यदि 'प्रयोग किया है' को ही रखना चाहें तो 'को' के स्थान पर 'का' कर दें क्योंकि गुप्तजी भाषा की स्वच्छता के बड़े पक्षपाती थे। 'यहाँ आँखें' बहुवचन संज्ञा का 'वह' एकवचन सर्वनाम प्रयोग किया गया है, का खरा अर्थ भी बतायें और यह भी कि यहाँ 'वह' सर्वनाम है कि सार्वनामिक विशेषण! इसी प्रकार का पाण्डित्य डा० सत्यव्रत सिंह ने अपने शोधप्रबन्ध में अनेक स्थानों पर प्रकट किया है।

जो हिन्दी शोध कार्य में निरत हैं उनसे विनीत प्रार्थना है कि हिन्दी शोध प्रबन्धों की प्रामाणिकता के बारे में कुछ अधिक ध्यान दें।

हमें खेद है कि यह विषयान्तर अवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया।
गुप्तजी की विभिन्न प्रमुख आलोचनाओं पर संक्षिप्त विचार कर लेने के

[१] ग० बा० मु० गुप्त पृ० २०६-२०७

अनन्तर हम इस स्थिति पर पहुँच गये हैं कि उनकी आलोचना शैली और
उसके औचित्य अनौचित्य की चर्चा करें। गुप्तजी की परिचयात्मक आलो
चना शैली अभिधा प्रधान है। अंश यदि पसंद आया है तो उसकी उन्मुक्त
चित्त प्रशंसा है जैसे मौथर पाठक एवं नन्ददास की कविताओं की
आलोचनाएँ यदि त्रुटियुक्त लगा है तो धीरे से किन्तु स्पष्टता से वैसा कह
दिया है जैसे तुलसी सुधाकर, अवन्तिका पुत्र वहदीयुम इस्लाम आदि
की आलोचनाएँ। समर्थन की जगह समर्थन और विरोध की जगह विरोध
किया है।

विषय वस्तु सम्बन्धी आलोचनाएँ उन्होंने मुख्यतः उन ग्रन्थों या लेखों की की है
जिनसे वे सैद्धान्तिक रूप से असहमत थे। उदाहरणार्थ अधमठो द्वारा पैसी
पुस्तकें तथा साहित्यसेवी मि० ऐडवोकेट और प्रवासी आदि के लेख। इन
विरोधों में भावुकता का अंश बहुत अधिक है। अतः शैली आवेशपूर्ण हो गयी
है। इस आवेश को वह सहारा लिये हुए हैं किन्तु वह गौण है। आलोचक
के लिए अधिक भावुक होना गुण नहीं कहा जा सकता। इन आलोचनाओं
में वस्तुनिष्ठता की इसी लिए कमी है। पुरातन मर्यादा पर तनिक सा आघात
भी उन्हें असह्य है और वे प्रामुख्यतापूर्वक उसका विरोध करते हैं। जहाँ
नवीन विषय-वस्तु का उन्होंने समर्थन किया है वहाँ उनकी भूमिका सुझाव देने
वाले की है आज्ञा देने वाले की नहीं। कविता में छन्द यमक आदि का
प्रयोग हो इसका समर्थन भी वे दूसरों को अपनी बात प्रमाणित करने का अधि
कार देते हुए करते हैं अपनी बात को अकाट्य मान कर नहीं। ये प्रयोग के स्पष्ट
हैं और वे दूसरों की मान्यताओं का उतना ही सम्मान करते हैं जितना अपनी
मान्यताओं पर विश्वास। भाषा सम्बन्धी आलोचनाओं में वे अधिक निश्चित
भूमि पर खड़े प्रतीत होते हैं। भले ही दूसरा उन्हें गलत माने किन्तु उनका
पक्का आत्मविश्वास है कि उन्हीं का पक्ष सही है। यह आत्मविश्वास उनकी
आलोचनाओं को और प्रभावशाली बनाता है। निर्भीकता तो उनकी सहज
संगिनी थी ही किन्तु भाषा के व्यंग्य-विनोदपूर्ण प्रयोग उन्होंने जैसे इस क्षेत्र
में किये हैं वैसे आलोचना क्षेत्र में और कहीं नहीं किये। दूसरे के प्रयोगों
और सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा देना उनके बायें हाथ का खेल है और वे
बराबर ऐसा करते हैं। विचार के लिए उनकी यह शैली आदर्श है। इनकी
दूसरी चटुल चंचल तेजतर्रार व्यंग्य विनोदमयी भाषा प्रतिपक्षी को तिलमिला
देती है चौंधिया देती है हतबुद्धि कर देती है। फिर भी हमारा मत है

कि उनकी यह आलोचना शैली गंभीर आलोचना के लिए अनुपयोगी है। इ
शैली से विचार की मर्यादा और स्थिति नहीं रह जाती न मण्डनात्मक उपलब्धि
हो सकती है। हिन्दी की गंभीर आलोचना में उनकी परम्परा नहीं चली। पं
पद्मसिंह शर्मा ने ही कुछ दूर तक उसका उपयोग किया। हाँ खण्डन और विवा
के लिए यह उपादेय है किन्तु इस शैली से प्रतिपक्षी कायल होकर मत परिवर्त
कर लेगा इसकी आशा कम ही करनी चाहिए। इसी शैली का प्रयो
अपेक्षाकृत कर्कश एवं न्यायोचित बात मनवाने के लिए गुप्तजी ने किया था जिस
पक्ष उमटा हुआ। द्विवेदीजी की जिद और बढ़ गयी। इसी शैली के आधिप
अनुयायी एवं अत्यन्त शक्तिशाली आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा के निब
और कभी-कभी पक्षपातपूर्ण गणनाओं का भी विधायक परिणाम नहीं निकला
अतः हमारी दृष्टि में इस शैली की उपयोगिता निषेधात्मक ही है।

*डॉ नन्दन सिंह ने गुप्तजी को तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का बीजारोपण*
करनेवाला भी कहा है। डॉक्टर साहब ने जिस तरह गद्यविलास प्रेस के
स्वामी बाबू रामदीन सिंह के प्रकाशन कार्य से भारतेन्दु द्वारा हिन्दी की
उन्नति के कार्य की या विद्यारहित भारत और इंगलैंड की तुलना करनेवाले
गुप्तजी के वाक्यों के आधार पर यह मौलिक स्थापना की है वह उनके साहस के
अनुरूप ही है। उनके समान साहस न होने के कारण हम इस सम्बन्ध में कु
भी कहने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

यह सच है कि साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में गुप्तजी ने कोई ऐसा
मौलिक या स्थायी महत्व का सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया जिससे वे हिन्दी
के अग्रणी आलोचक माने जाते किन्तु अपने समय में उन्होंने जो किया उस यु
की सीमा को देखते हुए वह निश्चय ही अभिनन्दनीय है। भाषा की आलो
चना के क्षेत्र में उनका काम स्थायी महत्व का है। हिन्दी भाषा के परि
ष्कार का श्रेय जितना द्विवेदीजी को दिया जाता है, उतना नहीं तो
उससे कुछ ही कम गुप्तजी का भी प्राप्य है। व्याकरण के ऊपर शिष्ट
भाषा प्रवाह की सत्ता स्थापित करना और सरल स्वच्छ, सटीली, चुस्त
प्रवाहपूर्ण भाषा का आदर्श उपस्थित करना उनकी दो बड़ी देनें हैं जिन्हें
हिन्दी जगत् भावी सदा याद रखेंगे। उनकी भाषागत श्रेष्ठता का सबसे
बड़ा प्रमाणपत्र उनकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद स्वयं आचार्य द्विवेदी ने
दिया था। रामकृष्णदास के यह पूछने पर कि आपकी राय में सबसे

---

७७ आ० स्मा० ग्र० पृ १०

अच्छी हिन्दी कौन लिखता है ?" आचार्य द्विवेदी ने कहा था—'अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त।'[७८] हिन्दी भाषा के परिष्कार कार्य में प्रवृत्त दो प्रमुख विद्वान् हैं—पं० किशोरीदास वाजपेयी और बाबू रामचन्द्र वर्मा। दोनों ही गुप्तजी के प्रति श्रद्धानत हैं। वर्माजी ने यदि उन्हें १९०२ से ही भाषा क्षेत्र में अपना आदर्श मान रखा था[७९] तो वाजपेयी जी ने अपना प्रवेश। अपने को गुप्तजी का स्पष्ट आभारी मानते हुए उन्होंने कहा है "मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आचार्य द्विवेदी को छोड़ और कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसकी भाषा तथा आलोचना पद्धति का मेरे ऊपर वैसा प्रभाव पड़ा हो।"[८०]

हिन्दी भाषा के प्रिय और पथ की शताब्दी के अवसर पर हमारी विनीत वन्दना !

---


ग्रन्थसूची एवं संकेत-सूची

(१) गुप्त निबन्धावली — स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त स्मारक संस्करण गु०नि०

(२) बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ—सं० श्री झाबरमल्ल शर्मा (प्रथम संस्करण)
श्री बनारसीदास चतुर्वेदी बा० स्मा० ग्रं०

(३) हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल सं २००१
हि सा इ

(४) वाग्विलास—आचार्य पं महावीरप्रसाद द्विवेदी (प्र सं) वा वि

(५) गोपीगोविन्द निबन्धावली—पं गोविन्दनारायण मिश्र (प्रथमावृत्ति)
श्री गो नि

(६) महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डा उदयभानु सिंह
(प्रथम आवृत्ति) म प्र द्वि उ यु

(७) अग्रगार बाबू बालमुकुन्द गुप्त—डा नत्थन सिंह (प्र सं)
(जीवन और साहित्य) अ बा मु जी सा

(८) हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास—डा भगवत्स्वरूप मिश्र (प्र सं)
हि आ उ. वि

(९) द्विवेदी अभिनन्दनग्रन्थ—काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वि अ ग

उग = उपग्रन्थ

मनुर अनुग्रन्थ म हि पु पुस्त पु

= मदनकिशोर गुप्त के पुस्तकालय में सुरक्षित


---

७८ बा० स्मा० ग्र० पृ ३६८। ७९ वही पृ ३८२

८० वही पृ. ३११

# निबन्धकार बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन

डॉ. दयानन्द श्रीवास्तव

बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के अभ्युत्थान युग के अन्तिम चरण (भारतेन्दु युग) और परिमार्जन युग (द्विवेदी युग) के आरम्भिक चरण के लेखक हैं। इन्होंने भारतेन्दु युग के अन्तिम चरण में लिखना आरम्भ किया था। दुर्भाग्य से इनकी मृत्यु सन् १९०७ ई० में हो गई, अतः मात्रा में इनके निबन्ध सीमित हैं परन्तु इस सीमित अवधि में सीमित मात्रा में लिखे निबन्धों में शिल्प की परिपक्वता आ गई थी। शिल्प और भाषा की दृष्टियों से बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के सेतु हैं। गुप्तजी का युग भारतीय जीवन में एक संक्रान्ति लेकर उपस्थित हुआ था। इस युग में समाज संस्कृति धर्म और दैनिक जीवन आक्रान्त थे। ऐसी ही परिस्थिति में चेतना के व्यापक परिपार्श्व को लेकर गुप्तजी की चिन्तन धारा ने निबन्धों के माध्यम से हिन्दी गद्य शैली को प्रौढ़ता प्रदान की।

बालमुकुन्द गुप्त के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र विचारात्मक आलोचनात्मक भावात्मक वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक शैली के निबन्ध प्रस्तुत कर चुके थे। ये निबन्धकार तथा इस युग के अन्य निबन्धकार किसी न किसी पत्र के सम्पादक थे। अतः इनके निबन्ध सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में विचार-संगोष्ठियों में भिन्न-भिन्न विषयों पर दिये गए वक्तव्यों की आलोचना प्रत्यालोचना के रूप में विशिष्ट ग्रन्थों की समालोचना के रूप में राजनैतिक स्थितियों के मूल्यांकन के रूप में तथा सामाजिक कुरीतियों की आलोचना के रूप में आलोचनात्मक भावात्मक वर्णनात्मक तथा विवरण प्रधान शैलियों में लिखे गये हैं। इनमें हास्य-व्यंग्य के साथ साथ विश्लेषणात्मक और तार्किक शैलियों भी इस युग के निबन्धकारों ने प्रयुक्त

दिया। साहित्य की भिन्न-भिन्न धाराओं में युग-सापेक्षता विद्यमान रहती है। जीवन के सन्दर्भों से प्रस्फुटित साहित्यिक धाराओं में सर्वयुगीन और सर्वकालीन अन्तश्चेतना विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें सन्तोष होता है कि इस युग के निबन्धों में अपने युग का बिम्ब और प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित है। साहित्य-साधना के नवीन स्वर अपने बौद्धिक और मानसिक वैभव के साथ इस काल में लिखे गए निबन्धों में मुखरित हैं। राजनीति के प्रतिध्वनित स्वर, साहित्य-जागरण का प्रतिबिम्ब और उसके प्रयत्नात्मक चरणों की त्वरित गति अन्य साहित्यिक विधाओं के समान इस युग के निबन्धों में भी उपलब्ध है।

बालमुकुन्द गुप्त के युग में साहित्यिक चर्चा-परिचर्चा क्रमशः आन्दोलन का रूप धारण करती जा रही थी। इन आन्दोलनों के प्रवाह में साहित्य में उपलब्ध भावपक्ष और अभिव्यञ्जना प्रणाली की चर्चा के साथ भाषा-सम्बन्धी वाद-विवाद भी उपलब्ध हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में ये समस्त स्थितियाँ और विशेषतायें उपलब्ध हो जाती हैं। इनके विचारात्मक निबन्धों में भाषा साहित्य और समाज संस्कार के प्रति आग्रह व्यक्त मिलता है। भारतेन्दु-युग के निबन्धों में विषय संस्कार के प्रति विशेष आग्रह भाव तो मिलता है परन्तु भाषा के स्वरूप-निर्माण और उसके विधानकी ओर इस युग के निबन्धकार आकर्षित नहीं लगते हैं। भाषा के उन्नयन और संस्करण की चेष्टा द्विवेदी युग में ही दृष्टिगोचर होती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ इस चेष्टा का श्रेय बालमुकुन्द गुप्त को है। द्विवेदी युग में भाषा के स्वरूप-विन्यास हेतु किये गये प्रयत्नों में बालमुकुन्द गुप्त का योगदान ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। भारतेन्दु युग के निबन्धों में भावों और विचारों को उपस्थित करनेवाले निबन्ध प्रायः नहीं हैं। हिन्दी निबन्धों में इस प्रमुखता की अवतारणा सर्वप्रथम बालमुकुन्द गुप्त द्वारा ही हुई। लेखन में व्याकरण के सिद्धान्तों की अवहेलना इस युग के निबन्धकार कर जाते थे परन्तु बालमुकुन्द गुप्त भाषा के शुद्ध और परिमार्जित स्वरूप के प्रति सदैव आग्रहशील रहे हैं। अभिव्यक्ति में संयम और मर्यादा के प्रति विश्वास रखते हुये भी व इस विश्वास का सदैव अनुसरण करने में सफल नहीं रहे हैं। हिन्दी को सार्वजनिक रूप देने के प्रबल आग्रह के कारण उन्हें कभी-कभी कटु भी होना पड़ा है। खड़ी बोली के स्वरूप-निर्माण का श्रेय महावीर प्रसाद

# निबन्धकार बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन

डा. दयानन्द श्रीवास्तव

बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के अभ्युत्थान युग के अन्तिम चरण ( भारतेन्दु युग ) और परिमार्जन युग ( द्विवेदी युग ) के आरम्भिक चरण के लेखक हैं। इन्होंने ने भारतेन्दु युग के अन्तिम चरण में लिखना आरम्भ किया था। दुर्भाग्य से इनकी मृत्यु सन् १९०७ ई० में हो गई, अतः मात्रा में इनके निबन्ध सीमित हैं परन्तु इस सीमित अवधि में सीमित मात्रा में लिखे निबन्धों में शिल्प की परिपक्वता आ गई थी। शिल्प और भाषा की दृष्टियों से बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के सेतु हैं। गुप्तजी का युग भारतीय जीवन में एक संक्रान्ति लेकर उपस्थित हुआ था। इस युग में समाज संस्कृति धर्म और दैनिक जीवन आक्रान्त थे। ऐसी ही परिस्थिति में चेतना के व्यापक परिपार्श्वको लेकर गुप्तजीकी चिन्तन धारा ने निबन्धों के माध्यम से हिन्दी गद्य शैली को प्रौढ़ता प्रदान की।

बालमुकुन्द गुप्त के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र विचारात्मक आलोचनात्मक भावात्मक वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक शैली के निबन्ध प्रस्तुत कर चुके थे। ये निबन्धकार तथा इस युग के अन्य निबन्धकार, किसी न किसी पत्र के सम्पादक थे। अतः इनके निबन्ध सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में विचार-संगोष्ठियों में भिन्न-भिन्न विषयों पर दिये गये वक्तव्यों की आलोचना-प्रत्यालोचना के रूप में विशिष्ट ग्रन्थों की समालोचना के रूप में राजनैतिक स्थितियों के मूल्यांकन के रूप में तथा सामाजिक कुरीतियों की आलोचना के रूपमें आलोचनात्मक भावात्मक वर्णनात्मक तथा विवरण प्रधान शैलियों में लिखे गये हैं। इनमें हास्य-व्यंग्य के साथ साथ विश्लेषणात्मक और तार्किक शैलीको भी इस युगके निबन्धकारों ने प्रश्रय

दिया। साहित्य की भिन्न-भिन्न धाराओं में युग-सापेक्षता विद्यमान रहती है। जीवन के सम्बन्धों से प्रस्फुटित साहित्यिक धाराओं में सामयुगीन और सर्वकालीन अन्तश्चेतना विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें सन्तोष होता है कि इस युग के निबन्धों में अपने युग का चिन्तन और अनुचिन्तन प्रतिबिम्बित है। साहित्य-साधना के नवीन स्वर अपने बौद्धिक और मानसिक वैभव के साथ इस काल में लिखे गये निबन्धों में मुखरित है। राजनीति के अभिव्यंजित स्वर, साहित्य-जागरण का प्रतिबिम्ब और उसके गत्यात्मक चरणों की त्वरित गति अन्य साहित्यिक विधाओं के समान इस युग के निबन्धों में भी उपलब्ध है।

बालमुकुन्द गुप्त के युग में साहित्यिक चर्चा-परिचर्चा क्रमशः आन्दोलन का रूप धारण करती जा रही थी। इन आन्दोलनों के प्रवाह में साहित्य में उपलब्ध भावपक्ष और अभिव्यञ्जना प्रणाली की चर्चा के साथ भाषा-सम्बन्धी वाद विवाद भी उपलब्ध हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में ये समस्त स्थितियाँ और विशेषतायें उपलब्ध हो जाती हैं। इनके विचारात्मक निबन्धों में भाषा साहित्य और समाज संस्कार के प्रति आग्रह व्यक्त मिलता है। भारतेन्दु-युग के निबन्धों में विषय-संस्थापन के प्रति विनत आग्रह भाव तो मिलता है, परन्तु भाषा के स्वरूप-निर्माण और उसके विधान की ओर इस युग के निबन्धकार आकर्षित नहीं लगते हैं। भाषा के उन्नयन और संस्करण की चेष्टा द्विवेदी युग में ही दृष्टिगोचर होती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ इस चेष्टा का श्रेय बालमुकुन्द गुप्त को है। द्विवेदी युग में भाषा के स्वरूप-विन्यास हेतु किये गए प्रयत्नों में बालमुकुन्द गुप्त का योगदान ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। भारतेन्दु युग के निबन्धों में भावों और विचारों को उत्तेजित करनेवाले निबन्ध प्राप्त नहीं हैं। हिन्दी निबन्धों में इस प्रमुखता की अवतारणा सर्वप्रथम बालमुकुन्द गुप्त द्वारा ही हुई। लेखन में व्याकरण के सिद्धान्तों की अवहेलना इस युग के निबन्धकार कर जाते थे परन्तु बालमुकुन्द गुप्त भाषा के शुद्ध और परिमार्जित स्वरूप के प्रति सदैव आग्रहशील रहे हैं। अभिव्यक्ति में संयम और मर्यादा के प्रति विश्वास रखते हुये भी वे इस विश्वास का सदैव संरक्षण करने में समर्थ नहीं रहे हैं। हिन्दी को सार्वजनिक रूप देने के प्रबल आग्रह के कारण उन्हें कभी-कभी कटु भी होना पड़ा है। खड़ी बोली के स्वरूप-निर्माण का श्रेय महावीर प्रसाद

द्विवेदी को ही दिया जाता है परन्तु इस सन्दर्भ में बालमुकुन्द गुप्त के योग दान को हम नगण्य नहीं कह सकते हैं। बालमुकुन्द गुप्त ने भाषा में सम्मयन के प्रति विशेष रूप से आग्रह व्यक्त किया। भाषा और शैली चिन्तन और भाव-प्रस्तावन के स्वरूप का नियमन करती है। अपने निबन्धों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गुप्तजी ने इस तथ्य को सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार का प्रयत्न अपने स्वयं में एक गुरुतर दायित्व है। इस दायित्व के निर्वाह में गुप्तजी को अपने समकालीन और स्नेहपूर्ण व्यक्तियों का विरोध भी करना पड़ा उनकी प्रतिद्वन्द्विता स्वीकार करनी पड़ी। इस तथ्य पर विचार करते हुये हमारा ध्यान महावीरप्रसाद द्विवेदी की ओर आकर्षित होता है। 'सरस्वती' के माध्यम से महावीर प्रसाद द्विवेदी खड़ी बोली का संस्कार कर रहे थे। द्विवेदीजी अपने समकालीन और पूर्वकालीन लेखकों की भाषा और व्याकरणकी त्रुटियों पर सरस्वती में निबन्ध प्रस्तावत कर रहे थे। इन्होंने सरस्वती के ग्यारहवें अंक में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक विचारात्मक निबन्ध लिखा। यद्यपि द्विवेदी जी भाषा के स्वरूप का निर्धारण और नियमन कर रहे थे परन्तु स्वयं उनकी भाषा में कतिपय त्रुटियाँ थीं। बालमुकुन्दगुप्त ने द्विवेदीजी की त्रुटियों की ओर संकेत करते हुये 'आत्माराम' के नाम से एक लेखमाला प्रकाशित की। इसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द के अशुद्ध रूप की ओर संकेत किया गया था। यद्यपि इस निबन्धमाला के कारण द्विवेदीजी और बालमुकुन्दगुप्त में प्रतिद्वन्द्विता की भावना जागृत हुई, परन्तु इस प्रतिद्वन्द्विता से एक लाभ हुआ। युगीन लेखकों में भाषा की चेतना जागृत हुई। इस सम्बन्ध में आगे चर्चा की गई है।

हम स्पष्ट देखते हैं कि बालमुकुन्द गुप्त साहित्य और भाषा की जीवन्त मान्यताओं से आपूरित थे। इन्होंने सम्वत् १९५० में 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादकीय दायित्वों को ग्रहण किया। इस पत्र के माध्यम से बालमुकुन्द गुप्त के हिन्दी गद्य शैली के स्वरूप-विधान और नियमन के महत्त्वाकांक्षी प्रयत्नों से हम सभी परिचित हैं। इन्होंने हिन्दी-गद्य को एक नया रूप दिया उसके इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित किया। इनके प्रयत्नों को 'अन्तर मोदी हुई' हिन्दी 'बंगवासी के प्रधान अमृतलाल चक्रवर्ती के एक संस्मरण से मिल जाती है। अमृतलाल चक्रवर्ती ने गुप्तजी की हिन्दी भाषा की भूमिका में

इस प्रकार लिखा है—'जिस समय बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी बंगवासी में आये उस समय स्वर्गीय पण्डित प्रभुदयाल पाण्डेय गुप्तजी और मैं—हम तीन भिन्न भिन्न भाषा भाषियों का विचित्र सम्मेलन हुआ। कदाचित इन भिन्न भिन्न भाषा भाषियों का एकत्र हिन्दी लेखन में आरूढ़ होना हिन्दी भाषा के लिये शुभफलकारी हुआ। तीनों के नवजीवन का प्राय सारा आवेग लिखित हिन्दी भाषा को सुघर बनाने में व्यतीत हुआ। किसी किसी दिन एक शब्द के पीछे दो-दो तीन-तीन बजे रात तक तीनों में कठिन लड़ाई होती थी भाषा सम्बन्धी विवाद ही झगड़े हम आपस में तय कर लेते थे। और आज दिन उस तय किये हुये सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दी के प्राय: वर्तमान लेखक अपनी भाषा निःसंकोच लिख रहे हैं। इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि हिन्दी भाषा और उसके पद्य के स्वरूप-निर्धारण तथा उसे व्यवस्थित रूप प्रदान करने में गुप्तजी की साधना का ऐतिहासिक महत्त्व है।

बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों के विषय और उनकी शैली अतिसरल है। इनके निबन्ध प्राय: विषय-प्रधान हैं परन्तु उनके व्यक्तित्व का यथेष्ट प्रभाव उनके निबन्धो पर मिलता है। इनके निबन्धों में इनके व्यक्तित्व और विषय पक्ष का संतुलित समन्वय हुआ है। ऊपर कहा गया है निबन्ध लेखन की परम्परा गुप्तजी को भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र से प्राप्त हुई थी परन्तु उन्होंने इस परम्परा का विकास स्वतंत्र रूप से किया। 'निबन्धकार' रूप में जब गुप्तजी पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान अनायास 'मोंटेन' की ओर आकर्षित होता है। मोंटेन के निबन्ध व्यक्ति-प्रधान हैं। जिन्हें हम ललित निबन्ध भी कह सकते हैं। वस्तुत: ये निबन्ध प्रयोगात्मक कोटि के हैं। 'मोन्टेन' अपने निबन्धों में रचना शिल्प के प्रति आग्रहशील नहीं है। अपितु मुक्त रूप में बिना किसी बन्धन के मूल विषय सम्बन्धी-भावों का प्रतिपादन इनके निबन्धों का उद्देश्य है। इसी सन्दर्भ में अंग्रेजी भाषा के प्रमुख और सम्भवत: प्रथम निबन्धकार 'बेकन' के निबन्धों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित हो उठता है। सन् १६०१ में जॉन फ्लोरियो ने 'मोंटेन' के निबन्धों का अंग्रेजी में अनुवाद किया जिससे प्रभावित होकर बेकन ने अपने निबन्ध लिखे। परन्तु बेकन 'मोंटेन' के निबन्धों से अनेक रूपों में भिन्न थे। मोंटेन की शैली व्याख्यात्मक या वर्णनात्मक है बेकन की शैली सूत्रात्मक है। प्रथम की शैली व्यक्ति-प्रधान है द्वितीय की विषय-प्रधान। परन्तु बेकन के निबन्धों में बौद्धिकता है और व्यक्ति तत्त्व अति गौण या नगण्य मात्रा में है। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि

बालमुकुन्द गुप्त के निबन्ध पाश्चात्य निबन्ध-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। गुप्तजी पाश्चात्य निबन्ध-परम्परा से परिचित भी नहीं थे। परन्तु एक मौलिक निबन्धकार होने के नाते श्रेष्ठ निबन्ध की ऊपर वर्णित शैलियों का अद्भुत संयोग इनके निबन्धों में उपलब्ध हो जाता है। विषय की दृष्टि से गुप्तजी बेकन की शैली के निबन्धकार हैं अर्थात् इनके निबन्ध विषय-निष्ठ हैं व्यक्ति निष्ठ नहीं। फिर भी शैली की दृष्टि से वे बेकन से भिन्न 'मोतेंन' से सामीप्य रखते हैं। बेकन के निबन्धों में उपलब्ध तार्किक बौद्धिकता गुप्तजी के निबन्धों में उपलब्ध हो जाती है किन्तु उनके निबन्धों की सूत्रात्मक शैली या सामासिक शैली गुप्तजी के निबन्धों में उपलब्ध नहीं होती। 'मोतेंन' के निबन्धो के समान इनके निबन्ध व्यास या व्याख्यात्मक शैली में लिखे गये हैं। बेकन के समान गुप्तजी भी अपने निबन्धों के केन्द्र स्वयं नहीं हैं। फिर भी गुप्त जी के निबन्धों का मूल्यांकन अंग्रेजी अथवा पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध निबन्धों के सन्दर्भ में अपेक्षित नहीं है। कारण ऊपर पाश्चात्य साहित्य के जिन निबन्धकारों की चर्चा की गई है उनमें तथा बालमुकुन्द गुप्त में देश और काल का अन्तर है। गुप्तजी के निबन्ध किसी प्रकार की बाह्यप्रेरणा की उपलब्धि नहीं है। इनके निबन्ध युगनिष्ठ हैं। इनकी मूल प्रेरणा युगकी सामाजिक राजनीतिक साहित्यिक एवं भाषागत् परिस्थियाँ हैं।

बालमुकुन्द गुप्त अपने समय के क्रियाशील चिन्तक थे। इनकी चिन्तन धारा और इनका मानसिक मंथन इनके निबन्धोंमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। इन्होंने विचारात्मक आलोचनात्मक भावात्मक वर्णनात्मक विवरणात्मक निबन्धों की रचना की है। ये निबन्ध प्रौढ़ और परिपक्व शैली में लिखे गये हैं और इनमें चिन्तन का उच्चतम धरातल उपलब्ध होता है। इनके निबन्धों में प्रभावकारी धारा के विचारों और आलोचना शैलियों के दर्शन होते हैं। हिन्दी में इन्होंने यथार्थोन्मुख निबन्ध-प्रणाली को जन्म दिया जिसमें विचारात्मक गैरता के प्रभावों के साथ व्यंग्य और उपहास का मार्मिक समन्वय मिलता है। और इनमें हास्य और व्यंग्य विषय-युक्त है। विचारों की शृंखलामें निबन्धकार विषय प्रतिपादन करता हुआ अपनी सम्पूर्ण भावात्मक और बौद्धिक सत्ता का प्रयोग करता है और पाठक उसकी भावात्मक और बौद्धिक सत्ता की अनुभूति करता है और इन अनुभूतियों की प्रतीति

में वह निबन्धकार के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पाठक की भावना निबन्धों में प्रस्तावित उत्तेजनापूर्ण विचारों के साथ उत्तेजित होने लगती है।

ऊपर कहा गया है कि बालमुकुन्द गुप्त ने अपने युग में उठाये गये भाषा-सम्बन्धी समस्त आन्दोलनों और चर्चा-परिचर्चा में भाग लिया था। इस सम्बंधमें विचार करते हुये हमारा ध्यान सर्वप्रथम इस युग में उठाये गये हिन्दी विरोधी आन्दोलन की ओर आकर्षित होता है। हिन्दी उर्दू के मध्य उठाई गई प्रतिद्वन्द्विता के पीछे धार्मिक तथा राजनैतिक अनुप्रेरणायें प्रतिक्रियावादी शक्तियों के रूप में कार्य कर रही थी। इस अवसर पर राजाशिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मण सिंह का स्मरण हो उठता है। 'सितारेहिन्द' प्रारम्भ में हिन्दी की नैसर्गिक लिपि के लेखक थे। इनकी शैली के दो रूप उपलब्ध होते हैं। प्रथम रूप वह है जिसमें 'इतिहास तिमिर नाशक' की रचना हुई है। इसकी शैली संस्कृतनिष्ठ है। दूसरी शैली है 'राजाभोज का सपना' की। यह कृति बोलचाल की भाषा में लिखी गई है। इसी बीच सर सैय्यद अहमद ने हिन्दी का विरोध आरम्भ किया और सर सैयद के प्रभावमें शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने हिन्दी के नैसर्गिक रूप का विरोध किया। अतः संक्षेपमें हिन्दी और उर्दू के मध्य जागृत होने वाले संघर्ष की यही भूमिका है। बालमुकुन्द गुप्त के युग में इस संघर्ष का स्वर अधिक मुखर होने लगा था। गुप्तजी ने अपनी सम्पूर्ण आस्था के साथ इस संघर्ष में भाग लिया। इनके भाषा-सम्बन्धी निबन्धों में इनकी भावनाओं के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। गुप्तजी ने इस परिचर्चा में शुद्ध भावनाओं की प्रेरणा से ही भाग नहीं लिया है। इसके लिये उनके पास तर्क और सबल प्रमाण भी है। उन्होंने आस्था विश्वास और सद्भावना के साथ अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। अन्वेषण और विश्लेषण तथा वैज्ञानिक तथ्यों के सहारे विषय के मूल में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। अपने भाषा-सम्बन्धी निबन्धों में वे विरोधी पक्ष का उत्तर आत्मविश्वास के साथ देते हैं। उनके समसामयिक उर्दू अखबारों में हिन्दी भाषा की चर्चा-परिचर्चा होती थी। इन समाचार पत्रों में लाहौर के पैसा नामक अखबार ने हिन्दी और उर्दू भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए जिन विचारों को प्रकट किया था उनका सारांश इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—

(क) हिन्दी मुर्दा जबान है। हिन्दी में बेतकल्लुफ बोलने वाले कम हैं (ग)

हिन्दी जिस देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, वह लिपि अवैज्ञानिक है। हिन्दी की अपेक्षा उर्दू तेज लिखी जाती है।

बालमुकुन्द गुप्त इस प्रकार की आलोचनाओं के प्रत्युत्तर-रूपमें और वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण हेतु 'भारतमित्र' में भाषा-विषयक लेख और टिप्पणियाँ लिखा करते थे। परन्तु इन लेखों और टिप्पणियों में इनकी दृष्टि किसी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना या पूर्वग्रह द्वारा नियंत्रित नहीं थी। लाहौर के 'पैसा' अखबार की आलोचनाओं का स्पष्टीकरण करते हुये गुप्तजी द्वारा लिखे गये निबन्धों में 'उलटी दलील' और 'उर्दू की मौत' शीर्षक निबन्ध विशेष महत्त्व के हैं। इन निबन्धों कीभावभूमि है हिन्दी के ऐतिहासिक महत्त्व का उद्घाटन करना और हिन्दीकी वैज्ञानिकता पर उठाई गई शंकाओंका समाधान करना। हिन्दीके प्रति अपने भाव व्यक्त करते हुये 'उलटी दलील' नामक लेख में उन्होंने इस प्रकार लिखा है 'कौन कहता है कि हिन्दी मुर्दा जबान है ? वह हिन्दी ही तो है जो हिन्दुस्तान के हर एक कोने में बोली-समझी जा सकती है। बाकी वह काफ से भरी हुई गले में अटकनेवाली मौलवियाना उर्दू तो आपके दस-पाँच मौलवी लोग ही बोलते हैं। पैसा अखबार कहता है कि हिन्दी के बेतकल्लुफ बोलनेवाले बहुत कम हैं। हम कहते हैं—हिन्दी सभी बोलते हैं। आपकी उर्दू ही बोलने वाले बहुत कम हैं। आप कसम खाकर कहें कि आपके पंजाबी मुसलमानों में जो लोग शिक्षित हैं और बी० ए० एम० ए० हैं उनमें से सौ सौ में पाँच शख्स शुद्ध उर्दू बोल सकते हैं। हमसे आपकी दो बार मुलाकात हुई। आपके उर्दू बोलने पर हमको हँसी तो बहुत आई परन्तु पर आपकी बेइज्जती के खयाल से उसमें गुस्ताखीनी नहीं की। आप कैसे कहते हैं कि हिन्दी मुर्दा है ?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि निबन्धकार अपने विषय-प्रतिपादन में आत्मचिक सजग और सजग रहता है और जहाँ तक सम्भव होता है, विषय की सीमा में रहते हुए मर्यादा नीति और औचित्य का संरक्षण करते हुये अपने कथ्य का प्रतिपादन करता है। वह हिन्दी पर लगाये गये आरोपों के वर्वैज्ञानिक तर्कों की त्रुटिपूर्णता पर संयम में आघात करते हुए वस्तुस्थिति का उद्घाटन करता है' 'रही बात कि उर्दू तेज लिखी जाती है कि हिन्दी

की भी काशी में परीक्षा हो चुकी है—श्रीमान् साहब जो कुछ दिनों के लिये
मेकडानल साहेब के छुट्टी जाने पर पश्चिमोत्तर के लाट हो चुके हैं नागरी
प्रचारिणी सभा में इसका तमाशा देख चुके हैं और भाषा टूटनी
की आपने खूब कही। हिन्दी लिखनेवाले न तो भाषा छापते हैं,
न हिन्दी में कुछ का कुछ पढ़ा जाता है। यह तो उर्दू ही है जिसमें कुछ
जिस तरह हो गया का कुछ 'खसम पोस्ता हो गया' पढ़ा जाता है और
नुक्तों के हेर फेरसे 'खामी' और 'नानी' में कुछ भेद नहीं रहता। 'भारतमित्र'
इन निबन्धों में निबन्धकार के चिन्तन की सम्पूर्ण सत्ता विद्यमान मिलती है।
इसमें वस्तु-संस्थान हेतु प्रयुक्त प्रत्येक वाक्य प्रयोजनपूर्ण है। इसमें विचारों के
आवय में एकसूत्रता मिलती है और प्रतिपक्षियों की विचारधारा का
खण्डन करता हुआ लेख उनके व्यक्तित्व की सार्थक आलोचना भी करता है।
इस सन्दर्भ में 'गवर्नमेंट पण्डित' शीर्षक लेख का उल्लेख यहाँ अपेक्षित
लगता है। यह लेख काश्मीरी पण्डितों की भाषा-सम्बन्धी भावना का
उद्घाटन करते हुए उनकी मनोवृत्ति की आलोचना भी करता है। इस निबन्धमें
निबन्धकार एक जाति-विशेष के मानसिक-गठन और उसके चिन्तन-स्वरूप का
परिचय देते हुए राष्ट्रीय धरातल पर उसका मूल्यांकन करता है 'कायस्थ साहबों
के दूसरे दर्जे हिन्दी विरोधियों में कश्मीरी पण्डितों का है। यह महामान्य भी
नागरी अक्षरों को भैंसा का सींग ही समझते हैं। इनके बड़े पण्डित थे परन्तु
यह पक्के हैं। शायद इन्हीं के मुबारक नाम पर बादशाही में 'पण्डितानें'
बने थे। इन्हीं का खाकिया उर्दू के कवि जौक ने अपनी किताब में दर्ज
किया है। इन गवर्नमेंट पण्डितों के नाम सुनिये—पण्डित इकबाल नरायन
पण्डित परताप किशन पण्डित महाराज किशन माशा अल्लाह क्या खूब संस्कृत
नाम है। ऐसे पण्डितों के कारण ही शायद प्रयाग इलाहाबाद बना
है। 'एडीटर हिन्द' से विदित हुआ कि इलाहाबादमें मुसल्मानों ने नागरी विरोधी
एक सभा की उसमें स्वर्गीय पण्डित अयोध्यानाथ (उर्दू में इनका नाम
अजुधियानाथ लिखा जाता था) के घर के चिराग पण्डित अमरनाथजी ने भी
नागरी अक्षरों का विरोध किया था और कहा था कि इन अक्षरों में लिखने से
उर्दू उलट-पलट हो जायगी हमारे नये पण्डित जी ने यह बात कही
जो किसी मुसलमान को भी न कहने आई। सुना है लखनऊ की नवाबी के
समय एक नवाब साहेब थे जिन्होंने कभी गेहूँ का पेड़ नहीं देखा था एक
मुसाहिब ने उनसे कहा कि हुजूर आज गुलाम गेहूँ का पेड़ देख आया।
सत्तर से बहत्तर हाथ ऊँचा था। एक फौज उसके नीचे आराम कर सकती

है। उसी तरह क्या आश्चर्य जो आगरेनिवास अयोध्यानाथ जी के सुयोग्य पुत्र ने देवनागरी का पेड़ भी न देखा हो।

हम स्पष्ट रूप में देख पाते हैं कि भाषा-सम्बन्धी समस्या पर गुप्तजी ने गम्भीरता पूर्वक विचार किया था। गुप्तजी भाषाकी शक्ति से पूर्णतः परिचित थे। भाषा की शक्ति है उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति और उसकी प्रेषणीयता। भाषाजनजीवन में विकसित होती है। जनजीवन की भाषा अथवा जनजीवन के सम्पर्क की भाषा का ही नैसर्गिक विकास होता है और इसी प्रकार की भाषा में साहित्य की सर्जना अपेक्षित है। बालमुकुन्द गुप्त की भाषा-विषयक भावना इसी प्रकार की थी। सन् १९०१ में युक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के जुडिशियल सिक्रेटरी एच एस० एस० बटलर ने प्राइमरी शिक्षा के लिये एसी भाषा की प्रस्तावना की थी जिसमें उन भाषा-रूपों का मिश्रण हो, जिसमें पढ़े लिखे मुसलमान और हिन्दू लिखते हैं। भाषा बनाई नहीं जाती है, स्वयं बनती है इस सत्य को गुप्त जी भली प्रकार जानते थे। और इस सत्य से आपूरित होकर इस प्रस्ताव का उन्होंने विरोध किया। इस प्रस्ताव की प्रतिक्रिया में उन्होंने 'हिन्दी उर्दू का मेल' शीर्षक निबन्ध (भारतमित्र में १९०१) लिखा। परन्तु यह केवल प्रतिक्रिया के आवेश और आवेग में ही नहीं लिखा गया है। इसमें भाषा की चिरन्तन शक्ति का सन्दर्भ ग्रहण करते हुये निबन्धकार ने उक्त प्रस्ताव के अनैसर्गिक स्वरूप की ओर भी संकेत किया है। इस निबन्ध में गुप्तजी ने कतिपय मौलिक शंकायें और सन्देह व्यक्त किये हैं जो विषय प्रस्तावकों की ओर से समाधान की अपेक्षा रखते हैं। इस निबन्ध के मूल भाव इस प्रकार हैं।

(१) पढ़े-लिखे हिन्दू और मुसलमान जिन भाषाओं का प्रयोग करते हैं, वे आम लोगों की भाषा नहीं हैं। ये भाषायें जन-जीवन से दूर हैं, अत: वे शिक्षा का माध्यम नहीं हो सकती हैं। पढ़े-लिखे हिन्दू कचहरियों में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह कृत्रिम भाषा है। कचहरियों के बाहर अपने घरों में या दैनिक जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों में वे इस प्रकार की भाषा का व्यवहार नहीं करते हैं। ग्रामीण जनसमूहों से भी इस प्रकार की भाषा का कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं है। ऐसी स्थिति में इस प्रस्तावित भाषा-स्वरूप की कोई उपयोगिता नहीं है।

(२) जिस भाषा-रूप की प्रस्तावना सरकार करना चाहती है उसकी लिपि क्या होगी देवनागरी अथवा फारसी ? उर्दू के फारसी लिपि में लिखी जाने के कारण और अरबी-फ़ारसी के मुहावरों के प्रति अतिशय आग्रह शील होने के कारण हिन्दी से भिन्न एक स्वतंत्र भाषा का बोध होता है। संघर्षी हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचार और प्रसार के प्रति आग्रहशील थे। इस सम्बन्ध में विचार करते हुये गुप्तजी कहते हैं वह न हिन्दी है न उर्दू और हिन्दी है उर्दू भी है। पर यह भली भाँति जान लेना चाहिये कि वह बेमुहावरा भाषा है। उसे हम साहिबाना या पादरियाना कह सकते हैं। निबन्धकार की यह धारणा है कि हिन्दी-उर्दू में वास्तविक एकता उस समय स्थापित हो सकती है जब दोनों एक लिपि अर्थात् देवनागरी लिपि में लिखी जायें। फारसी लिपि के कारण उर्दू एक अभारतीय भाषा सी लगती है। फारसी अक्षर इस भाषा को अरब और ईरान की ओर आकर्षित करते हैं।

हिन्दी उर्दू के वाद-विवाद से सम्बन्धित निबन्धों के अतिरिक्त गुप्तजी के भाषा और व्याकरण सम्बन्धी अन्य निबन्ध भी विषय और शैली इन दोनों ही दृष्टियों से विशेष महत्व के हैं। ये निबन्ध दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के निबन्ध स्वतंत्ररूप में लिखे गये हैं। इन निबन्धों में हिन्दी भाषा और लिपि पर लेखक ने ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। इनमें हिन्दी भाषा की भूमिका 'हिन्दी भाषा' ब्रज भाषा और उर्दू हिन्दी में बिन्दी' हिन्दी की उत्पत्ति' 'भारत की भाषा' 'एक लिपि की आवश्यकता' देव नागरी अक्षर 'हिन्दुस्तानमें एक रस्मुल खत' आदि निबन्ध विशेष रूपसे उल्लेख नीय हैं। द्वितीय प्रकार के निबन्ध इनके युग में उठाये गये भाषा और व्याकरण विषयक परिवर्तों के सन्दर्भ में लिखे गये हैं। इस सम्बन्ध में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक निबन्ध विशेष महत्व का है। इस शीर्षक में दस निबन्ध हैं। ये पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के भाषा-सम्बन्धी निबन्ध की प्रति क्रिया और उत्तर में लिखे गये हैं। इस निबन्धमाला में 'व्याकरणीय विचारी १ २ 'अनस्थिरता' और 'पतले और पर' शीर्षक निबन्धात्मक टिप्पणियाँ भी सम्मिलित करने योग्य हैं।

ये निबन्ध विचारात्मक कोटि के हैं तथा आलोचनात्मक व्याख्यात्मक और तार्किक शैली में लिखे गये हैं। ये निबन्ध अपने मुख्य विषय की प्रस्तावना के

साथ प्रारम्भ होते हैं निबन्धकार अपनी वैयक्तिक मान्यता की अपेक्षा सर्वमान्य तथ्यों और स्थापित सिद्धान्तों का आधार ग्रहण कर ही विषय का विस्तार करता है जिससे विषय-निरूपण को नैसर्गिक शक्ति मिलती है। इसमें बिना किसी भूमिका के निबन्धकार अपने मुख्य विषय की प्रस्तावना करता है। विषय से सम्बन्धित आवश्यक ऐतिहासिक तथ्यों के सन्दर्भ में विषय का विस्तार करता है। इन तथ्यों के माध्यम से विवेचना और विश्लेषण के पश्चात उपसंहार-स्वरूप निष्कर्ष देता है। उदाहरण के लिये 'हिन्दी भाषा की भूमिका' से एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है 'वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं ब्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया। आरम्भ में उसका नाम रेख्ता पड़ा था। बहुत दिनों यही नाम रहा। पीछे हिन्दी कहलाई। कुछ और पीछे उसका नाम उर्दू हुआ। अब फारसी वेष में उसका उर्दू नाम ज्यों-का-त्यों बना हुआ रह कर देवनागरी अक्षरों में हिन्दी भाषा कहलाती है। पृ० १०५ पृ ११५नु नि विश्लेषणात्मक पद्धति में 'हिन्दी' शब्द की व्याख्या के पश्चात् निबन्धकार हिन्दी-उर्दू के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन भी करता है। विश्लेषणात्मक विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक शैली में लिखे गये निबन्धों में 'हिन्दी में बिन्दी' शीर्षक एक विशेष प्रकार का निबन्ध है। इस निबन्ध का उल्लेख वर्तमान प्रसंग में विशेष प्रयोजन से किया जा रहा है। इस निबन्ध में गुप्तजी भाषा की मरयात्मक क्षमता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुये इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि जब दो भिन्न भिन्न भाषायें एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, तो वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और दूसरी भाषा के शब्दों को अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार परिवर्तित कर या रूपान्तरित कर आत्मसात कर लेती हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने उर्दू शब्दों के शुद्ध उच्चारण हेतु देवनागरी में भी शब्दों के नीचे बिन्दी लगाने की रीति के प्रति आग्रह व्यक्त किया। परन्तु वह इस तथ्य की अवहेलना कर गयी कि फारसीलिपि और देवनागरी लिपि की मूल प्रवृत्ति में अन्तर है। दोनों भाषा भाषियों की उच्चारण प्रकृति में अन्तर है। अत नागरी प्रचारिणी द्वारा किया गया यह प्रयत्न सार्थक नहीं है। 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा हिन्दी में बिन्दी चलाना चाहती है। यह 'बिन्दी' अक्षर के ऊपर नहीं नीचे हुआ करेगी। ऐसी बिन्दी लगाने का मतलब यह है कि उसमें उर्दू शब्द हिन्दी में शुद्ध लिखे पढ़े जाय। हिन्दी में गाम्मी 'ज' होता है, और उर्दू में जीम ज़ाल ज़ और वही ज़े ज़्वाद और ज़े—इस

अंश में हम स्पष्ट देखते हैं कि निबन्धकार अति-सरल सूक्ष्म और स्पष्ट रूप से विषय का प्रतिपादन करता है अपने कथ्य को अति स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है। गुप्तजी की तथ्य अन्वेषिणी दृष्टि प्रस्तावित विषय के पूर्ण परीक्षण कर लेने के पश्चात् निष्कर्ष पर पहुँचती है। समस्या के औचित्य और अनौचित्य का मूल्यांकन वे वस्तु-परक दृष्टि से करते हुये अपने मन्तव्यों को प्रस्तुत करते हैं। 'उर्दू में ज़ीम ज़ाल ज़े और बड़ी ज़े ज़्वाद और ज़ोय होता है। हिन्दी में केवल 'ज' होता है। अतः केवल 'ज' के नीचे बिन्दी लगाने से इन भिन्न-भिन्न वर्णों का प्रतिनिधित्व किस प्रकार हो सकेगा ? इस ओर संकेत करते हुये गुप्तजी ने यथार्थ ही कहा है, 'ज़रूरत' 'ज़ाल' से होती है क़ायम 'ज़े' से और नज़र 'ज़्वाद' से और ज़ाहिर 'ज़ोय' से। नागरी-प्रचारिणी सभा के करने तक बिन्दी लगाने से सबका उच्चारण शुद्ध हो गया। परन्तु इसमें 'ज़ाल' ज़्वाद' और 'ज़ोय' की क्या पहचान रही ? यदि 'ज़्वाद' 'ज़ोय' का फ़र्क रखना मंजूर नहीं तो बिन्दी लगाने की ज़रूरत नहीं और यदि इन सबमें कुछ भेद समझा जाता है, तो फिर 'ज़ाल' 'ज़्वाद' 'ज़ोय' की कुछ पहचान रखनी चाहिए'। गुप्त निबन्धावली० पृ० १५०। ऊपर के उद्धरणमें व्यक्त गुप्तजी के निष्कर्ष से हमारा किसी प्रकार का मतभेद नहीं हो सकता। भाषा सम्बन्धी निबन्धों में अपनी मान्यता की प्रामाणिकता के संस्थापन हेतु और तर्कपूर्ण बनाने के लिये निबन्धकार उद्धरण शैली का नियमित प्रयोग करता है। इस प्रक्रिया का प्रभाव उनकी शैली पर एक विशेष प्रकार से पड़ा है। उद्धरणों के प्रति अतिशय आग्रहशील हो जाने के कारण विषय की प्रधानता शिथिल होने लगती है और वह विषय-प्रतिपादन की मुख्य धारा से खण्डित भी होने लगता है तथा विषय की प्रधानता भाव प्रधानता में परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिये 'हिन्दी भाषा की भूमिका' शीर्षक निबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है। इस निबन्ध का आरम्भ ( अपने अन्य निबन्धों के समान ) निबन्धकार विषय प्रस्तावना के साथ वर्णनात्मक शैली में करता है हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास का ऐतिहासिक क्रम भी प्रस्तुत करता है। परन्तु तथ्य के निरूपण में जिन उद्धरणों का प्रयोग वह करता है उनके माध्यमसे हिन्दी भाषामें उपलब्ध प्राचीन साहित्यके साथ सौन्दर्य मूल्यांकन सा हो जाता है पर भाषा विषयक विवेचन गौण हो जाता है अन्य अतः निबन्ध के केन्द्रीय भावसे वह क्रम दूर चला जाता है। यथा 'हिन्दी भाषाके विकासमें अमीर खुसरोकी भाषा के योगदान और उनके महत्वका वर्णन करते हुए निबन्धकार उनके

काव्य में उपलब्ध भाव सौन्दर्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, परन्तु दूसरों की भाषा का हिन्दी के विकास में ऐतिहासिक महत्त्व क्या है, इस विषय पर वह मौन है। भावों के आवेग के कारण ही ऐसे स्थलों की सर्जना इन तथ्यपरक निबन्धों में निबन्धकार के लिये एक अनिवार्य आग्रह बन गयी है। यथा—

ज़ी हाले मिसकीं मकुन तगाफुल
दुरायनैना बनायबतियाँ
कि ताबे हिजरां न दारम ऐ जां न लेहु काहे लगायें छतियाँ
शबाने हिजरां दराज़ चू जुल्फ़ो रोजे वसलत चुउम्र कोताह
सखी पिया को जो मैं न देखूं, तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ

यहाँ उद्धरण देकर निबन्धकार इस प्रकार भाव-सौन्दर्य पर अपने विचार व्यक्त करता है, 'यह बात भी लक्ष्य करने योग्य है कि इस गज़ल में स्त्री अपने पिया के वियोग का वर्णन करती है। संस्कृत और भाषा के कवियों की यही चाल है। वह स्त्री की ओर से अपने पति के विरह की कविता करते हैं। फारसी के कवियों की चाल इससे भिन्न है। वह पुरुष का विरह वर्णन करते हैं वह भी स्त्री के विरह में पागल नहीं होता वरञ्च बहुधा किसी बालक के विरह में प्रलाप करता है। गुप्त निबन्धावली पृ० ११९

इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में मिल जाते हैं। परन्तु समग्रता और प्रभावान्विति की दृष्टि से निबन्ध अत्यन्त सशक्त हैं कारण भावात्मक आवेगों के प्रभाव की समाप्ति के पश्चात् निबन्धकार पुनः विचारों के समतल धरातल पर आ जाता है और विषय के मूल में प्रवेश कर पुनः तथ्यों के उद्‌घाटन की असफली चेष्टा करता है। हिन्दी भाषा के विकास क्रम वह अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास क्रम के सन्दर्भ में देखता है उसके स्वरूपधारण में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के योगदान के सम्पूर्ण तथ्यों का वर्णन करता है। इस अवसर पर हम पुनः गुप्तजी की इतिहासपूर्ण दृष्टि के प्रति साभार नत हो जाते हैं कारण जिस युग में गुप्तजी ने लिखना आरम्भ किया था उस युग के साहित्यिकों विशेष कर निबन्धकारों और आलोचकों के सम्मुख उनकी अपनी-अपनी सीमायें और असमर्थतायें थीं। भाषा की शक्ति उन्हें उपलब्ध नहीं हो सकी थी और

विषय और शैली इन दोनों के लिये यह प्रयोगकाल था। प्रयोगकाल की रचनायें अव्यवस्थित अपूर्ण और शिथिल होती हैं। परन्तु खड़ी-बोली के उस प्रयोग-काल में ही बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी भाषा के विकास पर निबन्ध प्रस्तुत कर 'भाषा के स्वरूप-अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली का सूत्रपात किया। इस सम्बन्ध में इनका अध्ययन अतिप्रौढ़ तर्क-सम्मत और भाषा विज्ञान के कतिपय मान्य सिद्धान्तों से समर्पित है। हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास की चर्चा करते हुए गुप्तजी उन ध्वनिगत परिवर्तनों का उल्लेख करते हैं जिनके आधार पर हिन्दी का उद्भव और विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का अवलम्ब ग्रहण करते हुए हुआ है। साथ ही इसके विकास क्रम में उपलब्ध होनेवाले विदेशी तत्वों के प्रभाव और उनके योग-दान के महत्व पर भी उन्होंने स्पष्ट-रूप में विचार किया है। ऊपर दिये गये वक्तव्य की प्रामाणिकता-हेतु 'हिन्दी भाषा' शीर्षक निबन्ध से एक अंश यहाँ दिया जा रहा है 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज की वीरता का कीर्तन है। उसके पढ़ने से विदित होता है कि उस समय की हिन्दी भाषा कैसी विचित्र थी इससे पर आश्चर्य की बात यह है कि अरबी फारसी के शब्द उसमें बहुतायत से घुसे हुए हैं ---उदाहरण की भाँति चन्द की कविता में से कुछ टुकड़े उद्धृत किये जाते हैं—

मार फौज को दूर है तापर उलट 'मसाफ' ।
तो देखी मीरां तहाँ तन में उठी म्याफ ।
जिहि दूर मल बंध सेर पैंतीस जु सक्कर,
बल मरदा वहि साथ चली एक मोरी बक्कर ।
'गुर्ज' 'तोप' आल 'उजबक' माल मीरां प्रधान
पुनि मुद्द भाम
चालीस दून जिम पीठ दाम चालीस दून दर
कष्ट भाम ।

गुप्त निबन्धावली पृ० ११५

इस प्रकार का उदाहरण देने के पश्चात् निबन्धकार भाषा में आये हुए शब्दों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न करता है—यथा 'मसाफ' 'तेग' 'मुल्तान काबूल' आदि फारसी के हैं और उजबक तुर्की का शब्द है। ११०

निबन्धकार इस प्रकार के सन्दर्भ से ही विषय का समापन नहीं करता अपितु विश्लेषण और वर्गीकरण प्रणाली द्वारा तथ्योंका समाधानका प्रयत्न भी करता है।

विश्लेषण की इस विधा से वस्तु का संश्लिष्ट और सम्यक रूप-विधान होता चलता है। 'पृथ्वीराज रासो' के भाषा-स्वरूप का विश्लेषण और वर्गीकरण करते हुए निबन्धकार, उस युग में प्रचलित काव्य-भाषा के स्वरूप का भाषा के स्तरों का परिचय देकर भाषा के स्वरूप अध्ययन की एक विशिष्ट परन्तु वैज्ञानिक प्रणाली की स्थापना करता है। यथा 'उसकी भाषा में तीन प्रकार के नमूने मिलते हैं। एक संस्कृत के ढंग की भाषा जो पढ़ने में संस्कृत ही सी मालूम पड़ती है, पर अशुद्ध है और उसमें हिन्दी मिली हुई है। यथा—

स्वस्ति श्री राजंग राजन वरं धर्म्माधि कर्म्मं गुरु ।
इन्द्रप्रस्थ सुदम्म इंद समर्थ राजं मुरं वर्द्दते ।
अरदासं तत्तारखान खिखियं मुल्तान मोर्च करं ।
तुम बहु बहाइ राजन मुरं राजाधिपोराजनं । पृ० नि० ११८

इस प्रकार के उद्धरण देने के बाद निबन्धकार व्यक्तिगत टिप्पणी द्वारा अपने कथन को यथासंभव बोधगम्य और सरल बनाने का प्रयत्न करता है। यथा 'अर्जदाश्तको अरदास बनाकर संस्कृत करने के लिये अरदासं कर लिया है। दूसरी प्राकृत ढंग की भाषा है। उसमें धम्म कम्म आदि शब्द हैं। दूसरी भाषाओं के शब्द भी इसी सांचे में ढालकर उक्त भाषा में मिला लिये गये हैं। उजबक को उज्जबक्क कमान को कम्मान सुलतान को सुरत्तान कबच को कबच्च बना डाला। तीसरा नमूना सरल भाषा का है। यह ब्रज भाषा में बहुत मिलती जुलती है वही सरस स्वच्छ और सरल होकर शुद्ध ब्रजभाषा बनी होगी। पृ० ११९

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में 'आधुनिक भाषा विज्ञान' की परम्परा का शिलान्यास हुआ। इस शिलान्यास में पाश्चात्य विद्वानों विशेषकर पिंसल ज्यूल्स ब्लाख केलाक बीम्स हार्नले आदि भाषा वैज्ञानिक के प्रयत्न महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। परन्तु गुप्तजी द्वारा हिन्दी भाषा के स्वरूप-अध्ययन और विश्लेषण इन भाषा वैज्ञानिकों के प्रयत्नों (अपनी सीमा में) के समान ही महत्वपूर्ण हैं। मैं इस सत्य की ओर हिन्दी भाषा विज्ञान के मर्मज्ञों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। हिन्दी भाषा से सम्बन्धित गुप्तजी के निबन्धों का उचित मूल्यांकन अपेक्षित है।

हमारे देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है इस प्रकार का मत व्यक्त करते हुये अपने 'भारत की राष्ट्र भाषा' शीर्षक निबन्धमें गुप्तजीने हिन्दी भाषाके स्वरूप और महत्व का मूल्यांकन राष्ट्रीय सन्दर्भ में किया है। अपने मूल्यांकन में गुप्तजी ने हिन्दी के अतिरिक्त अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के महत्व की भी चर्चा की है। राष्ट्रकी एकता के निर्माण में अन्य प्रादेशिक भाषायें हिन्दी भाषा के समान ही महत्वपूर्ण हैं अतः उन्होंने हिन्दी भाषा भाषियों को इन प्रादेशिक भाषाओं के प्रति आकर्षित होने और उनके प्रति आस्थावान होने का आग्रह किया है। प्रयाग से बंगला भाषा में निकलने वाले 'प्रवासी' पत्र के सम्पादक ने यह कहा था कि भारत की एकता के निर्माण में भारतकी भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषायें महत्वपूर्ण योग देने की क्षमता रखती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन भाषाओं में सम्पर्क स्थापित किया जाय और यह सम्पर्क देवनागरी लिपि के माध्यम से सम्भव है 'बंगला हिन्दी देवनागरी लिपिके माध्यम से एक पत्र निकले तो कैसा हो? चारों भाषायें अलग-अलग रहें मगर केवल देवनागरी हो- गुजराती और मराठी हिन्दी के अक्षर नागरी या देवनागरी हैं। बखेड़ा है केवल बंगाली अक्षरों के लिए। पर इस पत्र में बंगला अक्षरों की जगह देवनागरी अक्षर रहें तो क्या कुछ विशेष हानि होगी। गुप्तजी ने इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुये इन शब्दों में अपनी प्रसन्नता व्यक्त की 'हम इसका अनुमोदन करते हैं निश्चय ही जब भाषायें एक ही अक्षरों में एक पत्र में छपेंगी तो धीरे-धीरे वह बहुत मिल-जुल जायेंगी' उक्त पत्र के पाठक भी चारों भाषाओं के जानने सीखने की चेष्टा करेंगे मचमुच भारतवर्ष के लिये एक देश व्यापी भाषा की बहुत जरूरत है भारतवासियों के पास इस समय कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसमें सब प्रान्तों के लोग बातें कर सकें। पृ० १५८

गुप्तजी की चेतना दूर दर्शी थी। देश के जन-जन में राष्ट्रीय भावना का स्फुरण उनमें व्याप्त भावमिश्र एकता और चिन्तन की एकता के कारण ही सम्भव है। यह एकता भाषा के माध्यम से ही सम्भव हो सकती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि देश की एक भाषा हो और देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं की लिपि देवनागरी हो। गुप्तजी की धारणा है कि यूरोप में यदि अलग भाषायें बोली जाती हैं परन्तु अलग-अलग देशों के निवासी होने पर भी यूरोप-निवासियों से नहीं हैं। अतः हमारे लिये यह शोभित है कि हम भारत की भाषा के रूप में हिन्दी और

उसकी लिपि नागरी को अवलम्ब स्वीकार करें, यूरोप में १९ देश हैं। सब की भाषा प्रायः अलग अलग है पर अक्षर एक है। जिन अक्षरों में अंग्रेजी लिखी जाती है उन्हीं में फरान्सीसी और जर्मन आदि भाषायें भी लिखी जाती हैं रूमी रूस और इटली की भाषायें भी इन्हीं अक्षरों में लिखी जाती है पर भारतवर्ष के अक्षरों की विचित्र गति है यहाँ भाषा एक होने पर भी अक्षरों की गति निराली है' देवनागरी अक्षर 'भारतमित्र' १९०२ जमाना (अप्रेल-मई १९०७) में हिन्दुस्तान में एक रस्मुल खत'[1] शीर्षक अपने निबन्ध में इस विचारधारा को अधिक विस्तार के साथ प्रतिपादित किया है इस निबन्ध से हमें कई आवश्यक सूचनायें भी मिलती हैं।[2] जस्टिस शारदाचरण मित्र ने १९०५ में अंग्रेजी की पत्रिका 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में भारत की भाषाओं के लिये देवनागरी लिपि के स्वीकार किये जाने का आग्रह करते हुये एक निबन्ध लिखा था ( यह निबन्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट और सिण्डीकेट के सामने पढ़ा भी गया था। उस सभा में सर गुरुदास भी थे और उन्होंने शारदा चरण मित्र के विचारों का समर्थन किया था )।[2] इस निबन्ध की प्रेरणा से कलकत्ते में 'एक लिपि विस्तार परिषद्' की स्थापना हुई (विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के प्रिंसिपल पाण्डेय उमापति दत्त शर्मा इसके सेक्रेटरी और महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए० इसके असिस्टेण्ट सिक्रेटरी हुये)। इस परिषद् ने 'देवनागर' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इसमें हिन्दी बंगला मराठी गुजराती उर्दू उड़िया तामिल आदि भाषाओं के लेखकों की रचनायें प्रकाशित होती थी। परन्तु इन समस्त भाषाओं की रचनाओं के लिये देवनागरी लिपि का प्रयोग किया गया। ४ २९ दिसम्बर सन् १९०५ ई० को बनारस में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की ओर से एक सभा हुई जिसमें भारत की समस्त भाषाओं के लिये देवनागरी लिपि के स्वीकार किये जाने का आग्रह किया गया। इस सभा के सभापति थे श्री रमेशचन्द्र दत्त सी आई० ई०। इसी समय बंगाल में लिपि-सम्बन्धी एक अन्य आन्दोलन चलाने की चेष्टा की जा रही थी। इस आन्दोलन के समर्थक भारत की भाषाओं के लिये 'रोमन लिपि' का समर्थन कर रहे थे परन्तु यह आन्दोलन अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका। भाषा और

१ हिन्दुस्तान में एक लिपि

२ देखिये—हिन्दुस्तान में एक रस्मुलखत—शीर्षक निबन्ध—बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली—प्रथम भाग पृ० १८७

लिपि-सम्बन्धी इन विचारों से हमें एक प्रकार की प्रेरणा और उत्साह मिलता है। 'हिन्दी राष्ट्रभाषा' और 'देवनागरी लिपि' को लेकर आज देश में जो विरोधी वातावरण चल रहा है उसकी सार्थकता का खण्डन ऊपर की पंक्तियों में दिये गये विश्लेषण से हो जाता है। बालमुकुन्द गुप्त ने अपने भाषा-सम्बन्धी निबन्धों में जिन तथ्यों और विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख किया है, उससे हमें ज्ञात होता है कि हिन्दी भाषा आधुनिक भारत की राष्ट्रीय भावना के साथ सम्बद्ध है। ये निबन्ध हमारे सम्मुख एक युग विशेष को मुखरित कर देते हैं उस युग का जिसमें देश अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त होने की बलवती प्रेरणा से शक्ति संचय कर रहा था उस युग का जिसमें एक वर्ग विशेष हिन्दी भाषा के माध्यम से ही राष्ट्र-संगठन की परिकल्पना कर हिन्दी के विकास और प्रसार की चेष्टा में विविध दिशाओं से शक्ति-संचय कर रहा था। इस वर्ग के चिन्तकों में जिस प्रकार की भावना काम कर रही थी उसका परिचय निम्नलिखित उद्धरण से मिल जाता है—'क्योंकि कौमियत तैयार करने के लिये एक जुबान का होना लाजमी है। एक जुबान होने के मुर्दैन तो ही आप अपना ख्यालात दूसरों पर जाहिर कर सकते हैं। मनुजी ने भी कहा है कि हर एक पैदा हुआ जबान ही से होता है। बस अगर कौमको एक धागे में बांधना है तो पहिले उसके लिये एक जुबान पैदा करो।'

श्री बालमुकुन्द गुप्त के 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक निबन्ध का उल्लेख किया जा चुका है। इस सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती नवम्बर १९०५ भाग ६ संख्या ११ में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा। इस लेख में द्विवेदी जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा बालकृष्ण भट्ट आदि की भाषाओं में व्याकरण पदों कर्म क्रिया लिंग तथा विभक्ति सम्बन्धी दोषों की ओर संकेत करते हुये लिखा भाषा की अनस्थिरता प्राप्त हो गई है। 'अनस्थिरता' अशुद्ध शब्द है इसका शुद्ध रूप है अस्थिरता। गुप्तजी ने इस शब्द का आधार ग्रहण करते हुए आत्माराम के नाम से दस निबन्ध लिखे जिनमें द्विवेदी जी की रचनाओं में उपलब्ध दोष वाली भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों का निर्देश करते हुये गुप्तजी ने द्विवेदी जी की भाषा की आलोचना की। इन दस निबन्धों के अतिरिक्त इन्होंने आत्मारामीय टिप्पणी (१) अनस्थिरता' और आत्मारामीय टिप्पणी (२) 'अपने तौर पर' दो निबन्ध लिखे।

---

२ प्रताप    ३ इन    ४ हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रमत पृ० १०८

गुप्तजी के ये निबन्ध व्याख्यात्मक आलोचनात्मक और तार्किक शैलियों में लिखे गये हैं। व्याख्यात्मक शैली में निबन्धकार अपने विषय की व्याख्या करता है। इस व्याख्यात्मक शैली में प्राय: एक व्यंग्यात्मक भूमिका भी संलग्न रहती है जिसके साथ विनोद का संयोग भी रहता है। यथा 'जो लोग हैं समझते थे कि हिन्दी भाषा एक दम लावारिस है कोई उसका मुरब्बी या सर परस्त नहीं है वह यह खबर सुन कर खुश होंगे कि वास्तव में उक्त भाषा माता-पिता विहीन नहीं है। गत नवम्बर मास की सरस्वती को देखने से विदित होता है कि उक्त पत्रिका के सम्पादक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी भाषा के संरक्षक या वारिस दोनों में से कुछ एक हुये हैं ग्राम पाठशाला के मुदर्सी की भाँति द्विवेदी जी ने 'क' 'ख' 'ग' से ही अपना लेख आरम्भ किया है—बड़ी सरलता से आप फरमाते हैं—'मन में जो भाव उदित होते हैं वे भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किये जाते हैं। मन की बातों को प्रकट करने का प्रधान उपाय भाषा है' क्या कहाइये हिन्दी समझाने की चेष्टा आपने की है वाह ! वाह ! आप न समझाते तो यह गूढ़ विषय कौन समझकर हिन्दी साहित्य का उपकार करता सचमुच जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे नर चमकी हों उस अभागी का विनाश ही होना है ? हम देखते हैं कि गुप्तजी महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों से उद्धरण देकर उन पर आलोचना-प्रत्यालोचना करते हुये उन पर 'क्या' 'वाह' 'वाह' 'धन्य हो' 'क्या कहना' आदि शब्दों में व्यंग्य करते हैं। प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों में भी इसी प्रकार की कटूक्तियाँ और व्यक्तिगत आक्षेप पूर्ण शैली का प्रयोग मिलता है। वास्तविकता यह है द्विवेदी युग के आलोचकों और निबन्धकारों ने इस शैली का प्रयोग अति मुक्त रूप से किया है।[1]

बालमुकुन्द गुप्त महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त अनुद्ध शब्दों और व्याकरण रूपों को उद्धरण-रूप में प्रस्तुत कर उनके शुद्ध रूपों की प्रस्तावना करते हैं। परन्तु इसके साथ ही साथ उनके *व्यक्तित्व का उपहास भी करते हैं* उसमें

---

१ तुरन्नीय याज्ञिक जी महाराज उधर तो आपने व्यर्थ ही सर उठाया है। यह आपकी समझ से बहुत दूर की बात है। वहाँ आपके लिये अंगूर खट्टे हैं शाबाश पट्ठे शाबाश आखिरकार श्रीमती एलोपैथी जी के एक बच्चा तो ऐसा निकला जिसने जरा चेंचें शुरू किया—साहित्य समालोचक—संवत् १९८३ हिमन्त अंक

विषय-पक्ष गौण हो जाता है और व्यक्तिगत आक्षेप की भावना प्रधानता धारण कर लेती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत वे पहले द्विवेदी जी के निबन्ध से एक अंश उद्धृत करते हैं—'मनुष्य और पशु-पक्षी आदि की उम्र देश-काल-अवस्था और शरीर-बन्धन के अनुसार जुदा-जुदा होती है। इस अंश में प्रयुक्त 'उम्र' और 'है' शब्दों के प्रयोग पर गुप्तजी आपत्ति प्रकट करते हैं। उनका कथन है कि 'उम्र' के स्थान पर 'उम्रें' और 'है' के स्थान पर 'हैं' चाहिये। परन्तु इस रूप में न कह कर वे इस प्रकार कहते हैं 'कोई पूछे जनाब व्याकरण और साहब उम्र जुदा-जुदा होती है या उम्रें जुदा-जुदा होती हैं ? जुदा-जुदा होती है कि न्यूनाधिक होती है ? एक बार सिंहावलोकन तो कीजिये जरा, अपनी कमाई हिन्दी से मिलाकर तो देखिये कौन सी बात ठीक है ? ४३५। इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक वाक्य है मन में जो भाव उदित होते हैं वे भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किये जाते हैं इस कथन पर गुप्तजी अपना अभिमत इन शब्दों में देते हैं—'क्यों जनाब भाषा की सहायता से मन के भाव दूसरों पर प्रकट किये जाते हैं या भाषा से ? आप टाँगों की सहायता से चलते हैं या टाँगों से ? आँखों की सहायता से देखते हैं या आँखों से महावीर प्रसाद द्विवेदी के वाक्यों को उद्धृत करते हुये वे कोष्ठकों में अपने वक्तव्यों को रख कर उन पर टिप्पणी भी करते हैं उन पर परिहास करते हैं—'यहाँ हम व्याकरण विरुद्ध हिन्दी रचना के दो चार उदाहरण देना चाहते हैं (पाठक कष्ट न करें आपका पूरा लेख ही उसका उदाहरण है।) पर निकम्मी रचना के उदाहरण हैं (कौन से प्रभु अभी तो पेट ही में विराजमान हैं। वह भी यहाँ बड़ा तमाशा चाहता है)। पृ० ४५१— इस प्रकार वे कभी-कभी गाम्भीर्य सहृदयता तथा शिष्टता का ध्यान नहीं रखते हैं। परन्तु इन निबन्धों में अनेक स्थलों पर हास्य और व्यंग्य का निर्विकारिक स्वरूप भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार से प्रयुक्त हास्य और व्यंग्य प्रभावात्मक है इसमें व्यंग्य ध्वनि गाम्भीर्य और सूक्ष्म होता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने वक्तव्य में हर्बर्ट स्पेन्सर का उल्लेख किया है। उस उल्लेख का सन्दर्भ देते हुए गुप्तजी ने इस प्रकार व्यंग्य किया है हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने System of Philosophy के आरम्भ में विज्ञान के दो विभाग किये हैं—The unknowable The knowable उसी प्रकार द्विवेदीजी ने भाषा और विज्ञानी के दो विभाग किये हैं—अनस्थिरता और 'स्थिरता', 'अन' हरबट स्पेन्सर का यहाँ भी है और द्विवेदीजी

के यहाँ भी। हृबर्ट स्पेन्सर के Education में हमें Unorganizable शब्द मिला। यह भी द्विवेदीजी की मनस्थिरता कुंडमका है। Unthought uncivilised आदि शब्दों में द्विवेदी महाराज का 'मन' मौजूद है। 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक निबन्ध में दो प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं। प्रथम गवेषणात्मक शैली जिसमें वाद-विवाद नहीं है और इसमें कथन तथा वक्तव्यों की पुष्टिके लिये पर्याप्त प्रमाण संकलित किये गये हैं। द्वितीय प्रकार की शैली चिन्तनात्मक है और इसके अधिकांश अंश वादविवादात्मक है। इसमें अपनी बात की पुष्टि और विपक्षियों की मान्यताओं के खण्डनके लिये तर्क का सहारा लिया गया है। वस्तुतः ये निबन्ध शास्त्रार्थ पद्धति में लिखे गये हैं साथ ही साथ इनमें व्यंग्य और हास्य का पूर्ण विकसित रूप भी देखने को मिल जाता है। लक्षणा और व्यञ्जना से यह शैली पुष्ट है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी और बालमुकुन्द गुप्त के मध्य चलने वाले वाद-विवादों का धरातल विषय-पक्ष से नीचे उतर कर व्यक्तिगत् पक्ष पर आ गया था। फलस्वरूप इन दोनों के प्रयत्न और साधना से विकसित और परिपक्व होने वाले भाषा-स्वरूप को आंशिक रूप से आघात भी लगा। इसके युग का साहित्यिक वातावरण अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठा था और साहित्य सर्जना की प्रक्रिया विशृंखलित भी होने लगी थी।

विषय की दृष्टि से बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों का तृतीय वर्ग समीक्षात्मक निबन्धों का है, जिनमें 'हिन्दी में आलोचना 'अमुमती नाटक' 'तुलसीसुधाकर' 'प्रवासी की आलोचना' 'नाट्य उपन्यास' 'पुस्तके हिन्द' 'कविता पर कविता' 'गीत का अर्थ' 'तेइसवाँ वर्ष शीर्षक लेख विशेष महत्व के हैं। इन निबन्धों के माध्यम से गुप्तजी ने अपने युग में आलोचना और आलोचनात्मक निबन्ध-लेखन की वैज्ञानिक-विधा का शिलान्यास किया। इन में विषय का प्रतिपादन अति सांकेतिक परन्तु स्पष्ट रूप में हुआ। इन निबन्धों से यह भी प्रमाणित होता है कि बालमुकुन्द गुप्त अपने युग की साहित्यिक गति-विधि से पूर्णतः परिचित थे और हम यह भी देखते हैं कि वे एक सबल और निष्पक्ष आलोचक की प्रतिभा से मण्डित थे। वे आदर्श और मर्यादा के संरक्षण में पूर्ण विश्वास रखते थे। गुप्तजी के इस विश्वास ने उनके आलोचनात्मक निबन्धों का भी नियमन किया है।

आलोचनात्मक निबन्धों में भी गुप्तजी की दृष्टि तथ्य-अन्वेषणी ही रही है और आलोचना में आलोच्य विषय के केन्द्रीय भाव या पैम्य के उद्घाटन में ही वे

सचेष्ट रहे हैं। फलस्वरूप इन आलोचनात्मक निबन्धों का वातावरण अति सजीव और ओजमय है। और उनके साथ हम अति सहज रूप में तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। इनमें निबन्धकार के आलोचना सिद्धान्तों और विश्लेषण दृष्टि के अति स्पष्ट स्वरूप उपलब्ध होते हैं। इससे यह भी विदित होता है कि गुप्त जी एक सचेत आलोचक के दायित्वों से पूर्ण रूप से परिचित थे। उनके युग में आलोचना की मान्य-प्रणाली बहुत स्वस्थ वैज्ञानिक और न्याय पूर्ण नहीं थी। कृतियों के गुण-दोष विवेचन की अपेक्षा कृतिकारों के जीवन के व्यक्तिगत पक्ष के विविध रूपों का उद्घाटन ही आलोचना का उद्देश्य बनता जा रहा था। आलोचना का अर्थ कृतिकार के व्यक्तित्व की निन्दा अथवा प्रशंसा बन गया था। उस युग में आलोचना का क्या स्वरूप था इसका परिचय गुप्तजी के इस कथन से मिल जाता है 'आलोचना की रीति अभी हिन्दी में भलीभांति जारी नहीं हुई है और न लोग इसकी आवश्यकता को ही ठीक समझते हैं। इससे लोग आलोचना देखकर घबरा जाते हैं और बहुतों को बहुत अप्रिय लगती है, यहां तक कि जो लोग स्वयं इस मैदान में कदम बढ़ाते हैं अपनी आलोचना होते देख बड़े दुर्मन हो जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में गुप्तजी आगे आलोचक के दायित्व की चर्चा और संकेत करते हुए कहते हैं आलोचक में केवल दूसरों की आलोचना करने का साहस ही नहीं होना चाहिए बल्कि अपनी आलोचना दूसरों से सुनने और उसकी तीक्ष्णता सहने की हिम्मत होनी चाहिए। जिस प्रकार वह समझता है कि मेरी बातों को दूसरे ध्यान से सुनें उसी प्रकार उसे स्वयं भी दूसरों की बातें बड़ी धीरता और स्थिरता से सुनना चाहिए। बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृ० १३१। इस प्रकार गुप्तजीने आलोचना में संतुलन के प्रति आग्रह प्रकट किया है आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह वस्तुनिष्ठ और तटस्थ होकर आलोच्य विषय के गुण और दोष का विश्लेषण करे, उसका उचित निर्देश करे। इस सन्दर्भ में गुप्तजी की आलोचना सम्बन्धी मान्यता को समझने के लिये उनका एक अन्य कथन यहाँ उल्लेखनीय लगता है। भारतमित्र का सम्पादक आज ही का नहीं सब हिन्दी वालों का है। अतः वह सब हिन्दीवालों का उत्साह बढ़ाने की चेष्टा किया करता है हिन्दीवालों का बराबर तरफदार रहता है कथन इतना अवश्य करता है कि जो लेखी उसे बुरी नीति और सभ्यता के विरुद्ध जंचती या जिस लेखी से वह हिन्दुओं की हानि समझता है उसके बनाने वाले को टोक देता है जिसमें वह वैसा करने से बाज रहे। (१९०६ काशी के 'भारत जीवन' के सम्पादक रामकृष्ण वर्मा के नाम का एक पत्र)।

आलोचना का प्रमुख धर्म होता है नवलेखन को प्रोत्साहन देना साथ ही साथ नवलेखन के नाम पर जाग्रत होने वाली अराजकता का नियंत्रण भी करना। अपने सुयोग साहित्यिक नवचेतना को लेकर विकसित होने वाली प्रतिभाओं के विकास में गुप्तजी ने अपना सशक्त सहयोग दिया साथ ही साथ नवांकुरण के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी शक्तियोंका गुप्तजी ने विरोध भी किया। अपनी आलोचना के माध्यम से अपने सम्पादकीय लेखों से गुप्तजी ने नवीन लेखकों की रचनाओं का प्रचार और प्रसार भी किया। इस प्रकार गुप्तजी अपने आप में एक संस्था बन गये थे। इस सन्दर्भ में हमें श्रीधर पाठक का स्मरण हो आता है। श्रीधर पाठक ने 'गोल्ड स्मिथ' के 'हरमिट' और 'डेजर्टेड विलेज' का अनुवाद किया था। यह अनुवाद इस युग की एक विशेष उपलब्धि था जिसमें अनुवादक की मौलिक प्रतिभा भी दर्शनीय थी। हिन्दी में आने के पूर्व ही गुप्तजी ने उर्दू 'कोहेनूर' में इन कृतियों पर परिचयात्मक और आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। अपने निबन्धों में इन्होंने श्रीधर पाठक की प्रतिभा की प्रशंसा की साथ ही साथ उर्दू वालों के सम्मुख हिन्दी भाषा की शक्ति और क्षमताका उद्घाटन भी किया। इस प्रकार श्रीधर पाठक को काव्य सर्जनमा की नवीन प्रेरणा भी मिली। 'कोहेनूर' में गुप्तजी ने श्रीधरपाठक के विषयमें जो कुछ लिखा उसमें एक अंश यहां उध्दृत किया जा रहा है। इस अंश से ऊपर दिये गये वक्तव्य का स्पष्टीकरण हो जायेगा "पण्डित श्रीधरपाठक साहब इलाहाबादी जिन्होंने सालगुजीस्ता में गोल्डस्मिथ के हरमिट' का तर्जुमा हिन्दी में किया था और जिसका रिव्यू दर्ज कोहेनूर में हुआ था इस साल उन्होंने उसी विलायत के मशहूर शायर गोल्डस्मिथ की एक आला दर्जे की एक मशहूर नज्म डेजर्टेड विलेज का तर्जुमा भी हिन्दी आला दर्जे की मीठी है। खूबी यह की लफ ज ब लफ ज तर्जु मा उजड़ग्राम के नामसे किया है तर्जुमा है और फिर इतना साफ है कि अगर असल किताब भी खूब तूरनी देखी जाय तो इससे ज्यादा नहीं है और अगर श्रीधरजी अपने ही ख्यालात को अदा करते तो भी इससे उम्दा न कर सकते। इस प्रकार की आलोचना से श्रीधर पाठक को कितनी शक्ति मिली होगी इसकी अनुभूति हम स्वतः कर सकते हैं।

प्रत्येक युग में साहित्य के सन्दर्भ में ( और जीवन के प्रत्येक सन्दर्भ में ) दो प्रकार की प्रतिभायें होती है। प्रथम की प्रतिभा मौलिक होती है। इस

प्रकार की प्रतिभा से किसी युग-विशेषकी साहित्यिक प्रक्रिया का मूल्यांकन होता है। द्वितीय कोटि की प्रतिभा यद्यपि मौलिक नहीं होती परन्तु मौलिक प्रतिभा की छाया में क्रियाशील होने के कारण इस से सर्जित साहित्य का भी स्थायी महत्त्व होता है। इसके अतिरिक्त तृतीयकोटिके रचनाकार भी होते हैं (मत्स्यवत् इनकी संख्या अति व्यापक होती है)। और इस कोटिके रचनाकार दूसरों की कृतियोंका अनुकरण ही नहीं करते अपितु दूसरों की रचनाओं को अपने नाम से प्रकाशित करनेमें भी संकोच नहीं करते और यश प्राप्ति की मरीचिका के पीछे लालायित रहने के कारण असमर्थित व्यवहार भी करते हैं। बालमुकुन्द गुप्त के युग का साहित्यिक वातावरण भी इस दोष से मुक्त नहीं था। गुप्तजी ने इस प्रणाली या साहित्यिक चोरी को दूषित मानते हुए, इस प्रवृत्ति की निन्दा ही नहीं की अपितु इस प्रवृत्ति पर मतसमर्थन करनेवाले साहित्यिकों पर कठोरतम आघात किया। और इस वृत्ति से साहित्य के वातावरण को मुक्त करने का निरन्तर प्रयास किया। इस तथ्य पर विचार करते समय गुप्तजी के 'कविता पर कविता' शीर्षक निबन्ध का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इस निबंध में गुप्तजी ने पटना निवासी सुशीलजी विरचित 'ऊजड़ गाँव' 'ऋतु तथा यात्री' नामक रचनाओं की आलोचना की है। ये रचनायें सुशीलजी ने सन् १८९९ ई० में गुप्तजी के पास समालोचनार्थ भेजी थीं। ये इनियो श्रीधर पाठक की कृतियों की अनुकृति थीं। गुप्तजी ने सुशीलजी के इस आचरण की निन्दा की। उन्होंने पाठकजी और सुशीलजी की कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया और सुशीलजी के व्यवहार को स्तुत्य और प्रशंसनीय नहीं माना। एक ही कवि के दो भिन्न-भिन्न अनुवाद हो सकते हैं परन्तु अनुवादों की छन्द-योजना भाव भूमि तथा और भाषा में एकरूपता सम्भव नहीं। अतः इस प्रवृत्तिकी निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा "इससे देखा कि सुशीलजी की दोनों पुस्तकें पाठकजी की पुस्तकोंकी नकल के सिवाय और कुछ नहीं है अथवा क्या एक बात की है? रंग में ढंग में छन्द में—भाव में नकल ही नकल मौजूद है। यदि न्याय से देखा जाय तो सुशीलजी ने अच्छे कवियों के करने योग्य काम नहीं किया। भारतमित्र—अगस्त १८९९। इसी प्रसंग में गुप्तजी ने आगे जो कुछ लिखा है उससे उनकी आलोचना के स्वस्थ रूप का स्पष्टीकरण हो जाता है "हम चाहते हैं कि हमारे देश के सुलेखक और कवि दूसरे देश के सुलेखक और कवि के जूठे पर गिरने की आदत छोड़ें। हम सुशील जी को अच्छा कवि

समझते हैं। उनमें अच्छे ग्रन्थ बनाने की शक्ति है यह भी मानते हैं। इसीसे हमने उनको इतना लिखा। यदि वह अपनी पुस्तकों की भूमिका में मीबरजी पाठक की पुस्तकों की कुछ बात कह जाते तो भी उनपर इतना दोष न रहता।"

हम स्पष्ट देखते हैं कि गुप्तजी की आलोचना सम्बन्धी मान्यता अति व्यापक स्वस्थ और सृजनात्मक थी। जीवन के प्रति आस्थावान होने के कारण वे सदभावना और उच्चविचारों को ही साहित्य का मापदण्ड मानते रहे हैं। जिन कृतिकारों की रचनाओं में इन तत्वों की अवहेलना या उपेक्षा की गई उन्हें गुप्तजी अपना समर्थन नहीं दे सके। गुप्तजी रचना से अधिक रचनाकार के मानसिक संकल्प और संस्कार को महत्वपूर्ण समझते थे और साहित्यिक कृतियों में परम्परा संस्कार और आदर्श का संरक्षण उनका प्रधान धर्म मानते थे। रचनाकार के समान ही आलोचक का भी एक मानसिक संकल्प और संस्कार होना चाहिये अन्यथा वह रचनाकार की रचना विशेष के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता। गुप्तजी ने इस तथ्य को एक स्वस्थ-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया था यही कारण है कि अपने युग की साहित्य-धारा के मार्ग को प्रशस्त करने उसके गन्तव्य-निर्देशन एवं नियमन में वे सफल हो सके थे। जीवन का स्वरूप परिवर्तित होता है युगीन मान्यतायें परिवर्तित होती हैं, और युग-धर्म भी बदलता रहता है परन्तु जीवन का सत्य अपरिवर्तित रहता है सत्य आवृत हो सकता है समाप्त नहीं होता है 'मरता नहीं है साहित्यकार के अवचेतन में उनका युग अपने सम्पूर्ण रूप में विद्यमान रहता है। युग की सृजनात्मक और विनाशकारी शक्तियों के संघर्ष क्रिया प्रतिक्रिया के स्वरूप रचनाकार के चिन्तन और भावलोक पर प्रसरित रहते हैं और रचना-प्रक्रिया को अत्यन्त शक्तिशाली रूप में प्रभावित भी करते हैं परन्तु रचनाकार का धर्म होता है उनको आत्मसात करता हुआ वह सत्य का अनावरण करे। साहित्यकार का दायित्व अपरिमेय है उसकी चेतना को समझना व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि के लिए है। साहित्य मानसिक विलास और उपभोग की वस्तु नहीं है। हम व्यक्तिवादी साहित्य को उच्च स्थान नहीं दे सकते। अपने आलोचनात्मक निबन्धों में कृति विशेष की आलोचना करते हुये या विचार विशेष की आलोचना करते हुए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में बालमुकुन्द गुप्त इन्हीं मान्यताओं से आपूरित रहे हैं। इन दृष्टियों से किये गये प्रत्येक प्रयास के प्रति गुप्तजी श्रद्धा से नत हुये हैं।

इसभावना से संचालित साहित्यिक आन्दोलनों को गुप्तजी ने अपना समर्थन दिया है और इससे विपरीत की चिन्तन-धारा और रचनात्मक प्रक्रिया पर गुप्तजी ने निर्मम होकर प्रहार किया है।

सन् १९०१ में 'भारतमित्र' में गुप्तजी का 'तेईसवाँ वर्ष' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध में गुप्तजी ने सन् १९०० में लिखित हिन्दी के काव्य-साहित्य का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के कवियों की रचनाओं के सम्मुख एक प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया। इन्होंने स्पष्ट कहा कि सर्वकालीन सत्य और युगधर्म की उपेक्षा से कविता के वैभव का ह्रास होता है और इस प्रकार की कविता जीवन की गतिमान धारा से सम्बद्ध न रहने के कारण सम्मान नहीं प्राप्त कर सकेगी। इस निबन्ध में व्यक्त गुप्तजी के चिन्तन-स्वरूप का आंशिक परिचय 'तेईसवाँ वर्ष' शीर्षक निबन्ध के इस अंश से हो जाता है 'हिन्दी पद्य की भी कुछ चर्चा भारतमित्र में गत वर्ष (सन् १९००ई) हुई। उससे कम से कम इतना हुआ कि हिन्दी के कवि अपने लिये एक पथ निकाल सकते हैं। परन्तु अपने जीमें इतना समझ रखें कि प्यारी की विरहव्यथा वर्णन और नायिका भेद बनाने का समय अब नहीं है। पिछले कवि उक्त विषय में जो कुछ कह गये है वह कम नहीं है। इस समय के कवि उनकी नकल करके नाम नहीं पा सकते। अब दूसरा मार्ग तलाश करना चाहिये। भारतमित्र— तेईसवाँ वर्ष शीर्षक लेख—सन् १९०० ईसवी—देखिये बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ—पृष्ठ १००। इसी ग्रंथ में गुप्तजी श्रीधर पाठक और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सराहना करते हुए कहते हैं 'हम पं० श्रीधरजी पाठक तथा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदीजी का हृदय से धन्यवाद करते हैं। हिन्दी पद्य को पथ पर ले आना आप दोनों लोगों का ही का काम है।' वही।

१ गुप्तजी की यह भावना महावीर प्रसाद द्विवेदी की भावना के अनुकूल ही है— यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। हिन्दी काव्य की हीन दशा को देखकर कवियों को चाहिये कि वे अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस प्रकार के ग्रन्थ लिखने में न करें। अच्छे काव्य लिखने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिये। अलंकार-रस और नायिका निरूपण बन्द हो चुका—महावीर प्रसाद द्विवेदी—कवि कर्तव्य—देखिये—हिन्दी कविता में युगान्तर—द्वितीय संस्करण—पृ० ४९।

गुप्तजी ने इसी भावना से अनुप्रेरित हो, सन् १८९०-९९ में श्रीधर पाठक और महावीरप्रसाद की रचनायें छापीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा विषयक धारणा अति स्पष्ट और स्वच्छ थी। वे भाषा के सरल और बोधगम्य स्वरूप के प्रयोग के समर्थक थे। अपने युग के लेखकों से भाषा के इसी स्वरूप के प्रयोग के लिये वे आग्रहशील थे। । परन्तु द्विवेदी जी अपनी मान्यता के रक्षण में कभी कभी असमर्थ भी रहे हैं। बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदीजी का इस असावधानी की ओर समय-समय पर ध्यान करते रहे। द्विवेदीजी को लिखे गये एक व्यक्तिगत पत्र से इस तथ्य का उद्घाटन होता है, परन्तु आप काम वाला लेख बहुत कठिन था संस्कृत स्टाइल का होने से उसका समझना भी कठिन था आपका दूसरा लेख भी बहुत कठिन था सर्वसाधारण के समझने योग्य न था। ऐसे कठिन लेख लिखने हों तो कुछ सरल और रोचक ढंग निकालना चाहिए।

आलोचक का दायित्व मेरी दृष्टि से कवि कहानीकार अथवा उपन्यासकार के दायित्वों से कम नहीं होता है। आलोचक एक ओर रचना के गुण-दोष विवेचन के साथ अराजकता या प्रतिगमनकारी कृतिकारों पर नियन्त्रण करता है दूसरी ओर वह नवीन प्रतिभा का सृजन करता है। नवीन रचनाकारों की रचनाओं की प्रोत्साहनपूर्ण आलोचना कर वह उनमें आत्मविश्वास की भावना को दृढ़ करता है। गुप्तजी के आलोचनात्मक निबन्धों में आदर्श आलोचक के ये दोनों गुण उपलब्ध हो जाते हैं। 'अंशुमती' नाटक की आलोचना हेतु लिखे गये निबन्ध में गुप्त जी के नियामक स्वरूप के दर्शन होते हैं। इस कृति को गुप्तजी ने पाप भरी पुस्तक कहा है। इसकी कथा काल्पनिक है। इसमें महाराणा प्रताप की (कल्पित) पुत्री अंशुमती और अकबर के पुत्र सलीम की प्रणय-कथा की कल्पना की गई है। इस प्रकार की कल्पना हमारी जाति और संस्कृति के लिये अपमान-जनक भी है। गुप्तजी का इस कृति पर उत्तेजित हो जाना अति स्वाभाविक ही था। वे तर्क इतिहास-संस्कृति के सन्दर्भों में इस कृति की सार्थकता का परीक्षण करते हैं। इस कृति की सार्थकता के सन्दर्भ में गुप्तजी अनेक व्यंग्यमय प्रश्न करते हैं 'हम बंगदेश के पढ़े-लिखे लोगों से पूछते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर बंग देश की लड़कियों को क्या शिक्षा मिलेगी? और आप सब बंगाली लोग न्याय से कहें कि आप ही को इससे क्या उपदेश मिला? इस पुस्तक के पढ़ने से आपकी गर्दन नीची होती है या ऊँची? बंग साहित्य के मुँह पर इससे स्याही फिरती है या नहीं?

इस आलोचना में गुप्तजी के मानसिक संस्कार का उद्घाटन हो जाता है। साहित्य जातीय भावना को प्रतिबिम्बित करता चलता है। 'अश्रुमती' अथवा इस कोटि की अन्य रचनाओं से हमारी जाति या उसके चिन्तन स्वरूप का यथार्थ उद्घाटन सम्भव नहीं। अपने युग तथा आने वाले युगों में इस कृति से भ्रम ही उत्पन्न होगा। इसीलिए गुप्तजी आवेश और क्षोभ के आवेग में कहते हैं 'किन्तु साहित्य महकमे में जाय हमको साहित्य से कुछ मतलब नहीं हमको जो कुछ मतलब है इस पुस्तक से है वह हिन्दू-धर्म लेकर, राजपूतों का गौरव लेकर और हिन्दू पति महाराणा प्रताप सिंह को लेकर। इस 'अश्रुमती' में चाहे जो न हो चाहे वे जाने हिन्दू धर्म पर बहुत बड़ा आक्रमण किया गया है राजपूत कुल में कलंक लगाया गया है। गुप्तजी इस कृति से इतने आहत हुये थे कि आलोचना में तथ्य-विश्लेषण का भी परित्याग कर भावावेग में प्रवाहित हो उठे। 'शायद टाडको यह खबर होती कि नामर्द बंगाली जाति में मेरी यह पुस्तक जायगी और उस जाति के नामर्द लोग इसको पढ़कर राजपूतों के चरित्र को कलंकित करेंगे तो वह अपने राजस्थान को न बनाते पर हिन्दुस्तान में एक कहावत है—मर्दकी बगलमें रहना अच्छा नामर्द की सफह में रहना अच्छा नहीं। इस भाषा की शब्दावली अति कटु और मर्यादा के प्रतिकूल है परन्तु इसमें हम गुप्तजीकी मूल भावना और सदुद्देश्य पर सन्देह नहीं कर सकते। भावना यदि शुद्ध हो तो अभिव्यक्ति की शैली या विधि की असावधानी को नगण्य मान सकते हैं। गुप्तजी की ईमानदारी के लिये अन्य स्थान न प्रमाण-संकलन की आवश्यकता नहीं। 'अश्रुमती नाटक' की आलोचना पढ़ कर इसके लेखक श्री ज्योतिरिन्द्रनाथ महाशय (कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई) ने गुप्तजी को इस प्रकार लिखा

I admit the justice of your criticism of my drama Ashrumati and fully appreciate the spirit in which it was conceived.

The point of view you suggested did not strike me before but now as you have drawn my attention to the undesirability of bringing the name of Rajput Heroes into a drama which placed before the public mainly as a work of imagination, I shall most certainly take steps to adopt one or other of Courses you have proposed.

समालोचक की इस स्वीकृति से गुप्तजी द्रवित हो उठे और अत्यन्त स्नेह भाव से लिखा—'हम हृदय से श्रीमान् ज्योतिरिन्द्र नाथ ठाकुर का धन्यवाद करते हैं। वह जैसे उदार पुरुष हैं, वैसी उदारता दिखाकर उन्होंने सब हिन्दुओं को प्रसन्न किया है। वह सचमुच महाराणा प्रताप पर भक्ति रखते हैं और उनकी 'सरोजनी' आदि पुस्तकें राजपूतों की कीर्ति को उज्ज्वल करने वाली हैं। देखिये बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृ० ११३।

जिस भावना से 'अश्रुमती' नाटक की आलोचना गुप्तजी ने की उसीसे प्रेरित हो किशोरीलाल गोस्वामीकृत 'तारा' उपन्यास की भी उन्होंने निन्दा की हरिऔधकृत 'अधखिला फूल' हिन्दी गद्य-शैली की एक विशेष उपलब्धि है। इस कृति में और इसके पूर्व लिखित 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में हरिऔध ने खड़ी बोली का एक प्रयोगात्मक रूप प्रस्तुत किया इस प्रयास की प्रशंसा भी हुई। बालमुकुन्द गुप्त सम्भवतः अपने युग के प्रथम और एक-मात्र आलोचक हैं, जिन्होंने 'अधखिला फूल' शीर्षक आलोचनात्मक निबन्ध लिखकर हरिऔध द्वारा प्रस्तावित भाषा-रूप का विरोध किया। इस भाषा रूप का इन्होंने समर्थन नहीं किया। कारण गुप्तजी 'अच्छी हिन्दी' के पक्ष पाती अथवा समर्थक थे। उनका यह कहना था कि अयोध्या सिंह उपाध्याय ने जिस भाषा-रूप की कल्पना की है उसे अच्छी भाषा बोलने वाले किसी प्रान्त के लोग नहीं बोलते। गुप्तजी के 'अधखिला फूल' के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है, कि वे उस भाषा-रूप के पक्ष-पाती थे जिसे हम शिष्ट अथवा नागरजनों की बोली या भाषा कहते हैं। गुप्तजी का यह आग्रह भाषा को एक रूपता-प्रदान करने की भावना के कारण है। उन्होंने 'अधखिला फूल' से उदाहरण देकर पुस्तक की भाषागत् त्रुटि के निर्देश के साथ-साथ इसकी भाषा के अस्वाभाविक स्वरूप का स्पष्टी करण किया है। इस प्रकार विशिष्ट शब्दों की रचना-विधि उनके प्रयोग और व्याकरण-गत् रूप इन तीन स्वतंत्र सन्दर्भों में उन्होंने वस्तु का मूल्यांकन किया है।

बालमुकुन्द गुप्त के इन आलोचनात्मक निबन्धों के पढ़ने के पश्चात् इस प्रकार की भावना भी बनती है कि इनके तर्क और इनकी विश्लेषण-पद्धतिमें कभी कभी 'बाल में खाल निकालने' का कथन चरितार्थ होने लगता है। उदाहरण

के लिये हम ऊपर वर्णित 'अधखिला फूल' शीर्षक आलोचनात्मक निबन्ध को ले में। मेरी अपनी धारणा है कि गुप्तजी अयोध्या सिंह उपाध्याय के भाव को समझने में असमर्थ रहे। ठेठ हिन्दी से हरिऔध का तात्पर्य उस हिन्दी-स्वरूप से था जिसका प्रयोग सामान्य जन अपने कार्य-व्यापार तथा दैनिक जीवन में करता है इस कारण ही इन्होंने तत्सम शब्दों की अपेक्षा अर्ध तत्सम या तद्भव शब्दों का प्रयोग किया। ठेठ हिन्दी से उनका तात्पर्य इसी प्रकार के शब्दों से था। अत रचनाकार के मुख्य उद्देश्य को बिना ग्रहण किये ही उनकी आलोचना करना सत्य पर आवरण डालना है। उपाध्यायजी ने आकास (आकाश) पच्छिम (पश्चिम) मिट्टी आदि शब्दों का प्रयोग किया है। गुप्तजी ने यह आपत्ति उठाई है कि ये शब्द ठेठ नहीं है। अपितु 'आकास पच्छिम' मट्टी या माटी ठेठ है (कारण य शब्द ब्रजभाषा में प्रचलित है)। गुप्तजी शब्दों के इन रूपों से परिचित थे परन्तु अयोध्या सिंह उपाध्याय जिस क्षेत्र के निवासी थे उस क्षेत्र को सम्मुख रखते हुए इनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। ऊपर कहा गया है कि दोष दर्शन में गुप्तजी ने कभी-कभी अनिश्चयता का भी अवलम्ब ग्रहण किया है। इसी निबन्ध में (अधखिला फूल) रचनाकार के भाषा दोष की आलोचना करते हुए इन्होंने इस प्रकार कहा है 'पोथी की भाषा का जो अंश ऊपर उद्धृत किया है उसमें कई एक मुहावरे भी अशुद्ध हैं। "कोई घर की घुसी स्त्रों पर ठण्डा हो रहा है। इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है जो अयोध्यासिंहजी ने यहाँ लगाया है वरञ्च आदमी के लिये ठण्डा होने का अर्थ है मर जाना'। मेरी धारणा है कि हरिऔध जी ने इसका प्रयोग ठीक ही किया है। ठेठ भाषा में इसका अर्थ शीतल ही होता है। इसी प्रकार गुप्तजी ने 'पंखा हौंक रही है' प्रयोग पर भी आपत्ति की है। उनका कहना है कि हौंकना का प्रयोग भाप-इंजन आदि के साथ होता है। वास्तविकता यह है कि इस सन्दर्भ में भी इस प्रयोग को हम अशुद्ध नहीं मानते पंखा हौंकना ठेठ हिन्दी पंखा झलने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। गुप्तजी आगे एक अन्य उदाहरण देते हैं। 'रात में जब सूरज का तेज नहीं रहता हम लोगों को उसकी छवि देखने में आती है।' इस उदाहरण के बाद गुप्तजी निर्णय देते हैं 'देखने में आती" की जगह "दिखाई देती है" चाहिये। यदि 'देखने में आती है' रहा जाय तो हम लोगों को उसमें से निकाल देना होगा। देखने में यह प्रयोग

किसी भी रूप में अशुद्ध नहीं है। इसे अशुद्ध मानना गुप्तजी का दुराग्रह मात्र है। इस प्रकार के अंश बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों और आलोचना के दुर्बल अंश हैं।

परन्तु बालमुकुन्द गुप्तजी की महिमा इससे घटती नहीं है। उनका यह स्पष्ट आग्रह था कि आलोचना में व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष की मात्रा नहीं होनी चाहिये। अपने 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक निबन्ध में गुप्तजी ने इसी मूल तत्त्व को अभिव्यक्त की है। यद्यपि इस निबन्ध का उद्देश्य थे पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी और यह निबन्ध व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता और स्पर्धा के भाव से लिखा गया था किन्तु यह निबन्ध एक प्रकार से युगीन तथा परवर्ती काल के निबन्धकारों एवं आलोचकों के लिये परिपक्व रूप में लिखा गया था। द्विवेदीजी अपने विपरीत गुप्तजी की आलोचनाओं से उत्प्रेरित होकर 'सरस्वती' में निबन्ध लिखा करते थे। और गुप्तजी उनकी आलोचना का उत्तर 'भारतमित्र' में लिखा करते थे। इस उत्तर-प्रत्युत्तर की कहानी का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। द्विवेदीजी ने बालमुकुन्द गुप्त का प्रत्युत्तर देते हुए सरस्वती फरवरी १९ ६ में एक निबन्ध लिखा उससे एक महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ दिया जा रहा है, और जो लोग आत्मनपर्दुविदग्ध हैं ईर्ष्या-द्वेष से जिनका जी जल रहा है उनको बृहस्पति के बाप की बातों में भी पूर्वापर विरोध और संदिग्ध भाव देख पड़ेगा। हमारा पहला लेख इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। गुप्तनिबन्धावली पृ० ५०२। गुप्तजी ने इसके प्रत्युत्तर में 'ईर्ष्या-द्वेष' शीर्षक निबन्ध लिखा। इस निबन्ध में गुप्तजी ने स्पष्ट शब्दोंमें यह प्रश्न किया 'इसका अर्थ यह है कि पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के भाषा और व्याकरण वाले लेख को जिन लोगों ने प्रशंसा लिख भेजी वह तो पढ़े लिखे और अच्छे हैं परन्तु जिन लोगों ने उसके दोष दिखाये वह आत्मनपर्दुविदग्ध हैं। मारे द्वेष के पण्डितजी पर उनका जी जल रहा है इससे वह लोग पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी तो क्या बृहस्पति के बाप के बाप की बातों को भी टेढ़ी मेढ़ी और संदिग्ध बता सकते हैं वस्तुतः गुप्तजी ने यह कहने का प्रयत्न किया है कि आलोचक को अपने विचारों को विचार-शून्य नहीं समझना चाहिये अपनी भाषा को भ्रमरहित नहीं मानना चाहिये। निष्पक्ष आलोचना

---

१ गुप्त निबन्धावली पृ० ५६९

महावीरप्रसाद द्विवेदी हर्बर्ट स्पेन्सर को अपना आदर्श मानते थे। उनकी कतिपय रचनाओं का इन्होंने अनुवाद भी किया था। गुप्तजी ने इस तथ्य का भी उल्लेख किया कि आलोचक और कृतिकार को सहनशील होना चाहिये और अपने प्रति की गयी सद् आलोचना से लाभ उठाकर आत्मोत्कर्ष का प्रयत्न भी करना चाहिये। द्विवेदीजी के आदर्श हर्बर्ट स्पेन्सर अपनी आलोचनाओं का सहर्ष स्वागत करते और अपने आलोचकों के प्रति सद्भावना व्यक्त किया करते थे उनकी प्रशंसा भी करते थे। गुप्तजी महावीर प्रसाद द्विवेदी और अपने युग के अन्य लेखकों और आलोचकों का ध्यान इस उदात्त-तत्त्व की ओर आकर्षित करना चाहते थे। लेखक और कृतिकार के बीच एक प्रकार की पारस्परिक सहानुभूति अपेक्षित है। नवम्बर १८७२ के Contemporary Review में आस्कर हुडसन ने हर्बर्ट स्पेन्सर के विरुद्ध आलोचना की। इसके उत्तर में हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा—I value them as coming from a thinker of subtlety and independence (मैं इन विचारों का आदर करता हूँ क्योंकि ये एक स्वाधीनचेता और सूक्ष्मदर्शी लेखनी से निकले हैं।—गुप्त निबन्धावली पृ० ५०६। अपने एक अन्य आलोचक की आलोचना का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—

I admit this to be a telling rejoinder and one which be met only when the meanings of the words, as I have used them, are carefully discriminated and the implications of the doctrine fully traced out.

मैं इसे बड़ी प्रभावशाली आलोचना समझता हूँ। ऐसी आलोचना तब ही हो सकती है जब मेरी भाषा और मेरा सिद्धान्त बहुत ध्यान से पढ़ा और विचारा जाय। इस प्रकार गुप्त जी ने अपने समकालीन लेखकों और कृतिकारों के सम्मुख साहित्य जगत की विशद् भूमिका की सम्भावना की। साहित्य के क्षेत्र में सर्व दुर्वचन हठ अशिष्टाचार शोभनीय नहीं कारण इनसे साहित्यिक वातावरण विक्षुब्ध होता है अराजकता फैलती है तथा गतिरोध उत्पन्न होता है। गुप्तजी कभी कभी स्वयं अपने निर्देशों का अतिक्रमण कर गये हैं परन्तु उनके आलोचनात्मक निबन्धों पर जब हम समग्र दृष्टि से विचार करते हैं तब हमें सन्तोष होता है कि उन्होंने अधिकांशतया पूर्वक व्यक्ति समष्टि और साहित्य की मर्यादाओं का सम्मान और संरक्षण करते हुए आलोचनात्मक निबन्ध लिखे।

बालमुकुन्द गुप्त के जिन समीक्षात्मक निबन्धों की चर्चा की गई है, उनमें से कुछ निबन्ध ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की आलोचना के रूप में लिखे गये हैं। कुछ पुस्तक रिव्यू की समीक्षा-पद्धति पर लिखे गये हैं। वास्तविकता यह है कि यह निबन्ध व्यावहारिक समीक्षा शैली के निबन्ध हैं जिनमें आलोच्य कृति या विषय के गुणों और दोषों का निर्देश मिलता है। इन निबन्धों की दो कोटियां हैं। प्रथम कोटि के निबन्ध विशिष्ट ग्रन्थों की आलोचना में लिखे गये हैं। द्वितीय कोटि के अन्तर्गत वे निबन्ध आते हैं जिनमें किसी ग्रन्थ की आलोचना की प्रत्यालोचना की गई है। ग्रन्थों या ग्रन्थकारों की आलोचना करते समय निबन्धकार ने खण्डनात्मक आलोचना पद्धति का प्रयोग किया है। शास्त्रार्थ आलोचना प्रणाली में ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए मर्यादित लेख वक्तव्य या कृतियों की कटुतम आलोचना करते हुए निबन्धकार तर्क-वितर्क का उपयोग करता है। मेरी धारणा है कि इस कार्य में गुप्तजी सदैव निष्पक्ष नहीं रहे हैं और एक प्रबल विपक्षी के समान तर्क सन्त्रास तथा अप्रामाणिक बातों का विस्तार कर आलोच्य वस्तु या व्यक्ति पर प्रबल प्रहार करते हैं। दूसरी ओर आलोच्य कृतियों से उद्धरण देते हुये प्रश्ना के माध्यम से विवेचनात्मक शैली में अपने कथ्य को सुसम्बद्ध रूप में भी प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसे स्थलों में विवेचना की सूक्ष्मता दर्शनीय है चिन्तन-गाम्भीर्य सराहनीय है और बौद्धिक-स्तर उच्चपदस्थलीय।

विषय की दृष्टि से इनके निबन्धों का तृतीय वर्ग जीवन चरित सम्बन्धी निबन्धों का है। जीवन-चरित सम्बन्धी निबन्ध दो वर्गों में लिखे गये हैं— (क) साहित्यिकव्यक्तियों के जीवन चरित जैसे 'पं प्रताप नारायण मिश्र' साहित्याचार्य 'पण्डित प्रतापनारायण मिश्र' 'मुन्शी देवीप्रसाद' 'हर्बर्ट स्पेन्सर मक्समूलर' और 'दोन सादी' शीर्षक निबन्ध। द्वितीय वर्ग के निबन्ध ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन-चरित् से सम्बन्धित हैं।

ये निबन्ध आकार में लघु हैं और इनकी शैली वर्णनात्मक या कथात्मक है। वस्तु-स्थापन और निबन्ध आरम्भ करने की शैली की दृष्टि से ये निबन्ध दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के निबन्ध एक लघु भूमिका के साथ आरम्भ होते हैं। दूसरी विधा उन निबन्धों की है जिनका आरम्भ बिना

भूमिका के हुआ है। निबन्धकार अपने प्रतिपाद्य की स्थापना में निबन्ध के प्रथम वाक्य से ही संलग्न प्रतीत होता है। सम्यक् रूप में इस कोटि के निबन्धों की शैली का विधान इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) कथात्मक शैली में निबन्ध का आरम्भ (ख) सम्बन्धित व्यक्ति के विषय में ज्ञातव्य तथ्यों का उद्घाटन (ग) स्थान-स्थान पर भाव प्रधान सम्बोधनों का प्रयोग (घ) विषय की सम्पूर्णता के साथ निबन्ध का समापन। विषय की दृष्टि से राजनीतिक निबन्धों में शिवशम्भु के चिट्ठे तथा चिट्ठे और खत की आलोचना-जगत् में विशेष रूप से चर्चा की जाती है। शिवशम्भु के चिट्ठे बंकिमकृत कमलाकांतेर दफ्तर की शैली में लिखे गये कथात्मक शैली के निबन्ध हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत के निबन्धों में भी हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है परन्तु इनमें प्रयुक्त हास्य और व्यंग्य हमें चिन्तन और आत्मविश्लेषण करने की अनुप्रेरणा प्रदान करते हैं। लॉर्ड कर्जन को सम्बोधित करके लिखे गए इन निबन्धों में अंग्रेजों द्वारा शोषित पराधीन भारत पर किये गये अत्याचारों के अतिरिक्त भारत के मानसिक और सामाजिक स्वरूपों का विश्लेषण भी किया गया है। इसकी व्यंग्यात्मक शैली एक विशेष प्रकार की मानसिक उत्तेजना प्रदान करती है और हमारे मस्तिष्क के सम्मुख प्रश्नवाचक चिह्न लगाती हुई अपने दायित्वों के प्रति चेतना जागृत करती है—

"यह जबरदस्त द्रष्टा लोग अब बहुत काल से केवल निर्लिप्त निराकार तटस्थ द्रष्टा की अवस्था में अतृप्तलोचन से देख रहे हैं और न जाने कब तक देखे जायेंगे। अवाक् ऐसे हैं कि कितने ही जमाने देख गए पर दृष्टि नहीं हटाते हैं। उन्होंने पृथ्वीराज जयचन्द की तबाही देखी, मुसलमानों की बादशाही देखी। अकबर बीरबल खानखाना और तानसेन देखे, शाहजहानी तख्तताऊस देख और शाही जुलूस देखे। लार्ड कर्जन भी अपनी शासित प्रजा का यह हुए जान गये थे इसीसे श्रीमान् न सीमामय रूप धारण करके कितनी ही सीमायें दिखाईं—शिवशम्भु के चिट्ठे पृ० १८१। ये निबन्ध वस्तुनात्मक और वर्णनात्मक हैं जिनमें भावात्मक तत्त्वों का यथेष्ट प्रयोग किया गया है तथा सम्बोधन लक्षणा और व्यञ्जना के सहारे यह भाषा का विधान करता है। इन सबके निबन्ध प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं।

(१) भूमिका (२) मुख्य भाव की प्रस्तावना और उसका प्रतिपादन (३) निष्कर्ष या उपसंहार। भूमिका-अंश में निबन्धकार कभी अन्योक्ति अथवा व्यञ्जना-पूर्ण प्रतीक-पूर्ण वर्णन विधान करता है यथा 'माई लार्ड! लड़कपन में इस बूढ़े भंगड़ को बुलबुल उड़ाने का बड़ा चाव था। गाँव के कितने ही शौकीन बुलबुल बाज थे। वह बुलबुलें पकड़ते थे पालते थे और उड़ाते थे। बालक शिवशम्भु बुलबुलें लड़ाने का चाव नहीं रखता था। केवल एक बुलबुल को हाथ पर बिठाकर प्रसन्न होना चाहता था।

इस प्रकार की भूमिका के गर्भ से मुख्य भाव प्रस्फुटित होता है और सावरणिकता वस्तुपरकता में परिवर्तित हो जाती है। निबन्धकार इस प्रकार का "निबन्ध का प्रस्तवन एक सुनिश्चित योजना बनाकर करता है। आपने माई लार्ड! भारत में जब से पधारे हैं बुलबुलों का स्वप्न ही देखा था या सचमुच कोई करने योग्य काम भी किया है अब दरबार की बात सुनिये कि क्या था? आपके ख्याल से बहुत बड़ी चीज था भारतवासियों के लिये बुलबुलों के स्वप्न से बढ़कर कुछ नहीं था।

इन निबन्धों का उपसंहार निबन्धों में व्यक्त विचारों के सारांश के साथ होता है—मतलब समाप्त हो गया। जो लिखना था वह लिख गया अब पुलासा बात यह है कि एक बार गो और ड्यूटी का मुकाबिला कीजिये। गो को गो ही समझिये गो ड्यूटी नहीं। माई लार्ड आपके दिल्ली दरबार की याद कुछ दिन बाद उतनी ही रह जायगी जितनी शिवशम्भु शर्मा के सिर में बालक के उस सुख की विचारोद्भावना और विचारोत्तेजना इन निबन्धों की शैली की प्रमुखता है कारण निबन्धकार अपनी सम्पूर्ण बौद्धिक और भावात्मक सत्ताओं के साथ विषय का प्रतिपादन करता है वस्तुबोध और तथ्य-उद्घाटन की बौद्धिक प्रणाली के साथ-साथ भावात्मक प्रणाली भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त मिलती है और इस प्रकार के सम्बन्धों में वह अपनी अनुभूति और प्रतीतियों प्रमुखता देता है। इनमें मुख्य भावधारा के साथ प्रासंगिक उद्भावनायें भी की गई हैं परन्तु ये उद्भावनायें मुख्यविचारों की प्रभावाभिव्यक्ति में सहयोग प्रदान करती हैं और क्लिष्ट भाव-विधान तथा साधारणीकरण की क्षमता को धारण देती हैं। ऊपर कहा गया कि ये निबन्ध व्यक्ति प्रधान हैं अतः इनकी अन्तश्चेतना भावात्मक है। भावात्मक निबन्धों की दो कोटियाँ मानी गयी हैं। (१) कवित्वप्रधान और (२) विचार

प्रकार। शिवशम्भु के चिट्ठे विचार प्रधान भावात्मक निबन्ध हैं जिनमें वस्तु व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग किया गया है "ऐसी एकभी सनद प्रजा प्रतिनिधि होने की शिवशम्भु के पास नहीं है तथापि वह इस देश की प्रजा का यहाँ के चिथड़ा पोश कङ्गालों का प्रतिनिधि होने का दावा रखता है क्योंकि उसने इस भूमि में जन्म लिया है, उसका शरीर भारत की मिट्टी से बना है और अपने शरीर का मिला देने का इरादा करता है इस प्रकार विचारों के उठते हुए आवेगों के साथ-साथ भावात्मकता के उच्चशिखर को वह संस्पर्शित कर लेता है साथ-साथ पाठक को वह अपने साथ पूर्ण रूप से सम्बद्ध कर कर लेता है।

'शिवशम्भु के चिट्ठे' हास्य और व्यंग्य शैली में लिखे गए निबन्ध हैं जिनमें निबन्धकार की विश्लेषणात्मक शक्ति की निपुणता मोहक है इसकी भाषा सजीव और स्निग्ध है। इसकी शैली में प्रवाह और गति है।

ऊपर यह संकेत किया गया है कि गुप्तजी के निबन्ध व्यास शैली में लिखे गये हैं। अतः अन्य विषय की व्याख्या हेतु वे सर्वप्रथम किसी भाव या विचार का वर्णन करते हैं और फिर उस भाव से सम्बन्धित अन्य विचारों की प्रस्तावना से विषय का विस्तार करते हैं। हास्य और व्यंग्य गुप्त जी की प्रकृति का अंग था अतः हास्य और व्यंग्य उनकी शैली के अंग बन गए हैं। वस्तुनिष्ठ हास्य और व्यंग्य ही उत्तम कोटि के होते हैं परन्तु गुप्तजी के निबन्धों में व्यक्तिपरक हैं जो व्यक्तिगत आक्षेप और उपहास की सीमा तक पहुँच जाते हैं कारण उनके व्यंग्य व्यक्ति को सम्मुख रख कर लिखे गए हैं।

अपने भावों के स्पष्टीकरण हेतु गुप्तजी ने अपने निबन्धों में विषयान्तर भी किया है अथवा प्रासंगिक उद्भावनायें भी की हैं परन्तु ये उद्भावनायें मूल विषय से सम्बद्ध रहती हैं फलस्वरूप इनमें प्रभावान्विति निरन्तर बनी रहती है। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' तथा 'चिट्ठे और खत' व्यक्तिपरक निबन्ध हैं इन्हें पत्रात्मक कहना ही अधिक उचित होगा।

ऊपर यह कहा गया है कि बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी निबन्ध-साहित्य के दो युगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दो युगों में भाषा-सम्बन्धी वाद-विवाद को लेकर निबन्ध लिखे गए। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर विचारा

लेखक निबन्ध लिखे गये। इनके अतिरिक्त विचारात्मक भावात्मक, वर्णनात्मक विवरणात्मक हास्य तथा व्यंग्यात्मक विधाओं के निबन्ध इन दो युगों में लिखे गये। ऊपर बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों का जो मूल्यांकन किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बालमुकुन्द गुप्त ने अपने निबन्धों में इन सभी विधाओं का प्रयोग किया है। अतः इनके निबन्ध दो युग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। गुप्तजी के निबन्ध संगठित परिपक्व और नियमित शैली में लिखे गये हैं। एडिसन ने निबन्ध की शैली पर अपना अभिमत देते हुये कहा है कि एक श्रेष्ठ निबन्ध में निबन्धकार की विचारधारा का प्रवाहपूर्ण स्वरूप अपेक्षित है। विषय के अनुकूल उसकी विचारधारा कभी उपदेशात्मक रूप धारण करती है। कभी वह आत्माभिव्यंजना करती है। गुप्तजी की निबन्ध-शैली में ये दोनों विशेषतायें उपलब्ध हो जाती हैं।

बालमुकुन्द गुप्त का समय भारतीय जीवन में नव जागरण का युग था। समाज संस्कृति धर्म और दैनिक जीवन में अंग्रेजी शासन और सभ्यता का विनाशकारी रूप भयावहता धारण करता जा रहा था। उस युग के साहित्यकारों के सम्मुख एक बड़ा दायित्व आ गया था। उन्होंने अंग्रेजी शासन और सभ्यता के घातक परिणामों का उद्घाटन किया उनके प्रति असन्तोष का भाव-व्यक्त किया और उनका विरोध किया। इन समग्र स्थितियों का प्रतिबिम्ब बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उनके निबन्ध इनके युग की अन्तर-झाँकी है। साहित्य-सर्जना के सन्दर्भ में शिल्प-विधि के विधान के अनेक प्रयत्न इस युग में हो रहे थे। गद्य (और पद्य) में खड़ी बोली हिन्दी स्वीकृत हो चुकी थी परन्तु उसमें सक्षम तथा प्रौढ़ अभिव्यन्जना शक्ति की अवतारणा न हो सकी थी। उसमें प्रवाह मन और साधारणीकरण की क्षमता न आ सकी थी। इन दृष्टियों से जिन निबन्धकारों ने हिन्दी गद्य को एक सुनिश्चित रूप योजना दी उनमें बालमुकुन्द गुप्त का स्थान सर्वोपरि है।

वास्तविकता यह है कि बालमुकुन्द गुप्त मूल रूप में उर्दू के शैलीकार थे। हिन्दी में लिखने के पूर्व उर्दू के विशिष्ट लेखक तथा शैलीकार-रूप में इनकी ख्याति उर्दू संसार में हो चुकी थी। सन् १८८८ और १८८९ तक गुप्तजी लाहौर से निकलने वाले 'कोहेनूर' नामक पत्र के सम्पादक रह चुके थे। भारतेन्दु की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् वे 'अखबारे चुनार' के सम्पादक भी रह

चुके थे। इस प्रकार से उर्दू की शैली और लिपिविधि लेकर हिन्दी में आये अतः इनकी भाषा अत्यन्त प्रवाहपूर्ण सजीव और विनोदपूर्ण है। इनके निबन्धों में वाक्य संगठित और लघु है। मुहावरों के प्रयोग से इनकी भाषा-शैली को विशेषता उपलब्ध हुई है।

बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में शैली की विविधरूपता उपलब्ध होती है। उनके प्रमुखतः तीन रूप मिलते हैं।

(क) शुद्ध उर्दू-फारसी मिश्रित पदावली।

(ग) संस्कृतनिष्ठ पदावली।

और (घ) उर्दू हिन्दी मिश्रित पदावली।

(क) मालूम होता है कि तुम्हें इस तवारीख से बहुत कम मस है। मेरी हुकूमत के वक्त की एक नेकनामी बंगाले की तवारीख में ऐसी मौजूद है, जिसकी नजीर तुम्हारी नजीर में कहीं भी नहीं मिलेगी। मैंने बंगाले के शासनसलतनत काले में एक रुपये के ८ मन चावल बिकवाये हैं

(ग) बहुत काल पश्चात् आपका पुनः भारत के भाग्य का विधाता हुआ है एक पंडित विचारवान और आडम्बररहित सज्जन को भारत अफसर होते देख कर अपने भाग्य को प्रबल अटल और कभी टस से मस न होने वाला बल्कि आपके कथनानुसार Settled fact समझने पर भी आडम्बरशून्य भोले-भाले भारतवासी हर्षित हुये थे ? मार्ली साहेब के नाम० पृ० २२८

(घ) हिन्दी आलोचना के विषय में कुछ विशद आलोचना करने का विचार जी में आने के पहले उर्दू अखबारों की ओर दृष्टि जाती है क्योंकि उर्दू के अखबार हिन्दी से पहले जारी हुए हैं और उन्होंने हिन्दी अखबारों से आगे तरक्की के मैदान में कदम आगे बढ़ाया है। बालमुकुन्द गुप्त ग्रन्थावली पृ० २०२। इस प्रकार भाषा के ये तीन रूप बालमुकुन्द गुप्त के निबन्ध में मिल जाते हैं।

बालमुकुन्द गुप्त भाषा में व्याकरण या रचना के दोष को अपराध मानते थे। भाषा-सम्बन्धी ऐसे प्रश्नों को ही लेकर इनमें तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी में प्रतिद्वन्द्विता की भावना जागृत हुई फिर भी गुप्तजी के निबन्धों की भाषा त्रुटि रहित नहीं है। इनकी भाषा में वाक्यों की त्रुटियाँ हैं जैसे

इन्ट्रेंस तक पढ़े थे। पृष्ठ २६ 'लेख लिखने में उन्हीं नियमों का पालन हो जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सर्व सम्मानिति से निश्चय किया है। आप विद्याको वशी किया चाहते हैं। पृ ११५ यह बराबर शासन की मालिक है' पृ १९४। 'विक्रम अशोक अकबर, के यह भूमि साथ नहीं गई' पृ १९७

'नीरस से नीरस शरीर में यही जलवायु नमकीनी ला देता है। पृ॰१९॰ यह कोई पाँच साल चलाया। इस प्रकार के असमर्थित वाक्य तथा अशुद्ध वाक्य गुप्तजी के निबन्धों की भाषा में मिल जाते हैं। बहुवचन 'ये' के स्थान पर गुप्तजी सर्वत्र यह का प्रयोग करते हैं। अब हम यह बातें कहते लिखते हैं पृ॰ १७।

इनकी भाषा में व्रजभाषा की वाक्य-गठन-पद्धति और शब्द-प्रयोग मिलते हैं— म प विद्या को वशी किया चाहते हैं आप का विज्ञापन देखकर मुझे प्रेरणा हुई। भाव प्रकाशन के हेतु तथा अपनी भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति को अति व्यापक करने की भावना से उन्होंने तत्सम और तद्भव शब्दों मुहावरों के साथ देशज या ठेठ शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है यथा उनको टिटकारियाँ दी हैं ८२॰ बारह वर्ष के पीछे घूरे के दिन भी फिरते हैं ८११ द्विवेदी जी ने पहले ही हमले में हरिश्चन्द्र को यह धर कर पछेड़ा है। 'यह जो आपने गडमड्ड कई वाक्य आगे-पीछे मियाँ मदारी के गोलों की भाँति उगल दिये। ४१७ यह सब आपके पेट में चक्कर कूद मचा रही है। ४१७ तो कई गण्ड-मण्ड करती आगे पीछे निकल पड़ती है। हमें लातें मार-मार कर भगाना है। 'वाक्य रचना के बाबत विज्ञापन की प्रशंसा करते चलिये ८५१ निराली मुहावरे—'लाल बुझक्कड़ बन कर इस गुहा की गुरमारामी का पता बताने लगे हैं ८४॰

व्यंग्यात्मक भाषा-रूप में मुहावरों और लोकोक्तियों का सुन्दर समन्वय इनकी भाषाके रूप को निखारता प्रदान करता है—उदाहरण—'मोर हाय हाय मारी रस में डुबोई कारी कामरिया' इस तरह सारी (बल्कि महँगा) घाटवा देहाती बोलना ही तो मिलन करता है। ४६॰ 'हम मारे घुटना फूटे आँख न द्विवेदी जी ने क्या मतलब निकाला ४७॰ यहाँ भगड़ा पिनाक का निकाला जाय या कामठ' ४७०।

———

# कवि बालमुकुन्द गुप्त

श्री प्रबोध नारायण सिंह

स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त को लोग सामान्यतः हिन्दी के सफल गद्यकार के रूप में ही जानते हैं। सुयोग्य पत्रकार के रूप में उन्होंने निस्सन्देह हिन्दी गद्य की अद्वितीय सेवा की किन्तु उनका कवि-रूप भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। हिन्दी काव्य के इतिहास में स्व० गुप्तजी का अवदान सर्वदा श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। आवश्यकता है कि उनके काव्य का सम्यक् अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत कराया जाय।

काव्य-शिल्प की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि गुप्त जी के काव्य में निस्सन्देह रूप से उन सौन्दर्य-मूलक तत्त्वों की विद्यमानता नहीं है जिनके आधार पर उन्हें कालिदास भवभूति विद्यापति सूर तुलसी अथवा बिहारी की समकक्षता प्रदान की जाय। उन्होंने आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के विभिन्न गुणात्मक तत्त्वों को आधार मानकर रचना नहीं की। उनकी कविता में कहीं भी श्रम-साध्य आयास नहीं दीखता है। यत्न पूर्वक रीति ध्वनि वक्रोक्ति अथवा अलंकारों के समावेश का कहीं भी प्रयास नहीं किया गया है। उनके काव्य में सर्वत्र रसात्मक सन्दर्भ की सृष्टि की गई है। कहीं-कहीं व्यंग्यात्मकता और उक्ति-चमत्कार अधिक मुखर हो उठे हैं। कई स्थानों पर उनकी भाषा में प्रवाह और प्राञ्जलता का समावेश हो गया है उनकी सर्वत्र स्पष्टता अतिशय परिलक्षित हो गयी है।

रस योजना के लिए सम्यक् सृष्टि परमावश्यक है जहाँ प्रायः सम्यक् भावना नहीं दीखती है वहाँ भी व्यंजना के विस्तार के साथ ही साथ अर्थवत्ता के स्पष्ट प्रसार द्वारा सरस सम्पूर्ण सन्दर्भ की परिपक्व सृष्टि द्वारा उद्भूत होती है। किन्तु अधिकांश स्थलों पर गुप्तजी ने पौराणिक आख्यायिका का अथवा इतिवृत्त सिद्ध वस्तुओं का वर्णन किया है। उनकी

भ्याव-मुखता के कारण एवं गुप्तजी की व्यंग्य-प्रियता के कारण सन्दर्भ की जीवन्त चेतना का संस्पर्श सुगमता से हो जाता है। गुप्तजी की ऐसी रचनाओं में उल्लेखनीय हैं "जय रामचन्द्र 'श्री राम स्तोत्र', "राम भरोसा' 'हे राम' 'दुर्गा-स्तुति' 'भारतीय पूजा' 'भारतनी' 'भारत माय' 'दुर्गा-स्तवन' 'जय लक्ष्मी' 'लक्ष्मी-स्तोत्र' और 'सर सैयद का बुढ़ापा'। काल्पनिक आख्यानों के द्वारा भी इन्होंने कई स्थानों पर रसात्मक सन्दर्भ की सृष्टि करने का प्रयास किया है। ऐसी कविताओं में "मन्न बीबी' तथा "ठाऊ और हाऊ' की गणना की जा सकती है। राम-विषयक रचनाओं में कवि ने भारत के अतीत गौरव का बड़ा ही सुभावना चित्र अंकित किया है और वर्तमान कालीन दुरवस्था तथा उत्पीड़न की झाँकी दिखाते हुए वैषम्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

निम्नलिखित पंक्तियों में करुण रस का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। बीभत्स और भयानक यहाँ संचारी के रूप में करुण रस को और भी अधिक पुष्ट कर देते हैं —

कैते बालक दूध के बिना अन्न के कौर।
रोय रोय जी देत हैं कहा भुलावैं और ॥
कौन पाप तें नाथ यह अनमत हम पर आय।
दूध भयो पै अन्न हू मिलत न तिन कोइ हाय ॥
कैते बालक डोलते माता पिता विहीन।
एक कौर के फेर मँह घर घर आगे दीन ॥
मरी मात की देह को जीय रहे बहु जाय।
ताही मों यक दूध को सिसू रह्यो लपटाय ॥
जहँ तहँ नर-कंकाल है जामें दीखत ढेर।
नरन-पसुन के हाड़ सों भूमि पाई बहु फेर ॥
हरे राम केहि पाप तें भारत भूमि मझार।
हाड़न की चलती चले हाड़न को व्यापार ॥
जब या सुखमय भूमि मँह जाही सुख को नेम।
हाड़-चाम पूरित भयो अन्न दूध को देम ॥
बार-बार मारी परत बारहि बार अकाल।
काल फिरत नित सीस पै खोले गाल कराल ॥

भारतीय पूजा' शीर्षक कविता में कवि ने दुर्गति-नाशिनी दुर्गा का अभिनन्दन करते हुए देश-वासियों को उत्साहित किया है। असुरनाशिनी दुर्गा की कृपा से देश की आसुरी शक्ति का संहार होगा ही और पुनः सर्वत्र खुशियाली छा जायगी। देवी भक्त सुकजन राम की तरह लंका का दमन करेंगे और स्वाधीनता रूपी सीता का उद्धार करेंगे —

पूजहु पूजहु महाशक्ति बल शक्ति बढ़ावनि।
सज्जन रक्षा करनि दैत्य-दल मारि भगावनि ॥
पूजहु पूजहु मातु सदा भव-चिन्ता-हारिनि।
मनोकामना सिद्ध करनि कलि कष्ट निवारनि ॥

त्रेता जाके पद पूजिके
रामचन्द्र कीरति लई।
सीता पाई रावण हन्यो
लंक विभीषण कहँ दई ॥

इसी कविता में प्रकृति-वर्णन के मिस सुन्दर उद्दीपन-योजना है। प्रावृट् का कर्दम और कर्म-पद्‌ धुलिसात का दूरीकरण हो गया है, प्रभंजन की प्रताड़ना और घन-घटा का गगन को धूल-धूसरित कर देना सब दूर हो गया है। अब मन्द वाहिनी मन्द निर्मल सरिताएँ हँसता हुआ चाँद और स्वच्छ तारिका-मय नील निभव सब बड़े ही मनोरम प्रतीत हो रहे हैं। ऐसे ही स्फूर्तिमय वातावरण के समय में भवानी का शुभ आगमन होता है। यहाँ उद्दीपन भरी पद-रचना में वैदर्भी रीति और अन्वर्थ-ध्वनि अलंकार की क्लिष्ट योजना और भी दर्शनीय है। यहाँ एक ही साथ ओज कान्ति माधुर्य सौकुमार्य और प्रसाद गुण भी विद्यमान हैं —

घटे जलद जंजाल पवन को बढ़्यो जोरतम।
मिट्यो वायु को वेग हट्यो सब माटी कर्दम ॥
मुक्त मुक्तावलि धारि नील-निर्मल नभ मण्डल।
सोभा अमित अपार करत तारागण झलमल ॥

जल सूख्यो सरनि विहीन भई
बाट घाट निर्मल भए।
नानाविध तरु वल्लव सघन
परम सुप्यन सों छए ॥

रजत तरुनमंय रजत-सरिनि अति सोभा पावत ।
है प्रफुल्ल ससि रजत-किरन तापर बिथुरावत ॥
बिमल सोत प्रतिबिम्ब नील नभ को हिय धारत ।
करि कौमल ससि तारागन मुँह-माँह उतारत ॥

तीखे व्यंग्य के कारण बहुधा हास्य रस के परिपाक में व्यवधान उपस्थित हो जाता है किन्तु अधिकांश स्थलों पर इनकी हास्य-योजना अति उत्कृष्ट बन पड़ी है। इस प्रसंग में 'नया काम कुछ करना' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं —

दाल भात रोटी को छोड़ो छोड़ो मौसी मामा ।
कोट बूट पतलून उतारो पहनो एक पजामा ।
रंग मिलके सब कोई छोड़ो पहुँचो टाउन हाल ।
हिन्दूपन पर लेक्चर झाड़ो गाओ ताल बेताल ।
कलम चलाओ बात बनाओ गला फाड़ चिल्लाओ ।
हिन्दू धरम प्रचार करो भई होमोलूलू जाओ ।
जो न बने तुमसे कुछ भाई पीटो पकड़ लुगाई ।
अथवा नाचो ताक धिनाधिन सिर पर उन्हें बिठाई ।
अथवा जो तुम होने भाई तो सब मूड़ कटाओ ।
पर्वत पर से कूदो अथवा जल में गोते खाओ ।
नय ढंग से जीना अथवा नये ढंग से मरना ।
नया काम कुछ करना साधो ! नया काम कुछ करना ।

विषय-वस्तु अथवा भाव-पक्ष की दृष्टि से विवेचन करने पर हम गुप्तजी के काव्य में पर्याप्त विविधता के दर्शन पाते हैं। प्रधानता सर्वत्र राष्ट्रीय भाव धारा की ही है। कवि किसी न किसी व्याज से समाज की दुरवस्था का चित्रण करता है और पुनः हमारी सुषुप्त शक्ति का उद्‌बोधन कर हमें भरपूर प्रोत्साहित करता है। कवि का स्वामि-बोध इन पंक्तियों में फूट पड़ा है —

पेट भरत हित फिरैं हाय कुकुर से दर-दर ।
खात्हिं लात पैर लपटि माँगहिं जे ठोकर ॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानें ।
कैसे तुम्हरी महिमा कबहिं हिय महँ आनें ॥

जिनके कर सों भग्न भो सुदृढ़ो न कठिन कृपान ।
तिनके सुत प्रभु पेट हित भये दास दरबान ॥

x x x

विश्वामित्र वशिष्ठ के वंशज हा ! श्री राम ।
अब चीरत हैं पेट हित ! बर बेचत हैं चाम ॥
पूछि महेश्वर की कहा ! लाज मराहिं सराहिं ।
और कहा चाहो सुन्यो त्राहि त्राहि प्रभु त्राहि ॥

x x x

निशि दिन डोलत दास सदि कुक्कुर काक समान ।
जन्म बितावत प्रेम जिमि कृपा-सिन्धु भगवान ।

चाहे देव-देवी-स्तुति हो चाहे प्रकृति-वर्णन या हँसी-दिल्लगी सम्बन्धी कविताएँ सर्वत्र विनोद एवं व्यंग्य पूर्ण शैली में राष्ट्रीय भावना ही उद्भासित होती है। कहीं प्रच्छन्न और कहीं प्रकट प्रतीत होने वाली इस राष्ट्र-प्रेम या देश भक्ति की भावना ने इनके काव्य को अतिशय जनप्रिय बना दिया। पराजित जाति का मानापमान-बोध उसकी आहत उमंगें उसकी कुण्ठित आशा-आकांक्षाएँ किस प्रकार युग-कवि की वाणी में सशक्त अभिव्यक्ति पा सकती हैं, इसका बड़ा सुन्दर निदर्शन उपलब्ध होता है।

गुप्तजी ने भक्ति-परक कविताओं की भी रचना की है। इन कविताओं में विशुद्ध देव-देवी-विषयक भावों का समावेश नहीं है। भक्ति भावना के साथ सामाजिक चेतना भी सन्निहित है। मन-तन्त्र असहयोग की भावना को तथा समरानल से क्रान्ति की भावना को भी उभारा गया है। सीता लक्ष्मी वाणी दुर्गा राम कृष्ण शिव और अन्यान्य देव-देवियों के प्रति उद्गार व्यक्त किये गये हैं। "नर भगत का बखाना' 'फकीर मुह-जबानी", "उर्दू का उभार' एवं "आजकल का युग" में हास्य और व्यंग्य का सुन्दर मिश्रण दिखाई पड़ता है। गुप्तजी की दृष्टि और रुचि का प्रसार व्यापक और विविध था। टेसू 'बम्पुलिस' हाथी दर्शन 'मिस्टर' विरहिणी 'बसन्त' 'प्रेम ऑफ बेस्ट' तथा अन्य अनेक विषयों पर इन्होंने कविताएँ लिखी हैं। इनकी 'जीवनी पीनेट' एक रचना में 'खेमा-खेमी-अंबार' में तथा "बसन्त में विरह" में मार्मिकता का अद्भुत समावेश है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जीवन

और जगत् के प्रायः सभी पदार्थों ने कवि के हृदय का संस्पर्श किया था और उन्होंने उन सबके अन्तर की मूक वाणी को सुना पहचाना तथा उन्हें अभिव्यक्ति दी। हिन्दी के उन निर्माण और विकास के दिनों में स्वर्गीय बालमुकुन्दजी गुप्त की रचनाओं का महत्व निष्पक्ष इतिहासकार कभी भुला नहीं सकता। आज हमारा देश समाज और काव्य-जगत् जैसा है उसमें स्वर्गीय गुप्तजी का सहयोग और अवदान अन्यतम रहा है। इस प्रकार की प्रतिभा का वरदान पाये हुए, सरस्वती के वरद-पुत्र युगों के पश्चात् भी विरले ही आविर्भूत होते हैं।

---



# सर्वतोमुखी गुप्तजी

श्री कृष्णाचार्य

## पत्रकार

बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बहुमुखी व्यक्तित्व में सर्वोच्च शिखर पत्रकार बालमुकुन्द का माना जाता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी के अन्तर्प्रान्तीय प्रचारार्थ एक उत्सव किया था जिसके सभापति थे अवसर प्राप्त आई० सी० एस० श्री रमेशचन्द्र दत्त और जिसमें अन्य वक्ताओं के अतिरिक्त लोकमान्य पं० बालगंगाधर तिलक ने भी भाषण दिया था। मैं उस उत्सव में उपस्थित था पर उसके सम्बन्ध में जितना गुप्तजी लिख गए हैं उतना तो सभा की वार्षिक रिपोर्ट में भी नहीं है। सभा के तीन संस्थापकों में से एक पं० रामनारायण मिश्र की यह टिप्पणी किसी भी पत्रकार के लिए श्रेष्ठ प्रमाण-पत्र से कम नहीं है। किन्तु, यह तो किसी पत्रकार की सूझ-बूझ की बात हुई! प्रतिभा और सहज ज्ञान प्राय: जन्मजात तत्त्व हैं। मर्यादापालन या वृत्ति साधना और कर्तव्यनिष्ठा से ही सम्भव है।

एक बार प्रसिद्ध व्याख्यानविशारद और गुप्तजी के हितैषी दीनदयालु शर्मा ने दक्षिण हैदराबाद के वजीरेआजम महाराजा कृष्णप्रसाद से गुप्तजी की प्रशंसा कर दी। संयोगवश महाराजऔर गुप्तजी की उर्दू शायरीमें 'शाद' धार होती थी। वजीरेआजम को गुप्तजी से मिलने की इच्छा स्वाभाविक थी। पण्डितजी ने गुप्तजी को हैदराबाद जाने को लिखा। इस निमंत्रण पर गुप्तजी का उत्तर किसी भी पत्रकार के लिए आदर्श उत्तर हो सकता है। उनका उत्तर था—"मेरे भारतमित्र पत्र से जो २)रु मासिक वेतन मिलता है वही मेरे लिए महाराजा कृष्णप्रसाद है। यदि महाराज को मुझे जानना है कि मैं क्या हूँ तो उनसे कहिये कि २)रु० मासिक भेजकर

'भारतमित्र' के ग्राहक बनें और उसे पढ़ा करें। गुप्तजी का यह उत्तर क्या वे स्वयं नहीं गए।

पत्रकारिता की मर्यादा का एक स्तर और है। वह है एक पत्रकार का दूसरे पत्रकारों से बर्ताव या पत्र के मालिक से सम्बन्ध। सब जानते हैं कि गुप्तजी ने 'हिन्दीबंगवासी' कैसे छोड़ा। उसी समय भारतमित्र के स्वामी ने उन्हें अपने पत्र का सम्पादक बनाना चाहा। गुप्तजी ने भारतमित्र के मालिक से कहा कि वे तो फिलहाल गुड़ियानी (अपने गाँव) जाने की तैयारी कर चुके हैं। यदि इस पत्र को बालमुकुन्द की जरूरत है तो उसे गुड़ियानी से बुलाया जाय। गुप्तजी एक मास भी अपने गाँव नहीं रह पाए कि तार द्वारा बुलाया जा गया। उधर वचनबद्ध गुप्तजी ने अपनी बात रख ली।

गुप्तजी के जीवन में इससे भी कठिन परीक्षा की घड़ी 'वेंकटेश्वर समाचार' में नियुक्ति के समय आई। आयुर्वेद विशारद जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वेंकटेश्वर समाचार के संपादक थे। गुप्तजी बंबई गए और मालिक खेमराजजी से और श्री शुक्लजी से बातचीत की। गुप्तजी को पता लगा कि मालिक संपादक को स्वतंत्रता नहीं देना चाहता। 'आज्ञा' देता है। शुक्लजी 'आज्ञा' शिरोधार्य करने को प्रस्तुत न थे। ऐसे विकट समय में भारतमित्र से दूने वेतन का सम्पादन भार न सम्भाल गुप्तजी शुक्लजी को यह शिक्षा देकर उल्टे पाँव लौट आए—परिवार पेट भूखा रह सकता है, पर सम्मान खोया जाता है। पत्रकार गुप्त के मानस का अध्ययन करने की दृष्टि से ये उपर्युक्त घटनाएँ पर्याप्त हैं। अन्य बातें—कि अपने सहयोगी अमृतलाल चक्रवर्ती को कष्ट में कैसे सहायता दी यह कि वे बड़े निर्भीक पत्रकार थे समय पर पत्र निकालते थे और पैसा उन्हें भ्रष्ट करने में समर्थ न था—अन्य पत्रकारों में भी मिल जाती हैं। गुप्तजी पत्रकारिता की सामान्य मर्यादाओं से ऊपर उन मर्यादाओं के कायल थे जिनके कारण सम्मान की उन्हें अपनी मति से सर्वोच्च विशेषण मनुष्य दे गए हैं।

संपूर्ण द्विवेदी युग में बालमुकुन्द गुप्त का ही व्यक्तित्व ऐसा था जिसने हिन्दी पत्रकारिता के इन्द्र का सिंहासन डाँवाडोल कर दिया। आगे के पृष्ठों में स्पष्ट होगा और समय ने सिद्ध कर दिया है कि गुप्तजी का पक्ष ही 'भाषा' 'अनस्थिरता' आदि के आन्दोलन में पुष्ट था।

*साधु हिंदी के प्रवर्तक*

निबंध-लेखन-कला और सक्षम भाषा का सहोदर संबंध है। किसी भाषा सामर्थ्य से शून्य साहित्यकार के लिए श्रेष्ठ निबंधकार होना संभव नहीं। भारतेन्दु युग श्रेष्ठ निबंधकारों की दृष्टि से विशेष रूप से भाग्यवान् रहा है। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा की मर्यादा देने तथा अन्य लेखकों से दिलाने की भी चेष्टा की थी। किन्तु निबंध के अनिवार्य गुण—व्यक्ति की अपनी निजी छाया सहज भाव से रस-मग्न होने का कौशल छोटी से छोटी जीवनव्यापी वस्तु का मानवीय चित्रण मुहावरेबाजी के साथ जीवन के साथ विभोर क्रीड़ामय अनुराग निबंध कला को पूर्णता देते हैं। हिंदी-सेवा और निष्ठा की दृष्टि से किसको बड़ा माना जाय? इस संबंध में द्विवेदीजी के साथ श्री रायकृष्णदास का इंटरव्यू उद्धृत करना अनुचित न होगा। १९१० ई० में गुप्तजी के निधन के तीन वर्ष बाद द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समारंभ के सिलसिले में बनारस आकर श्री राय साहब के यहाँ ठहरे थे। एक दिन अवसर पाकर राय साहब ने द्विवेदीजी से "जिज्ञासा की—आपकी राय में सब से अच्छी हिन्दी कौन लिखता है? उन्होंने कहा—अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त। गुप्तजी निबंधकार की दृष्टि से भारतेंदु युगीन निबंध के सम्यक् विकास और भाषा प्रवाह के वाहकों की दृष्टि से द्विवेदी युग तक के लेखकों में निःसन्देह श्रेष्ठ थे। पुनः श्री राय साहब के उपर्युक्त कथन के अनन्तर पं० किशोरीदास वाजपेयीजी का इंटरव्यू भी द्रष्टव्य है? सन् १९११ या १९१२ में श्री वाजपेयी जी दौलतपुर गए और द्विवेदीजी ने उन्हीं के घर पर पुराने 'अनस्थिरता' आंदोलन की चर्चा कर बैठे। श्री वाजपेयीजी ने उस वार्ता का सार इस प्रकार दिया है —

"भैया गलती से वह 'अनस्थिरता' शब्द निकल गया था। मैं उस समय भी उसे गलत समझता था और आज भी गलत समझ रहा हूँ। गलत नहीं प्रवाह प्राप्त तो वह है ही नहीं। प्रवाह ही भाषा में बड़ी चीज है और भैया गुप्त जी अपनी शक्ति के अनुसार हिंदी का कुछ काम करना था प्रभाव उखड़ गया तो सब गया। जिस ढंग से और जिस रूप में वह विवाद उठाया गया था उसे मैंने उचित न समझा। उस समय मैं इस आना ता लोभ निम्नी उठाते और फिर मैं उस रूप में कुछ न कर पाता।"

दो महान् हिन्दी लेखकों में से जब एक दूसरे को बड़ा मान लेते हैं तो हम जैसे सामान्य लेखकों की जान सस्ते में छूटती है। इसी सिलसिले में एक ऐतिहासिक तथ्य और स्मरण आता है। वह यह कि द्विवेदीजी केवल उम्र में गुप्तजी से एक वर्ष बड़े थे ( ज० १८६४ ई० )। १९०० ई० में उन्होंने बाबू श्यामसुन्दरदास की सिफारिश पर १९०३ ई० से सरस्वती का सम्पादन भार सम्हाला था। पुन अपनी शैली सुधारने और पत्रकार के गुण सीखते सीखते समय लगता है। उधर गुप्तजी ने छोटी उम्र में १८८६ में केवल २१ २२ की आयु में) अखबारे चुनार का संपादन किया। पुन लाहौरके 'कोहेनूर' (१८८८-८९ ई०) कालाकांकर के हिन्दोस्थान (१८८९ १८९१ ई०) कलकत्ता के हिन्दी-बंगवासी ( १८९३ १८९८ ई० ) सपादन कर चुके थे और भारतमित्र का संपादन कर रहे थे। ऐसी स्थिति में द्विवेदीजी उनसे पत्र व्यवहार करें, कुछ परामर्श लें तो कोई आश्चर्य नहीं। आत्म-विश्वास के इस पद में ही १ दिस १८ ८ के एक पत्र में गुप्तजी ने द्विवेदीजी को सरल और मुहावरेदार हिन्दी लिखने का सुझाव दिया था। यह कि साहित्यिक विवाद उठने से पूर्व दोनों में सौहार्दपूर्ण सबंध था तथा द्विवेदीजी भीतर से गुप्तजी की ज्येष्ठता को मानते ही रहे होंगे।

बाबू बालमुकुंद गुप्त के 'शिवशंभु के चिट्ठे' 'चिट्ठे और खत' में प्राय व्यंग्यात्मक राजनीतिक निबंध हैं। यों इन निबंधों में भी गुप्तजी का साहित्यिक गुण ही रूपक या उपमा के सहारे अधिक उभरा है। हिन्दी और उर्दू भाषा संबंधी निबंध शुद्ध साहित्यिक सामग्री के रूप में परिगणित किये जा सकते हैं। भाषा में प्रवाह साफ भाषा की पकड़ और मुहावरेदार प्रयोग की दृष्टि से भारतेंदु मंडल को लेकर गुप्तजी तक के लेखकों में संभवत गुप्तजी ही सबसे अच्छे निबंध लेखक थे।

*हास्यलेखक गुप्तजी*

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का व्यक्तित्व जो उनको अन्य सब पुराने और समकालीन लेखकों में 'विनोद' का पद देता है उनकी विनोदी प्रवृत्ति से सबद्ध है। संभवत इसी कारण गुप्तजी को भारतेन्दुजी की परंपरा को विकसित करने वाली कड़ी के रूप में प्राय स्मरण किया जाता है। यह स्थापना इस अंश में ठीक होते हुए भी स्वत संपूर्ण नहीं है। बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र आदि निबंध लेखक मनोरंजन या विनोद के लिए लिखते थे। केवल गोस्वामी राधाचरणजी के हास्य में उद्देश्य-रूप स्पष्ट है। 'तन-मन-धन

'मुहर्रिमी को अर्पण' या 'बूढ़े मुँह मुँहासे' जैसी रचनाओं में पाखंड को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति थी।

गुप्तजी के 'चिट्ठे' और खत राजनीतिक संदर्भ और कानून की लपेट से बचने के लिये थे। उन्होंने भारतेंदुकालीन 'चौकसा स्वागत' जैसी दर्पपूर्ण प्रभु का स्तवन करनेवाली रचनाओंकी परंपरा को समाप्त किया। दरिद्रता पराधीनता निरक्षरता की ओर ध्यान दिलाने के लिये भिन्न भाग तान और चिट्ठे द्वारा मार करने में समर्थ थे। एक ओर वे शासक अंग्रेज को यह अहसास कि भारतीय शासक की बातें समझता है, दूसरी ओर अपने देश की अपनी दीनदशा, का बोध कराने में भी देश को जाग्रत करने का दायित्व भी पत्रकार गुप्त निभाते थे। शुद्ध साहित्य की दृष्टि से सोद्देश्यता को कलाकार लेखक दोष भी मान लेते हैं। किन्तु पत्रकार गुप्तजी की कलम से निकले ये लेख साहित्य हीनता के शिकार नहीं बने। इसके ठीक विपरीत उन लेखों को श्रेष्ठ निबन्ध का दर्जा मिला। यह अतिरिक्त लाभ की बात है कि गुप्तजी के ये निबंध अपने समय के इतिहास की भी साक्षी बने रहेंगे।

जिनके जीवन में विनोद घुट्टी की तरह नहीं पिला होता प्रायः ऐसे ही लेखक 'कला कला के लिये' सिद्धान्त का राग गाते हैं। वे जीवन से न पाकर हास्य को साहित्य में ढूंढते हैं। गुप्तजी बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि और विनोदप्रिय थे। पांचवी या छठी कक्षा में पढ़ते हुए पुआल की सीढ़ियों के सहारे ऊँट को पाठशाला की छत पर चढ़ाना, ऊँट मालिक का हैरान होना और पुनः इसी युक्ति को उल्टे ढंग से पेश कर—मानों चढ़ाने का अपराध किसी और ने किया है—ऊँट को उतरवाकर मालिक से मिठाई खाने का मजाक बचपन से ही गुप्तजी की विनोदी प्रकृति का परिचायक है। आगे चलकर भी यह प्रकृति उर्दू हिन्दी कविता और लेखों में बनी है।

कलकत्ता में भी भारतमित्र का संपादन करते समय उन्होंने विनोदप्रियता का परिचय दिया था। समकालीन लेखक 'हास्य सम्राट' जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, शर्मा, पद्मनाभ चक्रवर्ती, पं० ज्वालाप्रसाद गुप्त आदि व्यंग्य लेखकों—मित्रों से विनोद संबंधी मतभेद रह चुके हैं। बाबू गुलाबराय ने १९५४ में आकाशवाणी वार्ता में कहा था कि बाबू बालमुकुन्दजी के व्यंग्य सार्वजनिक वादविवादों से प्रेरित थे।

गंभीर कार्यरत और मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए भी विनोद-व्यंग्य के सहारे मनुष्य अपने को कैसे ताजा रख सकता है ? यह कठिन कला विरले भाग्यवान् को ही प्राप्त होती है। गुप्तजी इस दृष्टि से सदैव भाग्यवान् रहे। आचार्य द्विवेदीजी में यह प्रवृत्ति बहुत कम थी। वे अपेक्षाकृत जिद्दी और क्रोधी भी थे। गुप्तजी इन दोनों से मुक्त थे। विनोदी प्रवृत्ति ने उन्हें जीवन से टकराने वाली कटुता ईर्ष्या आदि से सदैव बचाया। गुप्तजी की विनोदी शैली का एक नमूना ही पर्याप्त होगा। अपने 'उर्दू अखबार' लेख में गुप्तजी ने अंग्रेजपरस्त व्यक्तियों का जो खाका खिंचा है उससे उनकी जिस दिल्ली बात को दो टूक कहने की आदत किन्तु कटुता रहित सत्य को खास अंदाज से कहने का ढंग एक ही जगह सिमिट आया है। कोहेनूर अखबार के सिलसिले में वे लिखते हैं—"कोहेनूर के मालिकों में कई एक प्रेसों के मालिक हैं। लखनऊ के स्वर्गीय मुंशीनवलकिशोर जो हिन्दुस्थान के प्रेसवालों में लासानी हो गए हैं एक समय कोहेनूर प्रेस के मुलाजिम थे। मुंशी हरसुखरायजी की कृपा ही लखनऊ में मुंशी नवलकिशोर की प्रारंभिक उन्नति का कारण थी। भारतमित्र के वर्तमान संपादक का जिस समय कोहेनूर से संबंध था उस समय एकबार मुंशी नवलकिशोर लाहौर गए थे। कोहेनूर आफिस में जब मुंशी हरसुखराय से मिले तो बराबर उनको 'हुजूर, हुजूर' कह कर संबोधन करते थे और हरसुखराय उन्हें 'मुंशी साहब' कहते थे। वह प्रयाग की चौथी कांग्रेस का जमाना था। उस समय 'कोहेनूर' कांग्रेस का पूरा तरफदार और मुंशी नवलकिशोर, सरसैयद अहमद खां और राजा शिवप्रसाद कांग्रेस के बड़े विरोधी थे। मुंशी साहब टहलते-टहलते कोहेनूर संपादक के कमरे में भी आये। फरमाया—एडीटर साहब एक ऐंटीकांग्रेस आपके बरमें उतर रहा है आप उसे मार तो न डालेंगे। उत्तर मिला—'एक तो आप बड़े आदमी दूसरे सीटकाट काल-जिनकी आप पर इनायत हम गरीब एडीटरों पर रहम की नजर रहे। मुंशी साहब हँसकर चले आये।

अन्यत्र उर्दू मासिक-पत्रों की चर्चा करते हुए गुप्तजी ने 'उर्दू अखबार' लेख में गुलदस्ता नामक निकलने वाले कई अखबारों की चर्चा करते हुए लिखा—इन गुलदस्तों की महक लखनऊ पहुँची। यह एक बड़ी दिल्लगी की बात है कि इन गुलदस्तों को बहुधा वही लोग निकालते थे जो इतर भी बेचते थे। लखनऊ के निसारहुसैन और कन्नौज के रहीम दोनों ही इतर की दुकान

करते थे। यह कागजी गुलदस्ते इन्हीं के प्रबंध रूपी हुनर से सुगन्धित होते थे। इस लेख का लेखक भी उनकी सुवास से एक बारगी वंचित न रहा। उसके छोड़े हुए दो चार चंपई फूल भी कभी-कभी इन गुच्छों में शामिल हो जाते थे। उस समय हवा ही ऐसी थी।

पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन के संबंध में बहुधा कहा गया है कि वे मुख्य साहित्यकार थे किन्तु राजनीति उनपर हावी रही। गुप्तजी के सम्बन्ध में इस प्रकार का निर्णय देना आसान नहीं है। जिस व्यक्ति ने अपने समय के श्रेष्ठ हिन्दी उर्दू के पत्र सफलता पूर्वक सम्पादित किये जिसने हिन्दी उर्दू में लेखों निबन्धों के अलावा उर्दू-हिन्दी में कविता भी प्रचुरमात्रा में लिखी जिसने भाषा आन्दोलन द्वारा भाषाकी पकड़ उसकी अन्तर्दृष्टि का प्रौढ़ परिचय दिया उसे श्रेष्ठ पत्रकार कहा जाय या श्रेष्ठ साहित्यकार? ऐसे व्यक्ति को दोनों प्रकारों में श्रेष्ठ मानना ही होगा।

आदर्श और मर्यादा के तत्वों से निर्मित सच्चे अर्थों में सामाजिक व्यक्ति बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो अप्रतिम हैं ही वे कौटुम्बिक मैत्री के सम्बन्धों में भी पाकदामन और कर्तव्यनिष्ठ थे! हिन्दी का भविष्य बालमुकुन्द गुप्त जैसे सर्वतोभद्र साहित्यकार और पत्रकार पाकर द्रुतगति से विकसित हो सकता है।

सम्पुटीय विवरण

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म रोहतक जिले के गुड़ियानी ग्राम में पूरनमल अग्रवाल के घर १९२२ विक्रमी (१८६५ ई०) कार्तिक शुक्ल ४ को हुआ। गुप्तजी केवल मिडिल परीक्षा पास थे। १८८५ में पं० दीनदयालु शर्मा ने उर्दू में मथुरा अखबार निकाला था। यह पत्र एक वर्ष से अधिक न चला। गुप्तजी ने सब से पहले इसी पत्र में लिखा। किन्तु इतने थोड़े समय में लेखक ने शर्माजी पर अपनी योग्यता की धाक जमा दी। फिर तो पं० जी की सहायता से गुप्तजी अखबारे चुनार (१८८६—८८) का सम्पादन करने लगे। जब शर्माजी लाहौर के कोहनूर के सम्पादक होकर चले गये तब गुप्तजी भी वहाँ गए और १८८८—१८८९ ई० में इस पत्र के सम्पादक रहे। यह कोहनूर छोड़ने समय में किन्तवार अपने जीवन के पूर्वार्ध

में ( १८९०—१९०० तक ) उर्दू का सर्वश्रेष्ठ पत्र था। पुनः मदनमोहन मालवीय ने गुप्तजी को 'होनहार बिरवा' देखकर कालाकांकर से निकलनेवाले 'हिन्दोस्थान' में ले लिया। किन्तु जब मालवीयजी वकालत पढ़ने इलाहाबाद चले आये तब राजा रामपाल द्वारा रक्षित यह अखबार कांग्रेस विरोधी हो गया और गुप्तजीको यह कह कर हटा दिया गया कि 'बहुत कड़ा लिखते हैं। यहीं से गुप्तजी सदैव के लिये हिंदी के हो गये।

हिन्दी बंगवासी (कलकत्ता से प्रकाशित) ने मडेल भगिनी नाम के उस समय के प्रसिद्ध उपन्यास के अनुवाद की आलोचना से प्रसन्न होकर गुप्तजी को बुलाया। वे यहाँ १८९३-१८९८ ई० तक सम्पादक रहे पुनः १८९९-१९०७ ई० तक भारतमित्र के सम्पादक—एक प्रकार से सबकुछ। पिछले दो अखबारों के संपादन-काल में गुप्तजी का विकास अद्भुत तेजी से हुआ। कोई प्रतिभावान उर्दू का प्रसिद्ध पत्रकार हिन्दी का भी सफल वरन् उससे भी अधिक सफल पत्रकार हो सकता था—यह बात गुप्तजीके उदाहरण से कितने सुन्दर रूप से सामने आती है। इतना ही क्यों? गुप्तजी हिन्दी-उर्दू के मतभेद के कारण हिन्दू-मुसलमानों के मतभेद की आशंका करते थे। उनका कहना था कि दोनों भाषाओं के पत्रकारों को गुलामी के विरुद्ध लड़ना चाहिये—न कि आपस में।

इतने पत्रों का (एक के बाद एक) संपादन करते हुए भी गुप्तजी कोहेनूर अवध पंच अखबारे चुनार रहबर, विक्टोरिया गजट भारत प्रताप मखजन उर्दू-ए-मोअल्ला जैसे उर्दू के प्रथम श्रेणी के पत्रों तथा दयानारायण निगम के संपादन में प्रकाशित 'जमाना' में भी लिखते थे। यह अन्तिम पत्र भी उर्दू के श्रेष्ठ लेखकों का कृपा भाजन था। इसमें गुप्तजी ने सबसे अधिक लिखा। निगम साहब गुप्तजी के अन्तरंगों में थे! गुप्तजी के निधन पर सबसे अधिक मार्मिक लेख 'बहुत-सी खूबियाँ थीं मरने वाले में' नाम से निगम जी ने ही लिखा था! और बतलाया था कि गुप्तजी के लिये हिन्दी-उर्दू के मिजाज एक ही थे!

हिन्दी साहित्य और विशेषकर भाषा के लिये केवल ४२ वर्ष की आयु में (१८ सितम्बर १९०७ ई०) गुप्तजी ने जो कुछ किया उसकी स्मृति आज के संघर्ष के दिनों में और भी अधिक उभर कर सामने आने लगती है। गुप्तजी ने हिन्दी के प्रश्न को संपूर्ण राष्ट्र और उर्दू को समाहित करने की

दृष्टि में रखा था और उसी विचार-धारा को आगे बढ़ाया था। क्या आज भी हम सरल हिन्दी और देवनागरी की बात को और आगे ले जा सके हैं? 'बंगकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त : जीवन और साहित्य' नाम से शोध प्रबन्ध भी डा० नत्थन सिंह प्रकाशित कर चुके हैं। किन्तु हमारे शोध की दृष्टि से बहुत सी बातें और भी सामने आने को हैं। 'कोहेनूर', 'जमाना' की फाइलों की बात तो दूर 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारतमित्र' की फाइलें भी आज काल के गाल में समा चुकी हैं। यह अद्भुत सौभाग्य की बात होगी यदि ये फाइलें किसी अज्ञात स्थान से अचानक ही मिल जायें। गुप्तजी ने पुस्तकों के रूप में प्रकाशन कम किया था बच्चों के लिए 'खिलौना' (१८९९ ई०) और 'खेल तमाशा' जैसी पुस्तकें लिखीं। ये पुस्तकें मेरे देखने में नहीं आईं। चिट्ठे और खत, शिवशम्भु के चिट्ठे, स्फुट कविताएं, हिन्दी भाषा नाम से प्रकाशित पुस्तकें भी समाचार पत्रों में छपे (१८९८ से १९०७ ई० तक) लेखों के संग्रह हैं। इन लेखों में गुप्तजी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व सुरक्षित है।

१९५० ई० में गुप्त स्मारक उत्सव (कलकत्ता) के अवसर पर प्रकाशित गुप्त निबंधावली में सभी लेख भी जोड़ दिये गए हैं जो किसी पुस्तक में सम्मिलित न हो सके थे। इस अवसर पर 'बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक ग्रन्थ' भी प्रकाशित हुआ था जिसमें गुप्तजी की जीवनी और पचीसों साहित्यकारों के संस्मरण आदि हैं। पुस्तकाकार साहित्य का विवरण इस प्रकार है —

मौलिक

चिट्ठे और खत

कलकत्ता भारतमित्र प्रेस १९०७ ? ५४ पृ० २२ मे जून १९०१ से लेकर मार्च १९०३ तक छपे लेखों का संग्रह दूसरा सं० कलकत्ता से १९२८ में छपा पहले सं० में गुप्तजी की मृत्यु का संवाद छपा है। लेखक इस पुस्तक को नहीं देख पाया। शिवशम्भु के चिट्ठे

कलकत्ता भारतमित्र प्रेस १९०६ ई० सप्रमाण १०४ में जमाना में तथा भारतमित्र में छपे लेखों का संग्रह (११ अप्रैल १९०३ से लेकर १९०५ ई० तक छपे लेखों का संग्रह) तीसरा सं० कलकत्ता से १९२ में श्री यशोदानन्दन अखौरी ने निकाला। स्फुट कविता

कलकत्ता भारतमित्र प्रेस १९०५ vi १५२ पृ० हिन्दोस्थान हिन्दी बंगवासी और भारतमित्र में प्रकाशित कविताएँ १८८८ से लेकर १८८९ ई० तक प्रकाशित कविताएँ स्वयं गुप्तजी के कथनानुसार उर्दू और

फारसी में थी उस समय मैं हिन्दी नहीं जानता था। यह हिन्दी क मे अधिक है उसमें हँसी-दिल्लगी की अधिक बातें हैं हिन्दी कालाकांकर में स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्रके सम्पसे आई। हिन्दी कलकत्ता भारतमित्र प्रेस १९६४ वि (१९०७ ई० XII ६ २८ २२ से० लेखक का चित्र दूसरा सं० कलकत्ता से यशोदानन्दन अर द्वारा १९२२ ई० में प्रथम १२ पृ० में अमृतलाल चक्रवर्ती कृत मु का परिचय।

बाल साहित्य

खिलौना प्रयाग इण्डियन प्रेस १८९९

खेल तमाशा १८९९ (२४ पृ०)

दोनों पुस्तकों पर लेखक का नाम 'रसिकलाल दत्त' लिखा है।

अनुवाद मर्पाघात चिकित्सा

अनुवादक बालमुकुन्द गुप्त कलकत्ता भारतमित्र प्रेस १९५६ (१८९९ ई०) मूल बँगला पुस्तक 'सर्पाघात प्रतिकार' सं०

हर्षदेव रत्नावली नाटिका

अनुवादक बालमुकुन्द गुप्त कलकत्ता भारतमित्र प्रेस १९५९ (१९०२ ई०) X ० पृ० १७ से० यह दूसरा संस्करण है। मे अशुद्धियों पर खेद प्रकट किया है। भा हरिश्चन्द्र द्वारा अधूरा कार्य पूरा करने के लिए। पहला सं बंगवासी प्रेससे १९५५ वि० में छ

योगेन्द्रचन्द्र वसु मडेल भगिनी (१८५४ १९०५)

अनुवादक बालमुकुन्द गुप्त कलकत्ता बंगवासी प्रेस १९०१ ? बँगला भी ८ भागों में बंगवासी प्रेस के स्वामी (यो०च वसु) द्वारा ही १ १८८७ ई में छपा था यह बहुत प्रसिद्ध हुआ। लेखक की संक्षिप्त जी अनुवादक ने लिखी थी जो भारतमित्र में १९०५ में प्रकाशित हुई। देखिए—गुप्त निबन्धावली (१९५०) पृ० ४३ ४६।

रंगलाल मुखोपाध्याय हरिदास

अनु० बालमुकुन्द गुप्त उर्दू में—रहबर प्रेस १८८ ई० हिन्दी कलकत्ता बंगवासी प्रेस १८९६ ई० १३२ पृ० १८ से अनुवाद अनुसार यह अनुवाद नहीं अपने ढंग पर अपनी भाषा में लिखा है।

जहाँगीरनामा अनु० मुन्शीदेवी प्रसाद सम्पा बालमुकुन्द गुप्त—अनु ०। जीवनी नहिन कलकत्ता १ ०५।

# विस्मर्यतां किमिव बालमुकुन्दगुप्तः

श्री कल्याणमल लोढ़ा

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने सन् १९०५ में पं० देवकीनन्दनजी के बारे में लिखा था हिन्दी के एक सुयोग्य लेखक को भाग्य ने तो बंगाली में रखा पर हिन्दी के प्रेमी भी उसे गुमनामी के हवाले करते हैं यह बड़ी आक्षेप की बात है। यह प्रसंग उनके लिए है जिन्हें हम एक दृष्टि से हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार कह सकते हैं, (१) और जिनके नाटकों के लिए महामना मदनमोहन मालवीय ने एकदिन कहा था कि हिन्दी में नाटक लिखना पं० देवकीनन्दन से सीखना चाहिए। आगे चलकर बाबू श्यामसुन्दरदास कृत हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में वैश्योपकारक और सुदर्शन के सम्मान्य सम्पादक एवं हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं० माधव प्रसाद मिश्र का कहीं भी उल्लेख न देख पं० पद्मसिंह शर्मा ने क्षुब्ध होकर लिखा था इस बड़े से बड़े पुष्ट पोथे में हिन्दी के इस उद्भट विद्वान का नाम तक नहीं आया (२) अयोध्याप्रसाद खत्री को भी इस ग्रन्थ में अपना नाम व उल्लेख न पाकर बड़ा दुःख हुआ जिसकी चर्चा उन्होंने पं० श्रीधर पाठक से एक पत्र में भी की। और तो और, भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'कविवचन सुधा' ने भी उनकी ही मृत्यु पर एक वाक्य भी खर्चा नहीं किया (३) बाबू बालमुकुन्द गुप्त का आदर पं० पद्मसिंह शर्मा का क्षोभ और खत्रीजी का मानसिक कष्ट केवल भावावेश मात्र न था इसके मूल में साहित्य के इतिहास की मर्यादा का एक विशिष्ट प्रश्न भी सन्निहित था। निःसन्देह आज भी इन पत्रों की त्वरित गति में और अपनी प्रवहमान विस्मरणशीलता में साहित्य का इतिहास बहुधा अपना अतीत पूरी दृष्टि से देख नहीं पाता और

उसके अनेक सन्दर्भ साहित्य-मनीषी जाने अनजाने अपेक्षाकृत गौण रह जाते हैं। पहियों की गति में धूरीका सत्य बहुधा दृष्टिगत नहीं होता संभवतः इसी से वारेन धास्टिन को कहना पड़ा कि इतिहास अपने मूल में कुछ सन्दर्भों का उभरे हुए प्रसंगो का केवल सकलन मात्र है और साहित्य का इतिहास भी इसका अपवाद नहीं आधुनिक हिन्दी साहित्य में उत्तर भारतेन्दु-युग इसी प्रकार उपेक्षित रहा है। बहुतों ने तो इसे द्विवेदी युग की उबड़खाबड़ पीठिका (४) तक कह डाला। परन्तु भारतेन्दु और आचार्य द्विवेदी के बीच की यह लम्बी अपनी संभ्रमम स्थिति में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं इस युग के उपेक्षित साहित्यकारों का केवल वर्णन हुआ है उनके कर्तृत्व का सम्यक विश्लेषण और उनकी देन की महत्ता का उचित मूल्यांकन अब भी अनेक दृष्टियों से अपेक्षित है। यदि भारतेन्दु काल आधुनिक साहित्य का बीजारोपण काल था तो उत्तर भारतेन्दु-युग उसकी अंकुर अवस्था। इस युग के तपपूत त्यागी साहित्यसेवियों ने भयकर आंधियों तूफानो और झझावातों के मध्य इस अकुर की रक्षा की और भारतेन्दु के काम को पूरा किया एवं आगे आने वाले आचार्य द्विवेदी के लिए भूमि को समतल किया। उत्तर भारतेन्दु युग 'अराजकता का युग (५) नहीं था इसकाल के पत्र-पत्रकार पथभ्रष्ट नहीं थे सभी सहकर्मी थे सहधर्मी जिनमें न कोई गुरु था न कोई शिष्य। सन् १८७१ में यदि भारतेन्दु ने हिन्दी को नई चाल में ढाला तो उसकी पक्की व्यवस्था करने का श्रेय इन्हीं साहित्यकारोंको है। कवि वचनसुधा के आदर्श 'हरिपदमति' आरि मरसम' और 'जनकी अमृतवाणी' का उन्होंने पालन किया इन्होंने साहित्य को जातीय जीवन से संयुक्त कर दिया विदेशी शासन और शोषण का घोर विरोधकर स्वदेशी आन्दोलन को पुष्ट-पुष्ट किया उर्दू के प्रतिरोध के समय इन्होंने हिन्दी की देवदुन्दुभी बजायी निज भाषा और आगके साथ साथ हमारी सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराओं को स्वस्थ और नवीन जीवन देकर 'हिम युग' को मिटाया। संक्षेप में यह युग हिन्दी की ऐतिहासिक आवश्यकताओं की पूर्ति का युग था इस युग के पत्र और पत्रकारों ने इन आवश्यकताओं की पूर्ति की वे हमारे साहित्य को दिग्भ्रांत होने से बचाने के लिए आलोक स्तंभ के सदृश रहे। उत्तर भारतेन्दु-युग में ही अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली का पद्य (१८८७-८९) प्रकाशित किया हरिश्चन्द्र मैगजीन और चंद्रिका में गद्य के जिस परिष्कृत

'गवर्नमेन्ट के विरुद्ध बहुत कड़ा लिखनेके लिए' उन्हें 'हिन्दोस्तान' छोड़ना पड़ा। कांग्रेस के जन्म के साथ ही उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था। देश के स्वतन्त्र राजनीतिक प्रश्नों और पहलुओं पर उन्होंने बेधड़क और निरपेक्ष लेखनी चलाई। बंग भंग आंदोलन से देश में जो जागृति की लहर आयी थी उसे आगे बढ़ाने में 'भारत मित्र' अग्रणी था। गुप्तजी के प्रतिनायक थे। उनके कुकृत्यों को लेकर गुप्तजी ने जितने चिट्ठे लिखे जितनी कविताएँ लिखीं उतने किसी अन्य के लिए नहीं। लार्ड कर्जन विरोध का परिणाम निकला कि 'वैश्योपकारक' जैसा पत्र भी जिसने पहले लार्ड कर्जन का समर्थन किया था उनका विरोधी बन बैठा और कहने लगा 'कर्जन दरजन दिन रहे समय निपराया। अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया' गुप्तजी ने मिंटोमार्ले सुधारों की भी कठोर और स्पष्ट आलोचनाएँ की। सन् १९०५ में कलकत्ते के कांग्रेस महाधिवेशन पर जो दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुआ था गुप्तजी ने लिखा "यह सफेद झूठ है कि अंग्रेजों ने भारत को तलवार से जीता है—भारतवासियों की तलवार से यह देश फतह करके अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया था जिन हिन्दुस्तानियों ने अपना खून पानी की तरह बहा कर दिया है उनकी बात सुनने से तुम्हें लज्जा होती है कितनी बड़ी कृतघ्नता है कितनी बड़ी लज्जा की बात है। (८) बंग-भंग आन्दोलन पर उन्होंने लिखा कि यह इस देश का अन्तिम विषाद और आगे के लिए अन्तिम हर्ष है। बम-विस्फोट पर २१ अक्टूबर १९०५ में भारत मित्र की टिप्पणी उनके प्रखर और प्रदूर देश प्रेम का अन्यतम उदाहरण है। बंगदेश की भूमि जहाँ थी वहीं है और उसका हरएक नगर और गाँव भी वहीं था वहीं है और भारतवासियों के मन में यह बात जम गई कि अंग्रेजों से भक्ति भाव करना वृथा है ... ईश्वर की यह नहीं सुनते'(९) लार्ड मिन्टो के स्वागत पर कितनी निर्भीकता से उन्होंने कहा कि प्रजा की इच्छा से आप यहाँ के शासक नियत नहीं हुए। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' व्यंग्यात्मक व्यंग्य के साथ साथ गुप्तजी के राष्ट्र और स्वदेश प्रेम के उत्कृष्टतम नमूने हैं। से पर्नर फुलर साहब की कमबख्ती का जवाब देने के लिये उन्होंने 'शाइस्ता खां का खत फुलर साहब के नाम' लिखा। पत्रों के द्वारा किये गये दमन पर उनका खून खौल उठा। 'मुल्क की हालत बहुत नाजुक होती जा रही है। लाला जगपतराय जेल में हैं लाला लाजपतराय जलावतन लाट मजीठ सिंह पर जमायतनों का वारंट। होश में आओ। जबरदस्ती और जाबरी पर नाजन—जल्लादी और जोंक का जमाना अब नहीं है, मई

बनी। (१०) शिवशम्भु के चिट्ठों में 'माई लार्ड' का सम्बोधन एक गहरे व्यंग्य भाव से होता था। प० बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी प्रदीप में माई लार्ड का प्रयोग १८८० ई० में लार्ड लिटन और रिपन जी के संदर्भ में किया था। लगता है वहीं से इस सम्बोधन का अद्भुत साहित्यिक प्रयोग बन पड़ा। गुप्तजी ने इस सम्बोधन में देश की समूची कसक भर दी और यह पद हमारी जातीय परतन्त्रता का प्रतीक बन गया। इन्हीं चिट्ठों से हास्य और व्यंग्य लेखन की एक नयी परम्परा चली। हास्य और व्यंग्य के गुप्तजी पोषक थे। ये चिट्ठे जहाँ एक ओर शिष्ट और सरस हास्य के उदाहरण हैं वहीं दूसरी ओर उत्कट राष्ट्र प्रेम के। सजीव मुहावरों और चलती भाषा में ये लिखे गए हैं। इन चिट्ठों ने हिन्दी में एक नयी विधा कायम की। परवर्ती लेखकों ने भाव अपनाकर इस शैली को अपनाया। (प० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के चिट्ठे विजयानन्द दुबे के नाम से पत्र में निकले) इन चिट्ठों में लेखक ने देश और देशवासियों की दुरवस्था का यथार्थ और सुन्दर चित्रण किया है जिसमें शासकों और शासन का प्रतिकार तिरस्कार और विरोध। वे कहते हैं 'माई लार्ड कभी इस देश में आकर आपने प्रजा की ओर ध्यान न दिया कभी यहाँ की दीन मूक प्रजा की दशा पर विचार न किया। कभी दो मीठे शब्द सुनाकर यहाँ के लोगों को उत्साहित नहीं किया फिर यह मालिन्य यहाँ के लोगों को किस इस के बन्धन में ? पराधीनता को मरक भी में भारी भार होती है। माई-लार्ड इस देश की प्रजा आपको नहीं चाहती और आप इस देश की प्रजा को नहीं चाहते फिर भी आप इस देश के शासक हैं यही विचार कर इस मस्तूई शिक्षक का सावधानी सम्भलो तथा विचार हो जाता है'.. गुप्तजी की राष्ट्रीय भावना सम्पूर्ण अर्थ में भारतीय थी। वे जनता का हित समझते थे। अखबार आर्यावर्त ने भारतमित्र के साथ और उद्देश्य में उन्नति किया हुआ विस्तृत आलोक बनाए थे। गुप्तजी ने उनकी लेखनी में भारतमित्र भारतवर्ष का प्रकाश है और भारतवर्ष हिन्दुओं का देश है .. भाव के निवास स्थान में कमजोर रह मिला। राजनीति समान्य और हुई मन पर लोकप्रियता के आधार पर इनका व्यंग्य और मूल रूप और था। सहायता ने वायसराय को भार से (२०) हिन्दू हिन्दुस्तान का विरोध आरम्भ किया।

कविता लिखने को कहा जिससे निराश किसानों को धैर्य बँधे। पं० माधव प्रसाद मिश्र ने पं० श्रीधर पाठक की 'हेमन्त' कविता की कठोर आलोचना करते हुए लिखा था "पाठक जी इसमें अन्तरंग रहस्यमय दम्पति प्रणय और सुरति सुख तक का वर्णन कर गए हैं। पर सड़कों और बाजारों में दुर्भिक्ष-दलित वस्त्रहीन दुःखियों को बिल्कुल भूल गए। 'पुनरपि हेमन्त' में इन बेचारों की क्या दशा हुई कुछ न जाना।"[1] ऐसा ही आक्षेप बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता 'प्रियंवदा' पर किया क्योंकि "राष्ट्रीय जागरण और सांस्कृतिक नवचेतना के प्रसार काल में शृंगारिक कविता करना आत्महनन है। पं० शालिग्राम के कामशास्त्र पर उन्होंने जो कड़ी फटकार बताई वह भी इसका प्रमाण है। यह स्पष्ट है कि गुप्तजी के निबन्ध उनका काव्य और उनकी अन्य रचनाएँ उनके देश प्रेम उनकी राजनीतिक चेतना और राष्ट्रवाद के पुष्ट प्रमाण हैं।

गुप्तजी हिन्दी पत्रकारिता के उन्नायक कहे जाते हैं। गुप्तजी ने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। यह परिवर्तन केवल साहित्यिक ही नहीं व्यावसायिक भी था। पत्रकार के लिए *सैद्धान्तिक दृढ़ता व्यावहारिक निष्पक्षता और चारित्रिक उज्ज्वलता का होना* अनिवार्य है। गुप्तजी में यही दृढ़ता निष्पक्षता और उज्ज्वलता थी। उन दिनों हिन्दी पत्र के पाठक कम होते थे जो होते थे वे भी अल्पकाल के लिए। पत्रों की उग्र राजनीतिक दृष्टि के कारण उनके प्रति जन साधारण में शंका और भय विद्यमान थे। यही कारण है कि उस युग के पत्रों को प्रायः आर्थिक दुर्दिन देखने पड़े। सबकी दशा समान थी—सब पत्र अर्थाभाव में समय पर निकल नहीं पाते थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र का ब्राह्मण इसी लिए बन्द हुआ। वे बार-बार पाठकों से निवेदन करते रहे 'आठ मास बीते जज-मान अब तो करहु दच्छिना दान' बालकृष्ण भट्ट के हिन्दी प्रदीप' के समक्ष यही समस्या प्रमुख रही। उन्होंने पत्र मँगाकर पैसा न देनेवाले ग्राहकों को 'मक्खीचूस कंजूस ...... तक कह अन्य सम्पादकों को इनसे सावधान करने के लिए सूची तक प्रकाशित कर दी। ब्राह्मण' और हिन्दी प्रदीप' इसी में मुर्झा गए—या भट्टजी के ही शब्दों में 'हाय! हमारे लिए इसी रिसाले' मृत्यु हो गई। बंगवासी के पत्रों की दशा भी यही थी। 'सार सुधानिधि' जैसे पत्र ग्राहकों के ध्यान योग्य अति प्रयोजनीय सूचना' में पैसा भेजने का निवेदन करते थे। प्रकाशन के कुछ ही वर्षों पश्चात्

1

१८८० ई० में उसे पाठकों की सहायता के बिना बन्द होना पड़ा।
मित्र विलास इसके बन्द होने पर आठ-आठ आँसू रोया। यदि मधुर मरेश
की सहायता प्राप्त न होती तो सारसुधानिधि समाप्त हो जाता। यही
दशा उचितवक्ता की हुई। पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र के पत्रों में पाठकों की
न्यूनता। प्रारम्भ से ही कमजोरी रही। सब पत्रों के साथ में देने में
भारतमित्र में ऐसा कुछ है जो दूसरे पत्रों में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता।
इस परिवार में यदि हम बाबू बालमुकुन्द गुप्त को सम्पादन कला का श्रेय
दें तो वह अधिक अच्छी तरह स्पष्ट हो सकेगी। गुप्तजी ने अपने शासन में
भारतमित्र को सदैव ही आत्मनिर्भर रखा। जगन्नाथ प्रसाद जी चतुर्वेदी (भारत
मित्र के सम्पादक) ने समस्त भार गुप्तजी पर छोड़ा था—गुप्तजी ने इस
शासन में उसे बनाया कि भारत मित्र को कभी भी भार आर्थिक संकट
में नहीं गुजरना पड़ा। कभी-कभी तो सरकारी विभाग के व्यक्ति स्वयं आकर
भारतमित्र कम दाम में आवश्यकता पड़ने पर बनाव और सुझाव भी कर गए
थे। उसने अपना मस्तक इस को सामान्य जनता में रखा—लोगों में छोटे
पत्र उसमें प्रकाशित होते थे। यही कारण था कि उसका प्रचार और
प्रभाव अखिल भारतवर्षीय रहा। गुप्तजी के सहायक सम्पादक बाबू गोपाल
राम गहमरी ने लिखा है पंडित रुद्रदत्त शर्मा के समय में भारतमित्र के
ग्राहक घट गए थे। गुप्तजी की निर्भीक लेखनी से सब प्रसन्न हो गए और
भारतमित्र का खूब प्रचार बढ़ा। भारतमित्र की स्थायी सफलता का कारण
गुप्तजी की कुशल सम्पादन नीति थी। एक ओर उसमें राजनीतिक चर्चा
दूसरी ओर साहित्यिक वाद विवाद की सामग्री भरी रहती थी तथा ऐसी
सामाजिक कुरीतियाँ भी भारतमित्र के विषय रहते थे।

गुप्तजी के सम्पादन-कौशल का एक और पहलू उल्लेख्य है। गुप्तजी
के समय में हिन्दी समाचार पत्रों में साहित्यिक ढंग से बहस और वाद
विवाद करते ही रहते थे। उचितवक्ता २८ सितम्बर १८८१ में बताता था
कि साहित्यिक विरोध कौतुक में एक अच्छा ऐतिहासिक पत्र प्रकाशित हुआ
था इस दृष्टि पर प्रकाश डालता है। सार सुधानिधि का विरोध भारतमित्र से
रहा। हिन्दी बंगवासी और बिहारबन्धु का झगड़ा तो प्रसिद्ध है ही।
हिन्दी के और अन्य समाचार पत्रों का वाद विवाद भी साहित्यिक कम व्यक्तिगत
अधिक था। उचितवक्ता का विरोध तो सार सुधानिधि से कभी कम न रहा। भारत-
बन्धु और सारसुधानिधि का विरोध भी जिसने भी तरह तरह बना। भारतमित्र

और बिहारबन्धु का भगड़ा भाषा के प्रश्न को लेकर एक वितंडावाद बन गया गुप्तजी ने इस विवाद में भी शक्ति ही बरस दी उन्होंने इनको शुद्ध साहित्यिक भूमिका पर स्थित किया 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' वाला सिद्धान्त अपनाया। गुप्तजी का जो विवाद 'शेष' शब्द लेकर पं० लज्जाराम मेहता से और 'अनस्थिरता' को लेकर जो पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से हुआ वह अपने मूल में सैद्धान्तिक था। यह सही है कि इस विवाद में दोनों पक्षों की ओर से पीछे असंगत आक्षेप किये गये अशिष्ट भाषा का प्रयोग भी हुआ पर यह सब एक कृत्रिम और मिथ्या आवेश का परिणाम था विवाद का मूल हेतु नहीं। 'शेष' संबंधी विवाद को लेकर गुप्तजी ने अन्त में मेहताजी की सज्जनता की प्रशंसा की। मेहताजी ने इस विवाद को एक उत्कृष्ट साहित्यिक विवाद के रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार 'अनस्थिरता' शब्द के और विवाद के अन्त में सब कुछ भूलकर कानपुर जाकर गुप्तजी द्विवेदी जी से मिलने गए। गुप्तजी द्वारा प्रवर्तित ये विवाद अनावश्यक के वितण्डावाद न होकर भाषा के प्रयोग और उचित अन्वेषण से अधिक संबंध रखते थे। गुप्तजी ने हिन्दी पत्रकारों के समक्ष साहित्यिक विवाद की एक सैद्धान्तिक भूमिका प्रस्तुत की—चाहे उसका पूर्ण परिष्कार उस समय न हो सका हो। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी गुप्तजी के मित्रों में थे। उनकी अनेक रचनायें गुप्तजी ने प्रकाशित की थी उनका पारस्परिक व्यवहार और पत्राचार भी अच्छा था। आचार्य द्विवेदी ने जब लाला सीताराम की कड़ी आलोचना की तब गुप्तजी ने अनेक बार उन्हें प्रकाशित किया। प्रकाशित ही नहीं उन्होंने अपने मासिक तक में कह दिया कि यदि लाला सीताराम चाहें तो उनका उत्तर दें। आचार्य द्विवेदी में जितनी कमठता थी उतनी ही अहम्मन्यता भी। इस अहम्मन्य और स्वच्छाचारी प्रकृति के कारण ही उनका तालमेल उस युग के अनेक उद्भट साहित्यकारों से नहीं बैठा। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से उनकी अनबन थी ही। पं० माधव प्रसाद मिश्र से भी उनका वाद विवाद 'नैषध चरित' को लेकर चला और बाबू बालमुकुन्द गुप्त से 'अनस्थिरता' को लेकर। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है कि स्वयं आचार्य द्विवेदी ने यह स्वीकार किया "भैया गलती से यह अनस्थिरता शब्द निकल गया था मैं उस समय भी उस गलत समझता था और आज भी समझ रहा हूँ। गुप्तजी के भी विवाद अनेक पत्र पर विवाद सैद्धान्तिक होने का कारण उनका अंत कभी [illegible] नहीं हुआ। पं० माधवप्रसाद मिश्र की मृत्यु पर उनका दुःख और करुण पठनीय गुप्तजी एक निडर एवं निष्पक्ष आलोचक थे। मान-समाज उनसे था

ही नहीं। ग्रामसामीप जिल्ला म जान मोर पर (मापार द्विवेदी के मित्र बासवान) के आधार पर उन्होंने द्विवेदीजी के जगन पाठ्य (या बिम्ब) पर नक्षत्र ध्यान किया है। तब पार गन्धनारायण 'कविरत्न' की कविता प्रकाश तक प्रेमाभिव्यक्ति किया था दूसरा और मानसी पूजन के ध्यान पर उद्भव मैथिलीशरण गुप्त तक को मिल दिया। कविता निर्माण का यह इस बात ही परिचायक है। उन्होंने कविता को साहित्य रचना की करम मनोरंजन का साधन नहीं समझा उस ओर जीवन की सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। स्फुट कविता की भूमिका में उन्होंने लिखा भारत में अब यदि नीति नहीं है कविता भी नहीं है। कारण यह है कि देश और जाति की स्वाधीनता में कविता सबसे रहती है। जब यह कविता होती थी कविता के लिए भजन इन की भाव जैसे रूप के भाव और जीवन मन का मोड़ दरबार है समझकर इसलिए वे अपनी कविताओं की पुस्तकें बना डाला था। उनकी भावनाओं का भी यही माननीय था—जीवन की सामान्य भाव भूमि और जातीय-नीतिमत्ता। इन ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के मधुमती नाटक की जो भाव आलोचना की उसका परिणाम हुआ कि उसके हिन्दी अनुवादक मुंशी उदित नारायण लाल ने सब नायिका समाजों में दृढ़ की और नाटक मूल समान न था अपनी मूल स्वीकार की। उन्होंने लिखा कि इस नाटक में बंगभाषा के साहित्य का मूल बारह बना हुआ है—यह दुर्भाग्य का समय था जब इस नाटक की बनाई हुई पुस्तक उन्माद को ले सका। ठीक उसी प्रकार उन्होंने लिखा कि मासिक नर्मदा मूल की भी आलोचना की। पं० सुधाकर द्विवेदी की पुस्तक 'सुधाकर' का जिसमें उन्होंने मार्ग के आधार पर कविता बनाई गई भी अधिक लिखा। हिन्दी सभा के प्रस्ताव का उन्होंने घोर विरोध किया और इस प्रकार धार्मिक भावनाओं के अतिरिक्त उन्होंने पं० बालकृष्ण भट्ट की भाँति जीवन चरित्र लिखन का सूत्रपात किया।

उनसे हिन्दी और उर्दू दोनों का ही गम्भीर अध्ययन किया था पर यह भी महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखना चाहते थे पर दुर्भाग्य से यह पूर्ण न हो सका।

गुप्तजी का युग हिन्दी-प्रेम का युग था उस समय के सभी लेखकों ने हिन्दी सेवा का प्रण ग्रहण किया था। उससे भारत के प्रत्येक नगर में हिन्दी और नागरी प्रचार की असंख्य संस्थाएँ और सभाएँ बनीं। कलकत्ते के पत्र और पत्रकार भी हिन्दी और नागरी के विराट् एवं व्यापक आंदोलन के अंग और माध्यम बन गए। उन दिनों अहिन्दी प्रान्तों में आज की भाँति हिन्दी का विरोध न था। महाराष्ट्र गुजरात और बंगाल हिन्दी के परम समर्थक थे। 'सार-सुधानिधि में प्रकाशित (वर्ष १ अंक १४) हिन्दी भाषा लेख में इस दृष्टिकोण का परिचय मिलता है —'देश की उन्नति' और निष्कपट निर्दोष सभ्यता की वृद्धि' पर जब हम सोचते हैं तो हमारी दृष्टि हमारी भाषा पर पड़ती है क्योंकि जब तक निष्कपट विशुद्ध भाषा की उन्नति नहीं होगी इसी से उचित है कि हिन्दी की उन्नति करें। हिन्दी प्रचार का यह मंत्र भी भारतेन्दु ने ही दिया था। प्रयाग की हिन्दी वर्द्धिनी सभा के उद्घाटन पर उन्होंने भाषा की उन्नति को सब उन्नति का मूल बताया था। 'हिन्दी प्रदीप' के उद्घाटन उत्सव पर उन्होंने कहा था—

धन्य दिवस जो यह पुरो
हिन्दी—हेतु समाज

भारतेन्दु ने भाषा नीति पर ही राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द' का प्रतिकार किया। 'सितारे हिन्द की हिन्दी पगपती तो यह हिन्दी का आत्मघात होता। पर इस युग का यह हिन्दी आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन की एक संपृक्त धारा थी। सार सुधानिधि 'उचित वक्ता' और भारतमित्र' ने खुलकर इस आंदोलन में भाग लिया। 'सारसुधानिधि' की तो यही प्रतिज्ञा थी 'यथा साध्य देश प्रतिनिधि स्वरूप होकर कर्तव्य साधन में नियुक्त रहना' क्योंकि 'आर्यावर्त में हिन्दी भाषा का भी ऐसा कार्य कारणता सम्बन्ध है कि बिना मातृभाषा की उन्नति के साधारण देशोन्नति होना असम्भव है। ' उधर सन् १८८८ से ही भारतमित्र ने भी हिन्दी प्रचार और आंदोलन प्रारम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप मरठ जैसे उर्दू के शहर में भी देवनागरी प्रचारिणी सभा बन गई। इस शोध का उदाहरण बालमुकुन्द गुप्त का यह मत है जिसमें इंगलैंड में भी हिन्दी आंदोलन की सलाह दी गई। 'वैस्योपकारक' और 'सुदर्शन' के सम्पादक पं० माधव प्रसाद मिश्र जी भी हिन्दी और नागरी के प्रचार में लगे थे। 'सुदर्शन' में तो उन्होंने उपन्यास और कहानी लिखने को प्रेरित करने के लिए लोगों

का पुरस्कृत करने का निश्चय तक लिया। इस युग के हिन्दी आन्दोलन के निम्नोक्त रूप थे —

१—हिन्दी के प्रचार और प्रसार के साथ उसके परिष्कृत रूप का निर्माण और उसके मानक रूप की स्थापना का सत् प्रयत्न।

२—हिन्दी और उर्दू का विवाद।

३—खड़ी बोली और ब्रजभाषा का पारस्परिक विवाद।

४—नागरी लिपि की मान्यता और उसका प्रचार।

वस्तुतः हिन्दी के प्रचार का प्रमुख केन्द्र बना। भारतेन्दु के पश्चात् [illegible] की भांति [illegible] हिन्दी और नागरी का प्रश्न लिया गया था। बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस हिन्दी-आन्दोलन के अगुआ रहे। हिन्दी [illegible] स्थान तक ही दूरी हो गयी आगे और विचार नहीं [illegible] हिन्दी की उन्नति के लिए सतत [illegible] और [illegible] भावना अनिवार्य समझते थे। [illegible] की उन्नति नहीं होती है। भाषा की उन्नति के लिए [illegible] समाज में भाषा समाज के लिए पाठक चाहिए और पाठक [illegible] के लिए मातृभाषा पर अनन्य अनुराग [illegible] अनन्य भक्ति चाहिए। हिन्दी की उन्नति के लिए उन्होंने [illegible] कर [illegible] [illegible]। हिन्दी के विरोध में [illegible] (जनता [illegible]) ने हिन्दी [illegible] साहित्य के [illegible] में हिन्दी भाषा और [illegible] की [illegible] को [illegible] गुप्तजी ने उस [illegible] लिया। उन्होंने [illegible] लिपि [illegible] प्रचार [illegible] और [illegible] में [illegible] था। उसका [illegible] में [illegible] की [illegible] और उर्दू [illegible] का [illegible] और [illegible] भाषाओं में [illegible] (जो हिन्दी [illegible]) की [illegible] भावना के [illegible] हिन्दी के [illegible] का [illegible] था। [illegible] हिन्दी [illegible] का [illegible] रहे थे। [illegible] ने [illegible] हिन्दी भाषा का [illegible] के [illegible]

त्मक संगठन और ऐक्य का समर्थ और एकमात्र माध्यम मिला था। उससे भी पूर्व राजा राममोहनराय ने तो 'बंगदूत' पत्रिका का हिन्दी संस्करण भी निकालना चाहा था। 'भारतमित्र' की आर्थिक सहायता कलकत्ते के बड़े बाजार के बंगाली सज्जन बाबू नित्य गोपाल मल्लिक ने कई मास तक की थी। भारतमित्र प्रारम्भ से ही हिन्दी प्रचार का पत्र रहा। गुप्तजी ने अन्तिम शारदाचरण मित्र के 'देवनागर' नामक बहुभाषी पत्र का खूब साथ दिया। सर गुरुदास का नागरी प्रेम बहुत कुछ उन्हीं का परिणाम था। गुप्तजी अपने समय में समास के पीरीवत्त थे।

उनकी दृढ़ मान्यता थी कि हिन्दी और उर्दू दो पृथक भाषाएं नहीं हैं। उनका पारस्परिक विरोध मां-बेटियों का विरोध है कारण उर्दू हिन्दी से अलग नहीं है। गुप्तजी ने स्वयं इसका निर्वाह अपने लेखों में किया है। डा० नत्थन सिंह के शब्दों में उनकी भाषा में किसी किसी स्थान पर तो केवल अन्तर इतना ही है कि हिन्दी में लिखते समय उर्दू अथवा फारसी शब्दों के स्थान पर हिन्दी शब्द रख दिये गए हैं। 'उर्दू में आज विलायत से हिन्दुस्तान में कई बार तार दौड़ जा सकता है। कई एक घंटों में कलकत्ते से शिमला तक स्पेशल ट्रेन पार हो सकती है। यही वाक्य हिन्दी में भी गुप्तजी ने प्रायः ज्यों का त्यों ही रखा (पीछे मत फेंकिए शिवशम्भु का चिट्ठा) पं० झाबरमल्ल शर्मा के शब्दों में उस समय गुप्तजी ने भारतमित्र द्वारा बड़ी वीरता से डटकर नागरी हिन्दी विरोधियों के कुतर्कों का साधिकार उत्तर दिया था। उनकी बहुप्रशंसित 'उर्दू को उत्तर' कविता एवं उनके 'मौलवी का उर्स' नागरी और उर्दू उभय प्रचार मुसलमानी नाराजी आदि लेख इनके प्रमाण हैं। उनकी प्रसिद्ध निबन्ध उन्होंने पैसा अखबार के एक लेख के उत्तर में लिखा था। गुप्तजी कहते हैं—'कौन कहता है कि हिन्दी मुर्दा जबान है पैसा अखबार कहता है कि हिन्दी के बेटा स्पृष्ठ बोलने के कम हैं—हम कहते हैं हिन्दी अभी जीवित है। हिन्दी के कई अखबार उर्दू अखबार से भी अधिक बिकते हैं। भारतवर्ष में कहीं भी नागरी का विरोध होता गुप्तजी उसका मुंहतोड़ उत्तर देते। ब्रजभाषा और खड़ी बोली विवाद में भी उन्होंने हिस्सा लिया था। वे हिन्दी के एक रूप के समर्थक थे। यों भारतमित्र में गुप्तजी के आगमन से पूर्व ही खड़ी बोली में कविताएं छप गई थीं। वे स्वयं कविता करते थे। पर अंत ब्रजभाषा के रहे। वे सदा हिमायती ही रहे थे। (जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी)

गुप्तजी भाषा के धनी थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक ने स्वीकार किया था कि अपने युग में सबसे अच्छी हिन्दी वे ही लिखा करते थे।'' गुप्तजी ने भाषा का अद्भुत परिष्कार किया। प्रसादगुण सम्पन्नता के साथ साथ ही जो महत्व पर करारी चोट का सजग और सावधान हो कर करती थी पर उसमें कटुता या पाहन नहीं —(आचार्य रा० च० शुक्ल) उनकी विशेषता थी' रामचन्द्र वर्मा और प० किशोरी लाल गोस्वामी ने उन्हें अपना भाषा-गुरु माना है। हिन्दी बंगवासी के सम्पादक रहते समय ही उन्होंने भाषा परिष्कार का कार्य प्रारम्भ किया। प० अमृतलाल चक्रवर्ती ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि "हिन्दी बंगवासी में पूरे भाषा की काया पलट हो गई थी। उस समय के व्यक्तियों को भाषा के प्रतिनिधि इसलिए मानना पड़ता है कि तब तक हिन्दी के आधुनिक साहित्य का ढाँचा प्रायः उन लोगों के मस्तिष्क में ही था। हिन्दी बंगवासी के सम्पादकों की अपने को लाई और भाषा निर्माण की लड़ाई ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। प० बदरीनारायण चौधरी हिन्दी-बंगवासी को भाषा सम्बन्धी टकसाल कहा करते थे उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुन्द गुप्त की छाप के बिना नहीं निकलता था। हिन्दी बंगवासी के अनन्तर भारतमित्र के सम्पादन तक उनकी भाषा परिष्कार और निर्माण की यह साधना चलती रही। गुप्तजी का सम्पादन काल (कलकत्ते में) सम्वत् पौने-दस वर्षों का है। इस अल्प समय में भी उन्होंने जो कार्य किया वह उनकी अद्भुत शक्ति और प्रतिभा का परिचायक है।

गुप्तजी का यह सब कार्य ऐतिहासिक बन गया है। श्री वियोगी हरि ने कहा है कि उनका नाम याद आते ही "उस युग का समग्र स्मरण हो आता है" आज वह भाषा कहाँ वह शैली कहाँ ... कहीं नहीं आज वह ... और त्याग भी कहाँ वह मस्ती और भावना कहाँ। नवीन जो न देख हो सका था उनके सपना बना। आज हिन्दी उस पद पर प्रतिष्ठित है जिसका स्वप्न उन्होंने और उस युग के साहित्य मनस्वियों ने देखा था। हिन्दी की इस गौरव-गाथा में उनके बलिदान का महत्त्व भी कम नहीं है। स्वतन्त्रता के इस महान के गौरव स्तम्भ हैं—बाबू बालमुकुन्द गुप्त उनका जीवन व्यक्तित्व और कृतित्व।

श्रद्धा के ये सुमन और भावनाओं की ये पंखुड़ियां उन्हीं के कर्म-क्षेत्र भाव-क्षेत्र में उनके अनुसरण की शक्ति की प्रार्थना करने वाले उनके साहित्यिक अनुजों द्वारा आज अर्पित हैं —

हे भारत के भक्त भारती के गायक
हे व्रती महान।
समुद समर्पित श्री-चरणों में
मधुमय भाव सुमन अम्लान।

विद्याविनोद रसपूरित वाग्विलास
सम्पादन प्रथित भारतमित्रकीर्ति ।
स्मृत्वा परां हितमयीं हितसम्भृतवार्तां
विस्मर्यतां किमिव बालमुकुन्दगुप्त

( पं० श्री गिरिधर शर्मा )

• • •

# सन्दर्भ-निर्देश

१ दरभंगा नरेश की इच्छानुसार सन् १८८० लिखित 'अमृत पुत्र'
२ विद्यार्थी का पं० रामजीलाल शर्मा स्मारक
३ बाबू राधाकृष्ण दास—'हिन्दी सामयिक पत्रों का इतिहास'
४ डा० उदयभानु सिंह—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग
५ उपरिवत्
६ बाबू नवलकिशोर गुप्त के द्वारा—
७ पं० श्रीधर पाठक को लिखे पत्र से। बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृ० ४१
८ बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली
९ उपरिवत्—बंग 'उच्छे'—पृ० २१५
१० श्री नवलकिशोर गुप्त के व्यक्तिगत पत्र संग्रह से पं० झाबरमल शर्मा ने गुप्त
निबन्धावली में इस सन्दर्भ को उद्धृत किया है—पर कुछ पंक्तियाँ छोड़ कर
जिनमें गुप्तजी ने मुसलमानों का विरोध किया है—द्रष्टव्य पृ० १५० )
११ बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली—भाषा का प्रश्न—पृ० २०३
१२ टोरेन्स—'एम्पायर इन एशिया' में टी० मुनरो की जीवनी के मन्तव्य।
पृ० ४६६
१३ बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली—बनाम लार्ड कर्ज़न पृ० १८१
१४ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ—पृ० १५५
१५ धर्मयुग—३१ अक्टूबर १९६५
१६ पं० माधव मिश्र निबन्धमाला—पृ० १६
१७ हिन्दी प्रदीप—दिसम्बर १८८२—पृ० १३
१८ डा० कृष्णबिहारी मिश्र के ग्रन्थ से—कलकत्ता की हिन्दी पत्रकारिता :
उद्भव और विकास'
१९ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृ० १६६
२० भारतमित्र—वर्ष अंक १३—'हिन्दी मराठी-कोश'
२१ गुप्त निबन्धावली—पृ० १६३
२२ हिन्दी की उन्नति—भारतमित्र ६।४।१९०१
२३ उपरिवत्
२४ भारत की प्रजा—सन् १९०४—'भारतमित्र'
२५ गुप्त स्मारक ग्रन्थ—पृ०—५२
२६ उपरिवत्—श्यामसुन्दर दास का मन्तव्य
२७ हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० श्यामसुन्दर दास
२८ गुप्त स्मारक ग्रन्थ—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का मन्तव्य
२९ हरि—श्री वियोगी हरि का मन्तव्य

# गुप्तजी की भाषा और भाषाविषयक प्रतिपत्तियाँ

श्री सूर्यदेव शास्त्री

भाषावैज्ञानिक संदर्भ में श्री बालमुकुन्द गुप्त की हिन्दी भाषा-विषयक प्रतिपत्तियाँ दो दृष्टियों से विचार्य हैं। सर्वप्रथम उनके द्वारा विभिन्न भाषिक आयामों पर व्यक्त किये गये विचारों को हम अपने सामने परीक्षा और विश्लेषण के लिये रख सकते हैं। भाषा विषयक अपने विचारों को गुप्तजी ने 'हिन्दी भाषा की भूमिका', 'हिन्दी भाषा', 'ब्रज-भाषा और उर्दू', 'हिन्दी में बिन्दी', 'हिन्दी की उन्नति', 'भारत की भाषा', 'एक लिपि की जरूरत', 'देवनागरी अक्षर', 'हिन्दुस्तान में एक रस्मुलखत' आदि स्तम्भों और शीर्षकों से व्यक्त किया है।

इन समस्त विषयों पर व्यक्त किये गये उनके विचारों के निर्धारण में कई प्रकार की स्थितियाँ और सीमाएँ कार्य करती रही हैं। हिन्दी और उर्दू से निकटतया संबद्ध होने के कारण उन्होंने भाषा के विश्लेषणात्मक स्वरूप का तो परिचय दिया है किन्तु उनकी ऐतिहासिक परम्परा का वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन करने में वे असमर्थ रहे हैं।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और स्वरूप से संबद्ध उनके निम्नलिखित विचार विचार्य हैं —

'वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं ब्रज भाषा से वह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया'।

'यद्यपि हिन्दी की नींव बहुत दिनों से पड़ गई थी पर इसका जन्मकाल शाहजहाँ के समय से माना जाता है। मुगल सम्राट् शाहजहाँ के बसाये शाहजहानाबाद के बाजार में इसका जन्म हुआ।' गुप्त-निबन्धावली'—पृ० १०५

गुप्तजी के उपर्युक्त विचार तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होते। इस समय तक हिन्दी के नामकरण तथा उसके ऐतिहासिक रूप पर पर्याप्त मनन नहीं था। पश्चिमी हिन्दी में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के परिनिष्ठित होने के कारण दोनों को एक दूसरे से सहज भाव से स्वीकार कर अन्य अनेक भाव से देखने की यह प्रवृत्ति कई कारणों से उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम हिन्दी के साहित्यकार बहुत समय तक कविता में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली का साथ-साथ प्रयोग करते रहे। खड़ी बोली में ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप अधिक पुरातन होने के कारण उन लोगों के लिए ब्रज से खड़ी बोली का आविर्भाव मान लेना सहज था जो समभाषी समूह की ऐतिहासिक प्रक्रिया को नहीं समझते थे। वस्तुतः खड़ी बोली का ब्रज से सर्वथा निज रूप समकालिक होकर भी साहित्यिक प्रयोग में बाद का है। इसी कारण से कुछ लोग जिनमें गुप्तजी भी हैं खड़ी बोली का ब्रज से उत्पन्न होते देखते थे। इस भ्रान्त धारणा का दूसरा कारण नामकरण से सम्बद्ध है। कुछ लोग ब्रज को पड़ी बोली और उसके प्रतिकूल दिल्ली के आसपास की बोली को खड़ी बोली कहकर पुकारना इसलिए पसन्द करते थे कि उनके अनुसार ब्रज से दूसरी भाषा की उत्पत्ति हुई।

हिन्दी भाषा की भूमिका लिखते समय में भी गुप्तजी के विचार दोषपूर्ण हैं। उन्होंने ब्रजभाषा में फारसी अरबी तुर्की आदि भाषाओं के मिलने से हिन्दी का आविर्भाव माना है और उसी के बाद में उर्दू और हिन्दी इन दो रूपों में विकसित और विभक्त होना बताया है।

उनके अनुसार उर्दू शैली के प्रचार का मूल कारण हिन्दी का अरबी लिपि में लिखा जाना है। उर्दू के विकास और हिन्दी के निजी अस्तित्व के विकास में धार्मिक अलगाव के कारण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसी ग्रन्थ के पृष्ठ १०३ पर कहा है— "मुसलमान लोग अपनी धार्मिक भावना प्रधान में लिखने में मन्तव्य रखते न स्वाभाविक अथवा में अपनी बोली लिखा। पर दूसरों की बात है हिन्दुस्तानी के बहुत बातें उनके एक साथ अन्य रूप को उनके लिखने वाले पर कहा और उनके लिए रूप का उत्पत्ति करते।"

यहाँ गुप्तजी ने अरबी लिपि को मूल में धारणा माना है। वास्तव में हिन्दी के परिवार की अरबी लिपि न होने की इसका लिपि नहीं है।

# गुप्तजी की भाषा और भाषाविषयक प्रतिपत्तियाँ

श्री सूर्यदेव शास्त्री

भाषावैज्ञानिक सन्दर्भ में श्री बालमुकुन्द गुप्त की हिन्दी भाषा-विषयक प्रतिपत्तियाँ दो दृष्टियों से विचार्य हैं। सर्वप्रथम उनके द्वारा विभिन्न भाषिक आयामों पर व्यक्त किये गये विचारों को हम अपने सामने परीक्षा और विश्लेषण के लिए रख सकते हैं। भाषा विषयक अपने विचारों को गुप्तजी ने 'हिन्दी भाषा की भूमिका' 'हिन्दी भाषा' 'ब्रज भाषा और उर्दू' 'हिन्दी में बिन्दी' 'हिन्दी की उत्पत्ति' 'भारत की भाषा' 'एक लिपि की जरूरत' 'देवनागरी प्रचार' 'हिन्दुस्तान में एकरस्मुलखत' आदि स्तम्भों और शीर्षकों में व्यक्त किया है।

इन समस्त विषयों पर व्यक्त किये गये उनके विचारों के निर्धारण में कई प्रकार की स्थितियाँ और सीमाएँ कार्य करती रही हैं। हिन्दी और उर्दू से निकटतया संबद्ध होने के कारण उन्होंने भाषा के विश्लेषणात्मक स्वरूप का तो परिचय दिया है किन्तु उनकी ऐतिहासिक परम्परा का वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन करने में वे असमर्थ रहे हैं।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और स्वरूप से संबद्ध उनके निम्नलिखित विचार विचार्य हैं —

'वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं ब्रज भाषा से वह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया'।

'यद्यपि हिन्दी की नींव बहुत दिनों से पड़ गई थी पर इसका जन्मकाल शाहजहाँ के समय में माना जाता है। मुगल सम्राट् शाहजहाँ के बसाये शाह बाजार में इसका जन्म हुआ। गुप्त निबन्धावली'—पृ १५

मुन्शी जी के उपर्युक्त विचार तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होते। इस समय तक हिन्दी के नामकरण तथा उसके ऐतिहासिक रूप पर पर्याप्त मनन नहीं हुआ था। सम्भवतः हिन्दी में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के परिवर्तित होने के कारण दोनों को एक दूसरे से सहज भाव से न जोड़ कर [illegible] भाव से देखने की यह प्रवृत्ति गई धारणा से उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम हिन्दी के साहित्यकार बहुत समय तक कविता में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग करते रहे। खड़ी बोली में ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप अधिक पुराना होने के कारण उन लोगों के लिए ब्रज से खड़ी बोली का आविर्भाव मान लेना सहज था। वे समकालीन समूह की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को नहीं समझते थे। वस्तुतः खड़ी बोली का ब्रज से सर्वथा भिन्न रूप समकालिक होकर भी साहित्यिक प्रयोग में बाद का है। इसी कारण से कुछ लोग जिनमें मुन्शी जी भी हैं खड़ी बोली को ब्रज से उत्पन्न मान लेते थे। इस भ्रान्त धारणा का दूसरा कारण नामकरण में भी है। कुछ लोग ब्रज को खड़ी बोली और उसके प्रतिरूप हिन्दी के नाम साम्य को दोनों को खड़ी बोली कहकर पुकारना इसलिए पसन्द करते थे कि उनके अनुसार एक से दूसरी भाषा की उत्पत्ति हुई।

हिन्दी भाषा की भूमिका शीर्षक लेख में भी मुन्शी जी के विचार स्पष्ट हैं। उन्होंने ब्रजभाषा से फारसी अरबी तुर्की आदि भाषाओं के मिश्रण से हिन्दी का आविर्भाव माना है और इस ही काल में उर्दू और हिन्दी इन दो रूपों में विकसित और विभक्त होना बताया है।

उनके अनुसार उर्दू शैली के पृथक् होने का मुख्य कारण हिन्दी का अरबी लिपि में लिखा जाना है। उर्दू के विकास और हिन्दी के निजी अस्तित्व के विकास में धार्मिक प्रभाव के [illegible] का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है—"मुसलमान लोग अपना [illegible] में लिखते थे। मुसलमानों ने [illegible] फारसी अक्षरों में अपनी भाषा लिखी। [illegible] हिन्दुओं के [illegible] [illegible] और उनके [illegible] [illegible] हुआ।

इसी मुन्शी जी ने अरबी लिपि को [illegible] माना है। [illegible] विचार का आधार [illegible] नहीं है।

इस तरह हिन्दी की उत्पत्ति और उर्दू से उसके सम्बन्ध पर समुचित प्रकाश न डाल कर भी गुप्तजी ने प्रारम्भिक वर्षों में हिन्दी की लिपिजन्य बाधाओं को सही रूप में प्रस्तुत किया है। इस परिणति का मूल कारण लेखकों की भिन्नता नहीं तत्कालीन सरकारी नीति भी थी। गुप्तजी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है कि यह मूलतः शासकीय दृष्टिकोण का परिणाम था।

आगे चल कर गुप्तजी ने यह स्पष्ट किया है कि 'इस समय हिन्दी के दो रूप हैं। एक उर्दू दूसरा हिन्दी। दोनों में शब्दों ही का नहीं लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह न होता तो दोनों ही रूप मिल कर एक हो जाते'। 'हिन्दी भाषा की भूमिका' पृ० ११०। लिपि और शब्दों के भेद के कारण खड़ी बोली के दो रूपों का विकास दिखाना वैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त है।

हिन्दी भाषा' शीर्षक अपने दूसरे लेख में गुप्तजी ने इन्हीं विचारों का दूसरे रूप में प्रतिपादन किया है और उससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी कहने से उनका तात्पर्य खड़ी बोली से ही नहीं अपितु उन समस्त भाषा-रूपों से है जिन्हें हम अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रश्रय देते हैं। यही कारण है कि उन्होंने पृथ्वीराज रासो' के भाषा-रूप से हिन्दी के खड़ी बोली रूप को विकसित होते दिखाया है।

इसी लेख में उन्होंने शब्दों की प्रायोगिक उपयोगिता पर भी अपने कुछ सटीक विचार व्यक्त किये हैं जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अति निकट हैं। निश्चय ही हर भाषा के शब्द अपनी प्रकृति में कुछ ऐसी विशेषताओं को समाहृत किये रहते हैं जिनकी व्यंजना या अर्थसिद्धि उनके समान पर्याय वाले अन्य शब्दों के माध्यम से नहीं हो सकती। यही कारण है कि गोथे आदि साहित्यिक चिन्तकों के साथ ही डाइमाण्ड रीडे मास्टर्स मोर्फ आदि आधुनिक भाषावैज्ञानिक यह मानते हैं कि सभी शब्द अनूद्य नहीं हो सकते।

इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए गुप्तजी हिन्दी भाषा' विषयक लेख (पृ० ११७) में कहते हैं— मकान खेत मुसलमान याकूब आदि अरबी के शब्द हैं। पाक्रूर, कमान रूम पादृ मानजादे कुरान तेग तेज आदि फारसी के और उजबक तुर्की का शब्द है। इन में कई एक नाम हैं, जिनका अनुवाद कुछ हो ही नहीं सकता। कई शब्द ऐसे हैं कि

उनका अनुवाद किया जाय तो कठिन है पंक्तियों सब जानें तो भी अर्थ स्पष्ट न हो। मुल्तान को यदि यहाँ कवि राजा महाराजा का उपाधि मिलता तो यह अर्थ कभी सिद्ध नहीं होता या मुल्तान या मुलतान निगम न होता है। क्योंकि मुल्तान शहर में इसकी मुल्तानों का ठाठ था तो मौजूद है।

इस स्थल पर भी गुप्तजी कभी-कभी भ्रम के शिकार हो जाते हैं। इसका प्रमाण को शब्दरा में न जोड़ कर उद्धरण या उन पारसी में आता है यह मनगढ़ंत में हिन्दी के ऐतिहासिक विकास सूत्र का न जोड़ पाने का परिणाम है।

चन्द की भाषा का मनगढ़ंत प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के नाम रूपों में दिखाकर बाद में भाषा-रूप में ब्रज भाषा को उत्पन्न होते दिखाने की चेष्टा कर उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना निर्णय दे दिया कहा है बहुत सम्भव चन्द ने तीनों भाषाओं को मिलाकर खिचड़ी बनाया है (११५)। बाद में वे पुनः अपने उसी विचारों की पुनरावृत्ति करते हुए कहते हैं राजस्थान के कवि चन्द ने इन दोनों नमूनों की भाषा में कविता करते हैं। शुद्ध ब्रजभाषा का प्रभाव उन पर बहुत ही अल्प हुआ। (पृ० ११६)

यहाँ यह स्पष्ट नहीं होता कि आखिर गुप्तजी का अभिप्राय क्या है। एक ओर तो चन्द की भाषा में ऊपर उद्धृत ब्रजभाषा का विकसित होना बताया है दूसरी ओर वे कहते हैं कि शुद्ध ब्रजभाषा का प्रभाव उन पर बहुत ही अल्प हुआ। निश्चय ही उनके इस कथन में यही यह स्पष्ट है कि ब्रज भाषा अपना भिन्न प्रभावी अस्तित्व रखती थी।

सम्प्रदाय और धार्मिक क्षेत्र की भाषा होने के कारण एक समय था जब दूर उत्तर भारतीय प्रान्त पश्चिमी भाषा में प्रभावित ब्रजभाषा में भक्ति के पद मिलता था। यह ब्रजभाषा भगवान का ही शब्द इन भक्तों—भक्तों के लिये खास ध्यान की भाषा न होकर सीखी हुई भाषा थी। बंगाल बिहार गुजरात में जब कविता की बाढ़ बड़ी प्रबलता की या वहाँ ब्रजभाषा सीख कर भक्ति के पदों की रचना का काम कर रहे थे। बंगला की ब्रजबुली साहित्य इसी का परिणाम है।

गुप्तजी ने इस स्वरूप और प्रवृत्ति को अच्छी तरह नहीं समझा है। वे कहना चाहते हैं कि एक समय ब्रजभाषा पूरे भारत को उसी प्रकार भाषा थी

जैसा समझते। पर हिन्दी के कवि अपनी ब्रजभाषा ही में कविता करते रहे। और क्यों न करते ब्रजभाषा ही तो उस समय भारत की भाषा थी। यहाँ तक कि बङ्गदेश के प्राचीन कवियों की कविता भी ब्रजभाषा ही में है। अब थोड़े दिनों से आधुनिक बङ्गभाषा में कविता होने लगी है।

इस लेख में भाषा की समस्या के विवेचन से अधिक साहित्य की व्याख्या का प्रयास ही किया गया है।

अपने ब्रजभाषा और उर्दू नामक लेख में गुप्तजी ने सौदा की कविताओं से उद्धरण प्रस्तुत करके यह बताने की चेष्टा की है कि किन प्रक्रियाओं से उर्दू ब्रजभाषा से विकसित हुई। कुछ शब्दों को अरबी-फारसी का तोड़-मरोड़ कहे कर ये जाने बताते हैं— दिल्ली आगरे के हिन्दुओं के घरों में यह शब्द बोले जाते हैं। पर मुसलमान कम बोलते हैं और लिखने में सब गँवारी समझे जाते हैं। (पृ० १८१)

इसी तरह बिहारी भाषा में मागधी से उत्पन्न होने के कारण पश्चिमी हिन्दी के दन्त्य 'स' की जगह तालव्य श के के प्रयोग को उन्होंने कैथी लिपि की देन बताना चाहा है। वे कहते हैं— यदि यह लोग देवनागरी अक्षर लिखें तो उनको बहुत लाभ है। 'किस' की जगह 'कीश' और उस की जगह उश' न लिखें। (गु०नि० पृ० १९४)।

इस प्रकार की भाषा और लिपि विषयक उनकी धारणाओं के मूल में तत्कालीन भाषिक अध्ययन का अभाव और भाषाविज्ञान के तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक विधियों की अविकसित अवस्था है।

लिपि के संबन्ध में गुप्तजी ने एक लिपि की आवश्यकता की ओर लोगों को जिस प्रकार आकर्षित करना चाहा था वह बड़ा ही उपयुक्त कहा जा सकता है।

नागरी लिपि और उसके सार्वत्रिक उपयोग की विशेषताओं को गुप्तजी ने अपने कई लेखों—(भारत की भाषा 'एक लिपि की जरूरत' हिन्दुस्तान में एक रस्मुलखत आदि)—में व्यक्त किया है। इनमें उनके द्वारा व्यक्त किये गये विचार इस बात की पुष्टि अवश्य करते हैं कि भारतीय भाषाओं की पारस्परिक दूरी एक लिपि के प्रयोग से कम की जा सकती है।

## गुप्तजी की भाषा

गुप्तजी की भाषा का सबसे महत्वपूर्ण गुण उसकी प्रवाहमयता है। भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी के काल तक की हिन्दी भाषा पाने वाले से लेकर और व्यापक भाषावैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा रखती है। हम इस युग को हिन्दी के साहित्यिक नागरिक रूप के निर्माण का युग कह सकते हैं। यह सम्भवतः का [illegible] में युग तब तक युग है जब हिन्दी अन्तर्प्रान्तीय और आन्तरिक प्रयोग की दिशा में आगे बढ़ रही थी और इसमें विभिन्न भाषाओं और बोलियों के तत्त्वों का समाधान हो रहा था। इस काल की हिन्दी के [illegible] । [illegible] सामने आते हैं किन्तु हम प्रायोगिक और आकस्मिक भाषाओं [illegible] के सकते हैं। यहाँ हम आकस्मिक (Casual) भाषा के विषय में ही अपने विचार व्यक्त करते हैं क्योंकि साहित्य का महत्व भाषा के [illegible] इसी रूप में है।

इस भाषा के [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] हम अध्ययन की सुविधा के लिए [illegible] प्रभावित [illegible] उनको प्रभावित और [illegible] प्रभावित की श्रेणी में रख कर सकते हैं। गुप्तजी में [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] भाषा [illegible] का मर्यादित प्रभाव है पर हम उनकी भाषा की [illegible] की दृष्टि से अलग व्याख्या कर सकते हैं।

[illegible] [illegible] के साथ ही [illegible] का भी प्रयोग [illegible] में किया है। [illegible] हम उनकी भाषाविषयक [illegible] का परिणाम कह सकते हैं। [illegible] के [illegible] का [illegible] अधिकाधिक [illegible] [illegible] से [illegible] किया है क्योंकि लिखने के समय [illegible] [illegible] [illegible] के विशिष्ट [illegible] [illegible] ध्यान में रखा जाता रहा है।

[illegible] और [illegible] के [illegible] भी [illegible] [illegible] प्रयोग में आते हैं किन्तु हम [illegible] साहित्य की भाषा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के उद्देश्य से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

जब स्वाभाविक होकर आते हैं तभी किसी भाषा की ऐश्वर्यसिद्धि होती है। इसमें जो तत्व अपनी मूल भाषा के व्याकरण और ध्वनि-रूप को ही बनाये रखते हैं उनसे किसी भाषा की समृद्धि नहीं बढ़ती। कभी इस प्रकार के मिश्रण से भाषा में एक प्रकार का तनाव उत्पन्न होता है और अविकसित भाषेतर तत्व अनेक भाषा के तत्वों को भी अपने अनुरूप बदल कर उनमें अवांछित विकार उत्पन्न कर देते हैं। गुप्तजी ने भी भाषा की इस प्रवृत्ति को पहचान लिया था और इसी तथ्य को ध्यान में रख कर उन्होंने हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुरूप उन्हें परिवर्तित करके प्रयुक्त किया।

सर्वप्रथम इस दृष्टि से हम उनके द्वारा भाषिक निर्माणक तत्वों (formative elements) पर विचार करें जिनके माध्यम से उन्होंने कई शब्द गढ़ और प्रयुक्त किये हैं।

हिन्दी के कई एक तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्होंने अरबी फारसी उपसर्गों और प्रत्ययों के योग से किया है। नीचे हम कुछ ऐसे शब्द प्रस्तुत कर रहे हैं जो उनके द्वारा प्रयुक्त हुए हैं—

बे-नाक, पुर इन्साफ, मरम-ख्वार, पोशाक, साजमजी आदि। इन शब्दों में से प्रत्येक हिन्दी या संस्कृत के शब्दों साथ अरबी-फारसी के रूप-विधान के उदाहरण हैं।

ऐसे जो शब्दों के गलत उच्चारण और विभिन्न भारतीय भाषाओं की प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने पद्यों के शब्दों के उन्हीं रूपों का प्रयोग किया है जो हिन्दीकृत या भारतीय भाषा के लिए स्वाभाविक हो गये हैं।

स्वरभुक्ति और उपमृत स्वरागम (Prothetic vowel) की प्रवृत्ति हमारी लोक भाषाओं और पंजाबी आदि विभिन्न भाषाओं की देन है। पंजाब का प्रभाव होने के कारण गुप्तजी के ये प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं। कोष्ठक में उनका मौलिक रूप दिया गया है।

इस्टेशन (स्टेशन) इस्कूल (स्कूल)
स्वर भुक्ति—सपरस (स्पर्श) स्वारथ (स्वार्थ) धरम (धर्म) करम (कर्म) आदि।

अर्धस्वर यानी अन्तस्थ (Semi vowel) ... स्वर रूप में भी

बरतन के कई उदाहरण मात्र प्रयोग के कारण गुप्तजी में मिलते हैं उदाहरणार्थ—

बिवहार—(व्यवहार) मुआरथ (स्वार्थ)

कहीं-कहीं अब या प्राकृत [illegible] भाषा के साथ हिन्दी या संस्कृत के शब्दों का सामासिक रूप निर्माण भी उन्होंने किया है। वारनवाहिनी वारन-वाहिनी में।

अब भी शब्द के साथ भारतीय मातृभाषाओं या हिन्दी के विभिन्न-विभिन्न [illegible] के उदाहरण के रूप में हम निम्नलिखित शब्द रखे जा सकते हैं जिनका प्रयोग गुप्तजी ने किया है। अपनी [illegible] में ब्रजभाषा का परिमार्जित रूप— [illegible] आदि।

पनहारिनी (पनहारिन) माड़ (मांड या पानी में [illegible]) [illegible] (काम) गोव [illegible] (मक्खी मोड़ने वाला [illegible]) [illegible] (मारवाड़ी या [illegible]) [illegible] (बुलाना करना) [illegible] (रन में [illegible] मैदान [illegible]) [illegible] करनेवाला मात्र का एक साधन। [illegible] (घोड़ा में समय-समय पर [illegible]) वाली सामूहिक [illegible] आदि) को (कर) [illegible] (उनमन) [illegible] आदि मातृभाषा के [illegible] शब्दों का प्रयोग [illegible] गुप्तजी ने कई एक शब्द प्रयोग [illegible] और [illegible] है जिनका वास्तविक ज्ञान किसी [illegible] विशेष के [illegible] और का सका है। [illegible] प्रयुक्त कर रहे हैं

[illegible] (दौड़ना) [illegible] (नाचना) [illegible] (रूप मुँह[illegible]) [illegible] (नजर या अपहरण) [illegible] (नमस्कार करने वाला [illegible]) [illegible] (एक [illegible]) [illegible] (समय के साथ [illegible]) [illegible] (एक [illegible]) [illegible] (बैठना) [illegible] (कुल्हाड़) [illegible] (रात काना) [illegible] (गाने का [illegible]) [illegible] है।

आराम को हराम बनाइए (पृ० १९६)। रस भई आज—लम्बी चोटी चिमटक-बिन्दु (पृ० १९६) तबहु चोटी विसमाके पासे ढबोला पायके पाटि भाटि।

इन सारी विकृतियों और अस्वाभाविकताओं को हम गुप्तजी की दुर्बलता नहीं कह सकते। उनका जीवन पत्रकारिता की उस विधा से सबद्ध था जिसे रोज या हफ्ते में एक बार उस कागज में लिखना पड़ता है जो पढ़ते लिखते भर हैं। ऐसे में उन्हें उन दोनों तत्वों के प्रति अवश्य ही जागरूक रहना था जिससे विभिन्न भाषिक तत्वों के संस्कार उन तक आते थे और पुनः उनका संवेग संवर जनसमूह की ओर लौट जाते थे। निश्चय ही दोनों बिन्दुओं पर उनके प्रबुद्ध भारत के शिशु मन का ही दर्शन होना स्वाभाविक था।

प्रवाहमयता और वातावरणगामी भाषिक चित्र-सृष्टि गुप्तजी के प्रधान मनोभाषिक (Psycho Linguistir) गुण हैं जिनसम्मुखी भाषा एक अंग्रेजी ही प्रयुक्त कर सकता है। उनकी भाषा के ये दो बड़े गुण हमें उनके प्रति श्रद्धानत कर देते हैं।

# भाषादानी की सनदात

आजकल दवाओं के विज्ञापन इस बात भरने विज्ञापनों के साथ बहुत लोगों के सार्टिफिकेट भी छपा करते हैं। इनमें अधिक सार्टिफिकेट उनके मित्रों और पृष्ठपोषकों के होते हैं। जिनके सार्टिफिकेट का पता लगाया जाय तो वह उनकी चरखानी भाई भतीजा भतपालिता और भवपिता तक के निकल आते हैं। हम देखते हैं कि इसका रोग छोटे-मोटे सब के विज्ञापनजीवी को भी अम्बर लगा है। करवटे की भरती में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस बात के सार्टिफिकेट छापे हैं कि भारत भाषा और व्याकरण का झगड़ा काला [illegible] बच्चा था। इससे जान पड़ता है आपको विज्ञापन का पता [illegible] नहीं चला पश्चात् [illegible] इन बातों की जरूरत पड़ी। अच्छा अब उनकी मनसा की बात चुपचुप सुनो—यादव। सार्टिफिकेटों के साथ साथ [illegible] ने भी अपने सार्टिफिकेट जोड़ दिये हैं इस भय से कि कहीं इस नामको विज्ञापन को अच्छी तरह भी द्विवेदीजी की भाँति ऐंठ न जाय।

पण्डित कमलाकिशोर त्रिपाठी एम० ए० लिखते हैं —

Your article on "Bhasha and Vyakarana" is the best of its kind. It is very interesting and instructive. I wish you would write one or two papers more on similar lines.

द्विवेदीजी को पत्र सार्टिफिकेट एक एम० ए० ने लिखा [illegible] का यह [illegible] जिसके [illegible] में लिखा हो [illegible] और [illegible] आदि के विज्ञापन बहुत अच्छी [illegible] रहे हैं।

इसके भीतर [illegible] के [illegible] लिखा। जब देर भर जाकर हम आपको आशीर्वाद देते हैं चिरंजीवी [illegible]।

[illegible]

[illegible]।

पं. गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीजी ने आपको लिखा है— "नवम्बर की सरस्वती में व्याकरण विषयक आपका लेख बहुत अच्छा निकला है।

पर आपने आत्माराम को यों लिखा आत्माराम महाशयकी आक्षेप करने की शैली सहसा शिष्टजन प्रथानुमोदित नहीं है। बेचारे सच्चे आदमी हैं जैसा समझ में आया वैसा लिख दिया।

बाबू काशीप्रसादजी ने द्विवेदीजी के लिये लिखा है 'भाषा और व्याकरण बाला लेख बहुत ही अच्छा है। आज हमने उसे पढ़ा। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखक को जैसा लिखना चाहिए था आपने वैसा ही लिखा है।

यह सार्टीफिकेट पढ़कर एक लड़के की बात याद आई जो कहा करता कि हमारे गुरुजी सी बराऊ किसी के पास नहीं। आप आत्माराम को भी कुछ सार्टीफिकेट देते थे पर लिख लिखाकर उस पर लकीर फेर दी। और इसके अभाव में बाबू गोकुलानन्द प्रसाद महोदय के पत्र से कुछ पंक्तियाँ नकल कर दी जाती हैं— 'भारतमित्र में हिन्दी भाषा की 'अनस्थिरता' विषयक लगातार लेखके लिए आपका समस्त हिन्दी संसार कृतज्ञ रहेगा। आप हिन्दी गद्य को धर्म्म की भाँति कुछ पण्डितों की स्वकल्पित पद्धति से मुक्त कराना चाहते हैं।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा द्विवेदी जी को नासम्बर से लिखते हैं यह बकौल द्विवेदी जीके संस्कृत और फारसी के अच्छे विद्वान हैं—"भाषा और व्याकरण को मैंने कई बार पढ़ा। मैंने उसकी प्रत्येक बात अपने मतके अनुकूल पाई। यही नहीं किन्तु आपके लेखका प्रत्युत्तर मुझे एसा मोहित कर लेता है कि उसके प्रतिकूल समझना ही नहीं उसमें कही गई बात मुझे अपनी ही मालूम होने लगती है। लेख बहुत ही उपादेय और हृदयग्राही है। इस प्रकार के लेख ही हिन्दी को उन्नत करेंगे। मसखरी लोगों की बात पर ध्यान न दिया कीजिये।

सार्टीफिकेट अच्छा है और हमीम द्विवेदीजी ने शायद प्रधिक दूर में छापा है। पर राम आत्माराम की समझमें इस सनददाता से द्विवेदीजी की खिदमत में कुछ गुस्ताखी हुई है। यह तो केवल संस्कृत और फारसी जानते हैं फिर उनका मगज और द्विवेदीजी का मगज बराबर कैसे हो गया? द्विवेदीजी स्वयं कहते हैं कि यह सब बातें उनके दमाग में फरांस इङ्गलेण्ड अमरिका

आर्ग म मा॰ मैक्समूलर और ह्विटन की पुस्तकें म आई और एही यही
पण्डित मनीराम विद्यानुराग एम॰ ए॰ के भाषा विज्ञान के बमला मगा
की पढ़कर आई। आपके जानकारी वारोप्युनियन साहब बोर आपके
इन सबमें बारे है अर्थात संस्कृत और फारसी का ही के ज्ञान है। उनका
और द्विवेदी का स्थान बराबर कैसे हो सकता है?

इसके बाद म हम एक एस सज्जन की चिट्ठी म कुछ पंक्तियाँ नकल कर
रहे है जो वे गुप्त है संस्कृत हिन्दी उर्दू फारसी और कितनी ही भाषाओं के
ज्ञाता है कई भाषाओं में जिनकी पद्यमय अच्छी अच्छी रचनायें है।
उन्होंने अपना नाम प्रकट कर देने के लिए रोका नहीं पर नवम्बर म
बयान के लिये उनका नाम प्रकाशित नहीं किया जाता। वह लिखते है—
"बाबू आत्माराम के लेख बहुत उचित हुए है। सावधानी की सीमा म
यह बात बाहर नहीं निकले। पण्डितजी के पक्षवाले इस नियम के पालन
नहीं। वह सवाल पत्र पाम्पो के जवाब सब रमना को बहादुरी समझते है।
कुछ लोगों ने हिन्दी लिखने में मनुष्यतापूर्वक दुर्नाम की सराहनीय कुछ की
प्रार्थना करते है।

पण्डित श्रीधर पाठक ने द्विवेदी जी को अंग्रेजी में लिखा है।

I have perused with much pleasure and interest your article on भाषा and व्याकरण, in this month s issue of (the) "Saraswati" in the greater portions of which I entirely agree with you. There are a few places where I differ from you.

पाण्डेयजी की इस बात म द्विवेदीजी पूरे सम्मत नहीं क्योंकि पाण्डेय जी
जी के लेख म पूरे सहमत नहीं। और पाण्डेयजी ने आत्माराम को जो लिखा
है वह भी सुनिए—

द्विवेदी की आलोचना इतनी कठोर न होनी चाहिए थी। फिर लिखा
है— द्विवेदी ने आत्माराम को क्या कुछ नहीं कहा है न जाने क्या
क्या लिखा है। मैंने उनका इसपर ध्यान दिलाया है कुछ लोग यह भी
न दर्शित करना चाहते है।

# टिप्पण ३

मई की सरस्वती में सम्पादक महाशय ने दो बातों का जिक्र किया है जिन पर हैदराबाद के निज़ाम और उनके प्रधान मंत्री की प्रशंसा लिखी गई है। ऐसी प्रशंसाओं की नकल करके सम्पादक महाशय लिखते हैं—"यह मजमून हमने जिस किताब से नकल किया है वह मराठी में है। मराठी लोग फ़ारसी कम जानते हैं इसलिए सम्भव है कि उनसे गलती हो गई हो। मतलब यह कि यदि ऊपर लिखी इबारतों में भूल हो तो उसके ज़िम्मेदार सरस्वती सम्पादक नहीं महाराष्ट्र भाषा है। महाराष्ट्र भाषा की बातों को 'भाव और पद' लिखने के ज़िम्मेदार सरस्वती सम्पादक हैं, केवल उनकी अनभिज्ञता के ज़िम्मेदार नहीं। और हम आशा करते हैं कि मईम की सरस्वती के एक नोट के जो वह अवश्य ज़िम्मेदार होंगे वो इस प्रकार है— एक फ़ारसी कवि किसी से कहता है—

याददारी वक्ते ज़ादने तू<br>
हमा ख़न्दाँ बूदन्द तू गिरियाँ<br>
आँचुनाँ ज़ी कि वक्ते मुर्दने तू<br>
हमा गिरियाँ शवन्द तू ख़न्दाँ

अर्थात् तुझे याद है कि जिस समय तू पैदा हुआ था तू रोता था और सब हँसते थे। अब तुम मुनासिब है कि तू इस तरह बसर कर कि तेरे मरने के बाद सब रोवें और तू हँसे। ... ... ...

फ़ारसी कविता के ऊपर वाले चरण पढ़ इस प्रकार हैं—

याददारी वक्ते ज़ादन तू<br>
ख़न्दाँ ... तू गिरियाँ।